महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित

तत्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत

सर्वनिर्णयप्रकरणकी

व्रजभाषाटीका

टीकाकार:गोलोकवासी सांचोरा श्रीगोकुलदासजी

प्रकाशक:

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट,

कंसारा बजार, मांडवी,

जि.कच्छ, गुजरात.

३७० ४६५.

☎Off.Ho.02834-21306, 20770.

Email: gosharad@ rediffmail.com

सम्पादक:

गोस्वामी शरद् श्रीअनिरुद्धलालजी.

प्रथम संस्करण:

वि.सं.२०५७

प्रति:२०००

मूल्य:

राज संस्करण: रु.१००.

साधारण: रु.८०.

मुद्रक:

सम्पादकीय

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि

ह्नभगवद्गीता

ज्ञान रहित, अश्रद्धावान् तथा शङ्काशील मनुष्यको विनाश होय हे. अतः शास्त्रकी आज्ञानुकुं जानिके कर्म करिवो चहिये. क्योंके कहा करनो तथा कहा नहीं करनो यामें शास्त्रही केवल प्रमाण हे.

शास्त्रम् अवगत्य मनोवग्देहैः कृष्णः सेव्यः

ह्नतत्व.निब.शास्त्रा.प्र.

भगवच्छास्त्रके अर्थ-तात्पर्यको यथार्थ निर्धारण करिके मन-वाणी-देहसों श्रीकृष्णकी सेवा करनी चहिये.

अज्ञान, अश्रद्धा तथा संशय ये तीनों एक दूसरेसुं एसे प्रकारसुं जुडे भये हें के कोनके कारण कोन उत्पन्न होत हे ये निश्चय नहीं होत हे. अर्थात् अज्ञानी मनुष्यमें अश्रद्धा तथा संशय अवश्य ही होवे हे. या ही प्रकार जा मनुष्यमें श्रद्धाको अभाव होयगो वो ज्ञानप्राप्तिके अर्थ प्रयत्न नहीं ही करतो होयगो. जब ज्ञानार्थ यत्न नहीं होयगो तब वो सन्देह रहित कहांसुं होयगो और, संशय तो अज्ञान तथा अश्रद्धा को ही परिणाम होवे हे ये निर्विवाद सत्य हे. या उपरसुं फलित होवे हे के श्रेयसाधनामें प्रवृत्त साधककी साधना [क]अज्ञान, [ख]अश्रद्धा तथा [ग]संशय इन तीन अथवा इन तीनमेंसुं कोई एक दुर्गुणके कारण विफल हो सके हे. यासोंही भगवान् तथा श्रीआचार्यचरणन् नें उपर्युक्त समस्याके समाधानरूपेण शास्त्र पढो, शास्त्र समजो तथा शास्त्रानुसार आचरण करो एसी स्पष्ट आज्ञा उक्त वचनन्मेंदीहे.

क.अज्ञानकुं तीन प्रकारसों समुज्यो जा सके हे. १.ज्ञानको सर्वथा अभाव, २.अल्प मात्रामें ज्ञान होनो तथा ३.अन्यथाज्ञान अथवा उलटो ज्ञान होनो.

ख.सत्यके स्वीकारकुं 'श्रद्धा' कह्यो जाय हे. अतएव सत्यके अस्वीकार, अल्पस्वीकार अथवा विरोध कुं 'अश्रद्धा' समुझनी चहिये. अश्रद्धा भी पुनः तीन स्तरकी होय सके हे १.मनसों अश्रद्धा २.वचनसों अश्रद्धा तथा ३.कर्मसों अश्रद्धा.

ग.कोई एक विषयके सम्बन्धमें बुद्धिमें परस्पर असङ्गत बिचार आयवेसों होयवे वारो अनिश्चय ही 'संशय' कह्यो जाय हे.

अज्ञान, अश्रद्धा अथवा संशय के कारण व्यक्तिको नाश केसे होवे हे वाको स्पष्ट निदर्शन भारतीय इतिहासमें अभिमन्यु, अश्वत्थामा, कर्ण, शिशुपाल, धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोणाचार्य, भस्मासुर आदिके चरित्रमें देख्यो जा सके हे.

अभिमन्युकुं चक्रव्यूहमें प्रवेश करिवेको ज्ञान हतो परन्तु चक्रव्यूहमेंसों बहार आयवेको ज्ञान वाकुं नहीं हतो. या अज्ञानके फलस्वरूप अपार शक्तिसम्पन्न होयवे पर हु वो असमय वीरगतिकों प्राप्त भयो.

अश्वत्थामाकुं ब्रह्मास्त्र छोडिवेको ज्ञान हतो परन्तु वाको वारण करिवेका ज्ञान नहीं हतो. या अज्ञानके परिणामस्वरूप वे दिव्यमणिविहीन तथा भगवान् श्रीकृष्णसों शापित भये.

कर्णने ब्रह्मास्त्रको ज्ञान श्रीपरशुरामसों प्राप्त कियो हतो. वो ज्ञान, परन्तु, असत्य बोलिके प्राप्त भयो होयवेसुं शापित हतो. अयोग्यकुं विद्याको दान भयो हे एसो बोध होयवे पर श्रीपरशुरामजीने कर्णकुं शाप दियो हतो के प्रयोगके अवसर पर वाकी विद्या विस्मृत हो जायेगी.

ये अल्पज्ञान तथा अज्ञान के कारण आयवे वारे परिणामके निदर्शनार्थ दिये गये दृष्टान्त हें. अब अन्यथाज्ञानको दृष्टान्त देखें.

शिशुपाल अन्यथाज्ञान वारो हतो. युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें भगवान् श्रीकृष्णकों सर्वश्रेष्ठ मानीके सर्व सभासदन्ने जब

आपकी अग्रपूजा कीनी तब शिशुपालसों वा सह्यो नहीं गयो. श्रीकृष्णकुं परब्रह्म मानिवेकी कथा तो दूर रही, आपकुं नरश्रेष्ठ मानिवो हु वाकुं स्वीकार्य नही हतो. सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण विषयक अन्यथाज्ञानने वाको नाश कर्यो.

''धर्म कहा हे वो में जानुं हुं परि धर्मानुसार आचरण नाहीं करि सकत हों. अधर्म कहा हे वो हु में जानुं हुं परि अधर्माचरणको त्याग नाहीं करि सकत हों''. अधर्माचरण करते होयवेको तथा अन्ततो गत्वा नाश सुनिश्चित हे एसे विधान करिवे वारे कौरवपक्षमें भीष्म, द्रोणाचार्य, धृतराष्ट्र, कर्ण जेसे अनेक वीर पुरुष हते. शास्त्रीय ज्ञानसों परिपूर्ण होयवेसों वे जो कछु करि रहे हते वा विषयमें विनकुं कोई संशय अथवा अन्यथाज्ञान नहीं हतो ये बात अनेक वार करे भये विनके विधानन्सों समुझी जा सके हे. तथापि शास्त्रीय आचरणसों वे विमुख हते. इन लोगन्के चरित्रकी ये असाधारण विशेषता हे के सत्यको स्वीकार उनकी बुद्धि तथा वाणी पर्यन्त तो हतो परि आचरणमें वो नहीं आ सक्यो. ये अश्रद्धाको दृष्टान्त हे.

भस्मासुरसुं श्रेष्ठ संशयात्माको दृष्टान्त ओर कोन हो सके हे परम तपस्याद्वारा शिवजीकों प्रसन्न करे. जाके ऊपर वो हाथ धरे वो जलिके भस्म हो जाय एसी सिद्धि हु वरदानमें मांगी. तथा शिवजीने पात्रापात्रको बिचार करे विना ही वरदान हु दियो. भस्मासुरकुं, परन्तु, वरदानकी सत्यता ऊपर शङ्का भई. वाने तो शिवजीके ही ऊपर हाथ धरिके वरदानकी परीक्षा करीवेकी इच्छा कीनी. अन्ततः विष्णुनें चतुराई पूर्वक भस्मासुरको नाश वाके स्वयंके माथाके ऊपर हाथ धरवायके कर्यो. ''संशयात्मा विनश्यति''. इतनी कठोर तपस्या तथा इच्छानुरूप वरप्राप्ति तोहु सर्वनाश अज्ञान तथा अश्रद्धा ये आसुरी प्रकृतिके परिचायक हें. तथा जहां ये दोउ होंय वहां संशय नहीं होय ये हो ही केसे सके हे

पुष्टिभक्तिसम्प्रदायी आज जिन् समस्यान्सों पीडित हें वाके मूल भगवद्गीतोक्त अज्ञान, अश्रद्धा तथा संशय में होयवेकी पूरी सम्भावना हे. अतएव उन् समस्यान्को योग्य समाधान हु अज्ञान, अश्रद्धा तथा संशय के निवारणमें अथवा अज्ञान, अश्रद्धा तथा संशय जिन कारणन्सों अस्तित्वमें आवे हें उन कारणन्के निवारणमें

ही होय सके हे एसी मेरी दृढतम मान्यता हे. अपन सब पुष्टिमार्गीन्को यदि सूक्ष्मतासों अवलोकन कर्यो जाय तो अपनमेंसुं कितनेक अभिमन्यु समान अल्पज्ञानी, कितनेक कर्ण समान शापित ज्ञान वारे, कितनेक शिशुपाल समान उलटे ज्ञान वारे, कितनेक ज्ञानसम्पन्न होयवे पर भी दुर्योधन, भीष्म, द्रोणाचार्य अथवा धृतराष्ट्र समान अश्रद्धाशील तो अधिकांश पुष्टिमर्गी भस्मासुरके समान संशयात्मा दृष्टिगोचर होंयगे.

आधो-अधूरो ज्ञान तथा वो हु पुनः जहां-जहांसुं प्राप्त करिके जेसे-तेसे धर्माचरणमें प्रवृत्त भये पुष्टिमार्गानुयायी अपने पुष्टिमार्गीय जीवनकी कृतार्थताह्नसूतक, पिंडरु, माथो भिंजायके स्नान करनो के विना माथो भिंजाये, एकादशीकुं सांव खानो साबुदाना खाने के सांव खानो, झारीजी दक्षिणमें पधरानी के वाम बाजुमें, श्राद्ध कर्यो जाय के नहीं, गो.आचार्यन्के सङ्ग "जय श्रीकृष्ण" द्वारा भगवत्स्मरण कियो जा सके के नहीं, गुरुके कोनसे चरणको स्पर्श प्रथम करनो?, ऊंचेसों जलपान करिवे पर हाथ खासा करने के नहीं, दीया-अगरबत्ती अपने यहां होय सकें के नहीं, नल-बोरवेल-हेन्डपम्प-कुवामेंसों कोनसे जलको प्रयोग कियो जा सके?, पधरावनी, उछामणी-बोली, बैठकयात्रा जेसी पुष्टिभक्तिसम्प्रदायकी दृष्टिमें अति सामान्य अथवा नाम मात्रको महत्व रखिवे वारी तथा कितनीक तो सम्प्रदायके सिद्धान्तन्तें सर्वथा विपरीत बातन्कुं सम्प्रदायको सारतत्व समुझके उनमें ही पचिमरें हें. अधिकांश आधुनिक दीक्षा लेवे वारेन्के ब्रह्मसम्बन्ध लेवेके पश्चात्त प्राप्त समस्त कर्तव्यन्की परिसमाप्ति घरकी भींतके ऊपर श्रीमहाप्रभुजी-श्रीनाथजी-श्रीयमुनाजीके चित्रन्को लटकायवेमें हो जाय हे. ये अज्ञान तथा अल्पज्ञान तें पीडित अनुयायीन्की कथाहे.

वर्तमानमें कर्ण समान शापित ज्ञान वारे अनुयायी हु सम्प्रदायमें कमती नहीं हें. हम गुरुवर्गद्वारा विगत कितनेक बरसनसुं एसे शापित ज्ञान वारे अनुयायीन्की वृद्धि सम्प्रदायमें एसे करी जा रही हे के जेसे शिष्यन्के उत्पदनको कोई कारखाना खोल रख्यो होय. काहुके दुराग्रहसों, बैठकन्में झारी भरवे मात्रकी इच्छासों; सास, शेठ अथवा वैष्णवसङ्घ की रसोई बनायवेकी योग्यता अर्थ; धन्धा अच्छो चले वाके तांई, पाप दूर करिवेके अर्थ अथवा एक गाममें ५० लोगन्नें ब्रह्मसम्बन्ध लियो तो हमारे गाममें ६० तो लेने ही चहिये एसी प्रतिस्पर्धा जेसे हेतुन्सुं ब्रह्मसम्बन्ध

लेवे आये भये अथवा दुराग्रह करिके लाये भये लोगन्की दीक्षाकुं कर्णके समान शापित ही जाननी चहीये. ये ही कारण हे के शरण-समर्पणकी पुष्टिसम्प्रदायकी महानतम दीक्षा प्राप्त होयवे पर भी कपट-भ्रमादिसों दीक्षा लिये भये (तथाकथित) पुष्टिमार्गी दीक्षामन्त्रद्वारा श्रुत दीनता, अनन्यता, शरणागति, समर्पण, असमर्पितत्याग, कृष्णपरतत्वता आदिके ज्ञानकुं तथा हाथमें तुलसीपत्र पधरायके पुष्टिपुरुषोत्तम समक्ष सर्वसमर्पण पूर्वक अपने घरमें उनकी सेवा करिवेकी जो प्रतिज्ञा करे हें वाकु भी (तथाकथित) दीक्षाको कर्मकाण्ड समाप्त होते ही भूल जांय हें. अब तक वे अन्यदेवी-देवतान्के दर्शन-पूजनादि बहुदेवोपसकके रूपमें करते आये हते, भगवद् असमर्पित पदार्थन्को खान पान एक साधारण प्रवाही मनुष्यके रूपमें करते हते सो अब वोही आचरण वे बिचारे ब्रह्मसम्बन्धी, गुरुकी असीम कृपातें, अन्याश्रय तथा असर्पित के त्यागकी प्रतिज्ञा लेके करेंगे. उपरोक्त प्रकारसुं दीक्षा देवे-लेवे वारेन्कुं देखते भये पुष्टिसम्प्रदायकी दीक्षाके विषयमें उनकी समझ एसी प्रतीत होवे हे के ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा अनन्याश्रय पूर्वक भगवत्समर्पित जीवन व्यतीत करिवेकी दीक्षा नहीं होयके मानो प्रतिज्ञापूर्वक अन्याश्रय तथा असमर्पितको भक्षण करिवेके तांई ही हे. कर्णके प्रसङ्गमें तो गुरु श्रीपरशुराम अज्ञानतामें ज्ञान दे बेठे हते. आधुनिक पुष्टिमार्गी गुरुजन तो, परन्तु, जाने हें तथापि अयोग्य-अनधिकारी लोगन्कों दीक्षा देवेमें सङ्कोचको अनुभव नहीं करे हें. एसी स्थितिमें तो आसुरी शिष्यन्कुं शाप देवेकी योग्यता हु उन गुरुन्में नहीं रहेती होयगी तब शिष्य दीक्षाज्ञानकुं भूलि केसे जांय हें? याको भाव एसो समुझनो के श्रीआचार्यचरणकी आज्ञा विरुद्ध प्रणालिसों जब दीक्षा दी तथा ली जाय हे तब उन आसुरी दीक्षार्थीन्के दीक्षाज्ञानकुं विस्मृत करिवेके तांई शाप श्रीआचार्यजी अथवा पुष्टिपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण स्वयं देते होंयगे, इतनो दृष्टान्तवैशम्य हे.

शिशुपालके समान अन्यथाज्ञान वारे मूलस्वभावसों आसुरी कितनेक लोग उपर्युक्त प्रकारसों पुष्टिमार्गमें प्रवेश प्राप्त करिके स्वयंकी उलटी समझ तथा आसुरी स्वभाव के कारण मार्गके सिद्धान्त तथा आचर-परम्पराकों विकृत करदे हें. एसे कितनेक शिशुपालोपम पुष्टिमार्गीन्के उदाहरण देखें तो श्रीकृष्णकी भक्ति छोडिके केवल श्रीआचार्यजी अथवा श्रीयमुनाजी की सेवाको प्रचार करिवेवारे, विश्वशान्ति अथवा ग्रहन् की शान्तिके अर्थ नवरत्नादिके पाठ करिवेकी प्रेरणा देवे वारे तथा वेसे आयोजन करिवे वारे, पुरुषोत्तममासमें प्रभुकी पूतनामोक्ष,

मथुरागमन जेसी पुष्टिभावनाके प्रतिकूल लीलन्के मनोरथ करिवे वारे, दूसरेन्सों द्रव्य-सामग्री स्वीकारिके स्वयंके सेव्यस्वरूपकी सेवा-मनोरथ करिवेवारे, श्रीआचार्यजीकों श्रीनाथजी मन्दिरके मुखियाजी मानिवेवारे इत्यादि. या सूचिकुं ओर लम्बी बनाई जा सके हे. यहां, परन्तु, समुझवेकी बात केवल इतनी हे के ''साक्षरा: विपरीताश्चेत् राक्षसाएव भवन्ति'' न्यायसों जानते-समजते होयवे पर हु स्वार्थवश अथवा दुराशयसों उपर्युक्त प्रकारकी कुपरम्परा प्रवर्तित करिवे वारेन्कुं तथा स्वीकारवे वारेन्कुं घोर-अन्यथाज्ञानी समजने चहीये. तथा मागीय सिद्धान्त-परम्पराकुं समुचित प्रकारसों समुझवेको प्रयास नहीं करिके वाके प्रति उपेक्षा अथवा प्रमाद रखते भये घोर अन्यथाज्ञानीन्कुं अनुसरिवेवारेन्कुं साधारण-अन्यथाज्ञानी समुझने चहीये. साधारण-अन्यथाज्ञीनीन्कुं भगवत्कृपासुं प्राप्त सत्सङ्गादिद्वारा सद्बुद्धि आय जाय तो विनको अध:पत रुक जाय हे. अन्यथा घोर-अन्यथाज्ञानीके समान् ये भी घोर नर्कमें जाय पडे हें, दुज्ञ आसुरी जीवन्कुं अनुसरिवे वारे अज्ञ आसुरी जीवन्की नांई. ''धर्ममं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ... अधो गच्छन्ति तामसा:''.

ब्रह्मसम्बन्धद्वारा भगवत्सेवामें प्रतिबन्ध करिवे वारे लोकवेदनिरूपित सहज-देशकालोत्थ-संयोगस्पर्शज आदि दोषन्तें पुष्टिमार्गी सम्भवत: मुक्त होय जाते होंयगे परन्तु पूर्वोक्त अपसिद्धान्तपूर्ण असत्परम्परान्कुं अनुसरिवे वारे घोर अथवा साधारण अन्यथाज्ञानी पुष्टिमार्गीन्के परिवारमें जनम लेवेसों लगते सहजदोष, पुष्टिमार्गके सिद्धान्तसों सर्वथा विपरीत सार्वजनिक व्यावसायिक मन्दिर-हवेली वारे गाममें रहिवेसों लगते दाश-कालोत्थ दोष, सिद्धान्तविपरीत आचरण करिवे वारे गुरु अथवा तथाकथित प.भ. आदिके दु:सङ्गके कारण लगते संयोग-स्पर्शज दोषन्सों, के जिनकी कल्पना हु श्रीआचार्यचरणन्ने नहीं कीनी होयगी, आधुनिक पुष्टिमर्गीन्कों मुक्त होय सकनो अति दुष्कर हे. जेसे कौरवन्के साम्राज्यमें उनकी दु:सङ्गतिमें रहिवेके कारण, उनसों भयभीत होयवेसों अथवा उनसों उपकृत होयवेसों, देश-कलोत्थ तथा संयोग-स्पर्शज दोषन्सों ग्रसित भीष्म-द्रोण-कर्णादि धर्मज्ञ स्वधर्माचरण अथवा अधर्मत्याग करी नहीं सके एसे ही सम्प्रति एसे अनेक पुष्टिमार्गी हें के जो वास्तविक सिद्धान्त तथा पुष्टिमार्गके नाम पर चलिवेवारे पाखण्डकों जानते भये हु गुरु/गुरुघरमें अन्धश्रद्धा अथवा लोकापवादके भयसों अथवा परिवारमें वैमनस्य होयवेकी भीतिसों अथवा श्रीमन्त गुरुके उपकारवश

अथवा गुरुन्में चलती पक्षापक्षीके कारण आयी किंकर्तव्यविमूढताजन्य पूर्वोक्त सहजादिदोषन्के कारण सिद्धान्तानुसार आचरण अथवा अपसिद्धान्त को त्याग करी नहीं सकत हें. अतएव एसी त्रिशङ्कु जेसी परिस्थितिमें फंसे भये आधुनिक पुष्टिमार्गीन्की हु वेसी ही गति सम्भाव्य हे जेसी के द्राणादिकी अधर्मको पक्ष लेवेसों भई हती. वो तो अवतारकाल हतो. आज, परन्तु, अनवतारकाल हे इतनो दृष्टान्तवैशम्य यहां भी हे.

ज्ञान के श्रद्धा, अथवा ये दोनों नही होयवे पर हु जब कोई व्यक्ति कोई धर्मसम्प्रदायमें आय जाय हे तब वो संशय की साक्षात् मूर्ति बनि जातो होय हे. अतएव उपर्युक्त पुष्टिमार्गीन्में भस्मासुरको कार्य करि सकवेके सर्व (अव)गुण प्रचूर मात्रामें हो सके हें ये कहिवेमें जरा भी अतिशयोक्ति नहीं हे. सम्प्रदायको इतिहास ये बातको साक्षी हे के भस्मासु जेसे कृतघ्न पुष्टिमार्गी(गुरु तथा शिष्ट दोउ)न्नें आज तक जितनी हानि पुष्टिमार्गकुं पहोंचाई हे वितनी दूसरे कोईने नहीं पहोंचाई हे. जिनसों वरदान प्राप्त भयो तथा जिनकों पूज्य माने वे शिवजीको ही अनिष्ट करिवेको प्रयास जेसे भस्मासुनें कियो हतो एसे ही जिनके द्वारा पुष्टिमार्गमें प्रवेश प्राप्त भयो उन गुरुके पाससुं उनके सेव्यव्य श्रीठाकुरजी तथा घर-सम्पत्ति ऊपरसों उनको स्वामित्य हटायके उनकुं सार्वजनिक स्वरूपमें परिवर्तित करायवेको आततायि जेसो दुष्कर्म करिवे वारे दूसरे कोई नहीं हें परन्तु भस्मासुर जेसे पुष्टिमार्गी ही हें. (याकुं पारिवारिक अथवा व्यक्तिगत हानि मानि लेवकी भूल नहीं करनी चहीये. सम्प्रदायके घटक गुरु तथा शिष्य होंय हें. सम्प्रदाय गुरुद्वारा शिष्यमें आवे हे. इन दोमेंसुं कोइ एक के नष्ट अथवा विकृत होयवे पर सम्प्रदाय हु नष्ट अथवा विकृत हो जाय हे). पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवा स्वगृहमें तथा स्वीय धन-सम्पत्तिसों करिवेको सिद्धान्त हे. सार्वजनिक स्थान अथवा सार्वजनिक धन-सम्पत्तिसों पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवा करनी वो श्रीआचायचरणन्के सिद्धान्तसों सर्वथा विरुद्ध हे. पुष्टिमार्गमें एसे भस्मासुर कम नहीं हें के जो अपने कोई हीन स्वार्थकी सिद्धिके अर्थ गुरुकों परिश्रम होयगो एसे मिथ्या कारण प्रस्तुत करिके सच्चे जिज्ञासु अनुयायीन्कुं, गुरुके द्वारपाल(एजेन्ट) बनीके, गुरुके समीप जायवेसुं अटकाते होंय. पुष्टिमार्गमें एसे भस्मासुरन् तो एक मांगो तो दस मिलेंगे के जो एक मात्र पुष्टिमार्गकों छोडिके अन्य कोई भी धर्मसम्प्रदाय, चिन्तक अथवा वक्ता कों नित्यनियम पूर्वक बांचते-सुनते होंयगे. जो नहीं बांचते-सुनते होंयगे तो वा पुष्टिमार्गके पवित्र ग्रन्थन्कुं के

जाकी कण्ठि जनमसुं अपुने कण्ठमें डारिके अद्यावधि फिर रहे हें. मुम्बईमें जनवरी १९९२में आयोजित पुष्टिसिद्धान्त-चर्चासभाके पीछे उच्चपदासीन एसे भस्मासुर हु उघारे होय गये हें के जो श्रीआचार्यचरणन्के पारदर्शक सिन्धान्तन्मेंसों दृष्टिगोचर होती अपनी निर्लज्जताकों छुपायवेके मिथ्या प्रयासरूपेण श्रीआचार्यचरणन्के सिद्धान्तवचनन्को अन्यथा व्याख्यान करिवे लागे हें. पुष्टिमार्गमें एसे भस्मासु भी अनेक हें जो अपने गुरुन्सों घनिष्ठ सम्बन्ध रखते होयवेसों बहिर्मुखता सम्पादक आनन्द-प्रमोदकी आधुनिक साधन-सामग्री उपलब्ध करायकें विनकों सत्पथभ्रष्ट करते होंय.

भस्मासुरन्की ये सूचि ओर हु लम्बी बनाई जा सके हे. यहां, परन्तु, लक्ष्यमें लेवेकी बात ये हे के भस्मासुर स्वयं उत्पन्न नहीं होय हे. पात्रापात्रके सम्यज्ज्ञान विना वरदान देवेसों स्वयं शिवजी भस्मासुरकी उत्पत्तिके कारण बने एसे ही उपर्युक्त प्रकारके पुष्टिमार्गी भस्मासुरन्कुं उत्पन्न करिवेके पापके भागी हु वस्तुत: गुरुजन ही कहे जायेंगे.

अज्ञान, अश्रद्धा अथवा संशय जन्य उपर्युक्त तथा अन्य हु जो वैनाशिक विकार सम्प्रदायमें उत्पन्न भये हें विनकुं निर्मूल करिवेके प्रमुख चार उपाय मेरी दृष्टिमें हो सके हें.

१.आचार्यवंशजन्की अनिवार्य रूपसुं आचार्यपदोचित शास्त्रीय शिक्षा.

२.दीक्षाप्रणालीकी विशुद्धता.

३.स्वमार्गीय सिद्धान्तग्रन्थन्के यथाधिकार अध्ययनाध्यापनकी परम्पराकी पुन:स्थापना.

४.साधनाप्रणालीकी विशुद्धता.

उपर्युक्त उपायन्कुं व्यवहारमें लानो दोय-चारि लोगन्सुं साध्य नहीं हे. अतएव या दिशामें सन्निष्ठ प्रयास जब तक प्रारम्भ नहीं होंय तब तक व्यक्तिगत रूपसों जितने सत्प्रयास बनि आवें वितने करते रहेनो ही उचित प्रतीत होय हे.

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित तत्वदीपनिबन्धको ये सर्वनिर्णय प्रकरण उपर्युक्त सहित अन्य हु अनेकानेक समस्यान्को समाधान बतायवेवारो हे. गोलोकवासी समादरणीय श्रीगोकुलदासजीनें यापें श्रीपुरुषोत्तमजी विरचित 'आवरणभङ्ग'टीकाके तात्पर्यकुं लेते भये जो व्रजभाषा टीका लिखी हे वो वस्तुत: समस्त पुष्टिभक्तिमार्गीन्केअर्थ सर्वथा उपकारक हे. ध्यातव्य हे के तत्वदीपनिबन्धके शास्त्रार्थप्रकरणको पुनर्मुद्रण श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, माण्डवी द्वारा कर्यो ही गयो हे. अब ये द्वितीय खण्ड तत्वदीपनिबन्धके उपर्युक्त सर्वनिर्णयप्रकरणकी व्रजभाषा टीकाको ही पुन: प्रकाशन हे.

पूर्व मुद्रित पुस्तकमें श्रीगोकुलदासजीनें अपनी व्रजभाषा टीकाके सङ्ग सप्रकाश निबन्ध तथा श्रीपुरुषोत्तमजी विरचित 'आवरणभङ्ग'टीकाकुं हु मुद्रित करिके वाकु साङ्गोपाङ्ग प्रसिद्ध करी हती. या पुस्तकमें, परन्तु, 'आवरणभङ्ग'को मुद्रण नहीं कियो हे.

पूर्व मुद्रित पुस्तकमें मूल श्लोकन्को जो क्रम हतो वा क्रमके स्थान परि श्रीहरिशङ्कर शास्त्रीजी द्वारा मुद्रित निबन्धग्रन्थानुसार श्लोकन्कुं क्रमबद्ध किये हें तथा तदनुसार ही व्रजभाषाटीकाकुं योजित कीनी हे.

कहुं-कहुं उत्थानिका तथा श्लोक के आशयकुं स्फुट करिवेके अर्थ ' [] ' या प्रकारके कोष्ठकमें विशेष अंश समाविष्ट किये हें.

निबन्धप्रकाश तथा व्रजभाषा टीकामें उद्धृत वचनन्के अल्पायाससों यथोपलब्ध आकरस्थलन्को निर्देश तत्तस्थलन्में नूतनतया कियो हे.

श्रीहरिशङ्कर शास्त्रीजी द्वारा प्रकाशित निबन्धग्रन्थके गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला) द्वारा पुनर्मुद्रित संस्करणमें संस्कृतमें मुद्रित सर्वनिर्णयप्रकरणकी विस्तृत विषयानुक्रमणिकाके आधार पर विस्तृत व्रजभाषामें विषयानुक्रमणिकाको हु नूतनतया समावेश कियो हे.

व्रजभाषाके ऊपर अपेक्षित अधिकार नहीं होयवे पर हु मूल टीकाकार श्रीगोकुलदासजीके प्रति सविनय क्षमायाचनाको भाव हृदयमें रखते भये, सुज्ञ पाठकन्सों अभिप्राकी आकाङ्क्षा रखते भये तथा व्याख्याकारके तात्पर्यमें किञ्चित् मात्र हु परिवर्तन नहीं होय वाकी सावधानी रखते भये केवल भाषामें संशोधन करिवेको दु:साहस कियो हे.

''इन्द्रद्युम्न राजाने ... ऋषिन्सों , पुछा'' (पृ.१६,पं.१६), *''जिसमें मनुष्यकी बुद्धि''* (पृ.१२४,पं.१७), *''आचरण करनो चाहिये''* (अनेकत्र), *''उत्तरकाण्डको निर्णय व्यासजीनें पोते कियो हे''* (पृ.५२,पं.३०) प्रकारके खड़ी हिन्दी तथा गुजराती भाषा के प्रयोगन्के स्थानपें व्रजभाषाके प्रयोग स्थिर करे हें.

चतुर्थी-सम्प्रदान विभक्तिके 'केलिये' तथा 'के अर्थ' दोउ प्रयोग प्रस्तुत टीकामें उपलब्ध हें. अत: 'के लिये' के स्थान पर सर्वत्र 'के अर्थ' को प्रयोग स्थिर कियो हे.

मत्वर्थीय 'मान्'-'वान्' के स्थान पर व्याख्याकार द्वारा 'वाले' तथा 'वारे' एसें दोउ प्रकारके प्रयोग भये हें. अत: 'वाले'के स्थान पर सर्वत्र 'वारे'को प्रयोग स्थिर कियो हे.

'सूं'-'कूं'में प्रयुक्त दीर्घ-'ऊ'कारके स्थान पर ह्रस्व-'उ'कारको प्रयोग स्थिर कियो हे.

या ही प्रकारसों जैसें/से, वैसें/से, ऐसें/से, तैसें/से, मैं, है, हैं में प्रयुक्त 'ऐ'कारके स्थान पर 'ए'कारको प्रयोग स्थिर कर्यो हे. एसे ही 'वह'-'यह' के स्थान पर 'वो'-'ये'को तथा 'चाहिये' के स्थान पर 'चहिये' को प्रयोग स्थिर कियो हे. 'हाथनमें', 'देहेन्द्रियादिकनसों', 'दोषनके', 'श्रुतिनको', 'दैत्यनकूं' 'महाप्रभूनके' आदिमें प्रयुक्त बहुवचन् तथा आदर द्योतक अदन्त 'न'कारके स्थान पर हलन्त-'न्'कारको प्रयोग स्थिर कियो हे.

अवधिद्योतक 'तक', समुच्चयद्योतक 'और'-'ओर', अप्यर्थक 'भी' तथा यद्यर्थक 'जो' के स्थान पर यथाक्रम 'तांई'/'पर्यन्त', 'तथा', 'हु' एवं 'यदि'के प्रयोग स्थिर करिवेको प्रयास कियो हे.

सुज्ञ पाठक एतद्विषयक अपने अभिप्राय ज्ञापनद्वारा हमकुं उपकृत करेंगे.

अन्तमें, या ग्रन्थके सन्निष्ठ स्वाध्यायसुं पुष्टिमार्गीमेंसों समस्त अज्ञान, अन्यथाज्ञान तथा संशय को निर्मूल नाश होय एसी शुभासंशना सह...

गोपाष्टमी *गोस्वामी शरद्*

वि.सं.२०५७, **मोटी-हवेली,**

माण्डवी-कच्छ, गुजरात,

३७० ४६५

।।श्रीकृष्णाय नमः।।

।।श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।।

।।श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।।

तत्वार्थदीपनिबन्धे

सर्वनिर्णयप्रकरणम्

पञ्चात्मकं द्विरूपञ्च साधनैर् बहुरूपकम्।।
स्वानन्ददायकं कृष्णं ब्रह्मरूपं परं स्तुमः ।।१।।
अग्निहोत्रं तथा दर्शपूर्णमासः पशुस्तथा।।
चातुर्मास्यानि सोमश्च क्रमात्पञ्चविधो हरिः।।२।।
तत्साधनं च स हरिः प्रयाजादि स्रुगादि यत्।।
प्राकृतं रूपमेतद्धि नित्यं काम्यन्तु वैकृतम्।।३।।
ज्ञानिनस्तदभिव्यक्तौ कर्तुः मोक्षः क्रमाद् भवेत्।।
अन्यथा स्वर्गसौख्यन्तु द्विरूपं तत् क्रमाद् भवेत्।।४।।
वाक्यशेषात्त्वात्मसुखं प्रसिद्धेर्लोक उच्यते।।
यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।।
अभिलोषोपनीतञ्च तत्सुखं 'स्वः'पदास्पदम्।।५।।
स्पर्द्धासूयादिदुःखानि स्वर्गिणां स्युः सदा ध्रुवम्।।
प्रवृत्तिमार्गनिष्ठत्वात् न ध्रुवोपरि तद्गतिः।।६।।
न च स्वर्गादिलोकेषु वाक्यशेषोक्तमीर्यते।।
अत आत्मसुखं वाक्ये वाच्यं तत् सत्वतो भवेत्।।
शुद्धे सत्त्वगुणोद्भेदः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः।।७।।
अतस्तदेव हि फलं कामाभावेऽपि सिद्ध्यति।।
यागादेर्भगवद्रुपात् कामितं फलति स्फुटम्।।८।।
श्लिष्टप्रयोगाद् वेदस्य परोक्षकथनं मतम्।।

बालानुशासनार्थाय रोचनार्थं तथा वचः।।९।।
पशुब्धयाजी सर्वान् लोकानाप्नोति निश्चयः।।
अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति।।१०।।
अक्षय्यं सर्वलोकाख्यम् आत्मरूपं नचान्यथा।।
नित्ये स्वर्गफलं नान्यत् पश्वादिः विकृतौ फलम्।।११।।
रूपं तदेव विकृतेः किञ्चित् साधनमन्यथा।।
विकृताद्धि हरेः किञ्चिद् विकृतं फलमीर्यते।।१२।।
नित्यकर्मप्रसिद्ध्यर्थं काम्यादीनां विधिः श्रुतौ।।
पशुपुत्राद्यभावेपि न नित्यं कर्म सिद्ध्यति।।१३।।
अङ्गेऽपि तत्फलं नित्ये ज्ञानादिभिरुदीर्यते।
यथाकथञ्चित् नित्यस्य सिद्धिर् वेदेन बोध्यते।।१४।।
ध्यानादिभिर्यथा मूर्तेः अभिव्यक्तिः परात्मनः।।
आधानादिक्रियातोऽपि व्यक्तिर्यज्ञस्वरूपिणः।।१५।।
दुःखाभावाः सुखं चैव पुरुषार्थद्वयं मतम्।।
मोक्षः कामस्तयोरङ्गं धर्मो ह्यर्थेन साधितः।।१६।।
साधनञ्च फलञ्चैव हरिर्वेदे निरूप्यते।।
तदभिव्यक्तितः सर्वं पुरुषार्थस्वरूपतः।।१७।।
रूपप्रपञ्चकरणाद् आसक्तस्वांशवारणे।।
श्रुतिमात्मप्रसादाय चकारात्मानमेव सः।।१८।।
इति नित्यः श्रुतेरर्थः सात्विकानां प्रकाशते।।
उत्पन्नास्त्रिविधा जीवा देव-दानव-मानवाः।।१९।।
सर्वे वेदविदो जाताः स्वभाव-गुणभेदतः।।
तेषां प्रकृतिवैचित्र्यात् श्रुत्यर्थो बहुधोदितः।।२०।।
भावस्याज्ञानतः कर्ममात्रं केचिद् वदन्ति हि।।
लोकप्रतीतं स्वीकृत्य कदाचिद् भगवान् वदेत्।।२१।।
फलन्तु सर्वमेवात्र तदंशत्वाद् भविष्यति।।

अतः कामनिषेधो हि क्विचिद् भगवतोदितः।।२२।।
यथोक्ते ह्यपुनर्जन्म ह्यन्यथा पुनरुद्भवः।।
तदर्चिरादि-धूमादि-मार्गद्वयम् उदीरितम्।।
वैराग्यार्थं तदप्युक्तं पञ्चाग्निख्यापने श्रुतौ।।२३।।
बहुप्रकारमेकं हि कर्म वेदे प्रकाश्यते।।
भगवन्मूर्तितासिद्ध्यै ते सर्वे पूर्वजैर्धृताः।।२४।।
अल्पज्ञत्वाद् आधुनिकाः पाठज्ञानाक्षमा द्विजाः।।
मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः।।२५।।
द्वापरान्ते हरिर्व्यासः तदर्थं प्रथमं पृथक्।।
चातुर्होत्रविभागेन व्यस्तवान् वेदरूपतः।।
शाखाभेदास्तु तच्छिष्यैः तेनैव प्रेरितैः कृताः।।२६।।
प्रकारभेदे पूर्वं तु विकल्पो ह्यैच्छिको मतः।।
अधुना नियतः शाखाभेदात् तत्तदधीतिषु।।२७।।
कर्मवद् ब्रह्मभेदाश्च गीयन्ते बहुधर्षिभिः।।
तेषां भिन्नतया पाठे उच्छेदो भवतीति हि।।
कर्मशाखागताश्चक्रे निर्णयः पृथगेव हि।।२८।।
असन्दिग्धोऽपि वेदार्थः स्थूणाखननवत् कृतः।।
मीमांसानिर्णयः प्राज्ञे दुर्बुद्धेस्तु ततो द्वयम्।।२९।।
जैमिनिः कर्मतत्त्वज्ञो निर्णयं पूर्व उक्तवान्।।
व्यासः स्वयं हि सर्वज्ञ उत्तरे निर्णयं जगौ।।३०।।
उभयोर्हि परिज्ञाने सर्ववेदार्थनिर्णयः।।
निर्णयो बहुभिर्नष्टः पश्चाद् वक्ष्ये तयोर्गतिम्।।३१।।
पुरुषो विहितः षोढा करौ पादौ शिरोन्तरम्।।
शिरो ब्रह्म हरिः पूर्वं यज्ञः पञ्चविधः स्वयम्।।
अनन्तमूर्तिर् भगवांस्तेन शाखास्तथा कृताः।।३२।।
स्मृतिर् बहुविधा प्रोक्ता वेदाचारविभेदतः।।

ऋषीणां पूर्वचरितस्मरणं स्मृतिरुच्यते।।३३।।
तदाचाराल्लोकतश्च न्यायान् नित्यानुमेयतः।।
प्रवृत्तिर्जीविका लोके व्यवहारो विशुद्धता।।३४।।
संवादे चान्यशेषत्वात् न स्मृत्यर्थं स्पृशेच्छ्रुतिः।।
गृहादिरिव देहस्य धर्मस्योपकृतिः स्मृतिः।।
उभयोः समवाये तु धर्मः पुष्टो न चान्यथा।।३५।।
गर्भाधानादिसंस्काराः सन्ध्योपास्त्यादिकं तथा।।
नित्यश्राद्धादिकर्माणि पाकयज्ञादिकं तथा।।३६।।
प्रायश्चित्तमिति ह्येष पञ्चधा कर्मसङ्ग्रहः।।
नित्यानुमेयवेदस्तु मूलं पञ्चविधस्य हि।।३७।।
व्रततीर्थादिकं काम्यं नित्यवद् बोध्यते क्वचित्।।
पूर्वाचारेण सम्प्राप्तं पुराणं मूलमस्य हि।।३८।।
कृष्यादिजीविकाशास्त्रं पूर्वर्ष्याचारतः प्रमा।।
करदण्डादिशास्त्रस्य मूलं युक्तिः पुराविदाम्।।३९।।
शुद्धिंकेचित्पृथक्प्राहुःसंस्कारःकस्यचिन्मतः।।
देश-काल-द्रव्य-कृतृं-मन्त्र-कर्मविभेदतः।।
षोढा शुद्धिः स्मृता सापि द्विधा ह्यन्योन्यतः स्वतः।।४०।।
सर्वशेषेयमाख्याता श्रुत्यर्थेऽपि विशेषतः।।
धर्मः सम्पद्यते षड्भिर् अधर्मो ह्यन्यथा भवेत्।।४१।।
कल्पसूत्रेषु वेदत्वं स्मृतित्वञ्च प्रतीयते।।
अर्थतः कर्तृतश्चापि वेदत्वं पाठतः स्मृतिः।।४२।।
सौकर्यार्थं कृतिस्तस्य सङ्कलीकृत्य वर्णनात्।।
तेनापि क्रियमाणस्तु धर्मः श्रौतो भवेद् ध्रुवम्।।४३।।
इष्ट्यौपासनकर्माणि न श्रौतानि कथञ्चन।।
भेदाद् वैजात्यतश्चापि काल एकस्तयोः परम्।।४४।।
कालबाधां न कर्तव्यं स्मार्तं श्रौतो बली यतः।।

एश्चाद् वा गौणकालेऽपि कर्तव्यम् इति केचन।।४५।।
स्मार्तमात्रस्य करणाद् आभासो ब्राह्मणो भवेत्।।
स्वर्गाभासाद्यपि फलं श्रौतमात्रेपि चाऽखिलम्।।४६।।
ब्रह्मप्रकरणं स्मार्तं कल्पसूत्रवदेव हि।।
पुराणमूलकं वाऽपि ह्याश्रमाचारतोदितम्।।४७।।
पुराणं वेदवत् पूर्वसिद्धं सर्वोपयोगि तत्।।
सर्वोपकरणानीव धर्मस्य नरगेहयोः।।४८।।
तदज्ञाने सर्वमौढ्यं तेन तद् हृदयं स्मृतम्।।
भावयुक्तस्य धर्मस्य प्रमितौ तत् प्रयुज्यते।।४९।।
सर्वसृष्टिपदार्थानां याथार्थ्यज्ञापनं ततः।।
शाखाविभागवत् तस्य विभागः सोऽप्यनेकधा।।५०।।
शतं कल्पास्ततोऽप्यन्ये सन्ति कृष्णेन निर्मिताः।।
सत्वेन रजसावापि तमसा वाऽप्यनेकधा।।५१।।
नाना सृष्टिप्रकारा हि नाना धर्मा ह्यनेकधा।।
सर्वस्वरूपी कृष्णस्तु कर्ता तेषु तथोदितः ।।५२।।
सात्विकेषु तु कल्पेषु तत्प्रकारपुराणतः।।
आचारान् मुक्तिमाप्नोति भवस्त्वन्येषु केवलः।।
धर्महीनस्तत्सहितो राजसेषु सुखं ततः।।५३।।
अपेक्षितन्तु सर्वत्र सर्वोक्तं गृह्यते क्वचित्।।
इदानीं त्रिविधा जीवाः तेन त्रियतमीर्यते।।५४।।
प्रवृत्त्यर्थन्तु सर्वत्र मुक्तिः फलमुदीर्यते।।
तदवस्थापरित्यागाद् वचनं सत्यमेव हि।।५५।।
चतुर्युगे तु व्यासानां नानात्वात् स्वस्वकालजम्।।
वृत्तान्तमाहुर् नान्यस्य कल्पान्तास्तेन कीर्तिताः।।५६।।
सर्वनिर्धारणार्थाय व्यासो भारतमुक्तवान्।।
एकं कल्पमुपाश्रित्य स्त्रीशूद्राणां हिते रतः।।५७।।

धर्मनिर्धारणं तत्र सर्वेषां समुदाहृतम्।।
प्रत्यद्वं वृक्षवत् कल्पा भुवनद्रुमरूपिणः।।५८।।
अन्यकल्पोक्तरीत्यापि कथितो भगवान् स्वयम्।।
कल्पेऽस्मिन् सर्वमुक्त्यर्थम् अवतीर्णस्तु सर्वतः।।
सर्वतत्त्वं सर्वगूढं प्रसङ्गादाह पाण्डवे।।५९।।
शुकवत् तद् व्यासगीतं सत्वेनास्यावतारतः।।
ईशवाक्यन्तु तस्यापि दुर्बोधं भजनादृते।।६०।।
जीवाएव हि सर्वत्र व्यासाः साम्प्रतमेव हि।।
स्वयं भूत्वा हरिः कृष्णः स्वांशं व्यासं चकार सः।।
स्वज्ञापनाय भक्तानां पदप्राप्त्यै ततः परम्।।६१।।
सत्वस्य व्यवधानत्वाद् आत्मज्ञानात्तु योगतः।।
व्यासकार्यं समस्तञ्च कृतवान् अधिकं तथा।।
अनिर्वृतिस्ततो जाता तेन भागवतं कृतम्।।६२।।
सर्वगोप्यो हि धर्मस्तु वेदे मुख्यतयोदितः।।
ब्रह्ममात्रप्रकाशस्तु कृपया सनकादिगः।।६३।।
स इदानीं तु गीतायां प्रकटो भगवत्कृतः।।
तद्व्यासत्वाद् भगवतं पूर्वं भगवतोदितम्।।६४।।
विश्वासार्थं पुराणेषु पठितं भक्तिहेतुकम्।।
प्रतिपाद्येशलीलायाः पुराणार्थं त्वतः पुनः।।६५।।
सर्वमुक्तिनिवृत्त्यर्थं वेदत्वं तस्य नोक्तवान्।।
वेदकर्तृवचस्त्वाद्धि सतां सर्वं भविष्यति।।६६।।
स्वस्यान्यस्य च निर्वाहं वेदः कर्तुं न हि क्षमः।।
अत्यन्तमलिना लोकाः ततो भागवतं कृतम्।।
एतदभ्यसनाल्लोको मुच्यतेऽनुपजीवनात्।।६७।।
कालादिधर्महेतूनाम् अभावात् साम्प्रतं कलौ।।
वेदस्मृतिपुराणानाम् अर्थाः सर्वे हि बाधिताः।।६८।।

कालादिसाधनापेक्षारहितः सर्वतोऽधिकः।।
फलतः सुगमश्चैव सर्वथा फलसाधकः।।६९।।
योगसाङ्खचेतु ये मुख्ये तयोः सत्वे प्रयोजनम्।।
ज्ञानदुर्बलवादानां न मनोरथवार्तया।।
सिद्धिं यान्ति नरा दुष्टा व्यामोहस्तु ततः फलम्।।७०।।
ग्रन्थान् पुराणवाक्यानि वेदरूपेण च क्वचित्।।
कृत्वा वृथा वेषधराः कृष्णं नोपासते परे।।७१।।
षडङ्गानि तथा वेदे वेदरक्षाफलानि हि।।
स्वरूपतोऽर्थतश्चैव ह्यनुष्ठानात् त्रिधा हि तत्।।७२।।
शिक्षा छन्दः स्वरूपे तु निरुक्तं व्याकृतिस्तथा।।
अर्थे ज्योतिस्तथा कल्पो ह्यनुष्ठाने प्रयोजकः।।
विशेषतो हीदमुक्तं सर्वं सर्वत्र चैव हि।।७३।।
ये धातुशब्दा यत्रार्थे उपदेशे प्रकीर्तिताः।।
तथैवार्थो वेदराशेः कर्तव्यो नान्यथा क्वचित्।।७४।।
साक्षाद् धर्मप्रतीतेस्तु कल्पः स्मृतिषु चिन्तितः।।
दर्शादिकालनिर्धारो ज्योतिःशास्त्रफलं स्मृतम्।।७५।।
पदनिर्वचनाद् वेदे निघण्टुविवृतावपि।।
निरुक्तस्याङ्गता प्रोक्ता तथाऽल्पस्तस्य सञ्चरः।।७६।।
व्याकृतिः पाणिनीयं हि प्रातिशाख्यन्तु शब्दगम्।।
आदिमत्वात् लक्षणानां नाङ्गत्वं पूर्वचोदितम्।।७७।।
अनिङ्ग्यादि प्रातिशाख्ये विशेद् व्याकरणेतु तत्।।
छन्दसः पाठहेतुत्वं शब्दज्ञनोपयोगतः।।७८।।
आरोग्ये धर्मसिद्धिः स्यात् रक्षा च धनुषो
भवेत्।।उद्वेगहानिर्गान्धर्वे स्थापत्यं च स्रुगादिषु।।७९।।
कव्यादीनाम् असत्यत्वात् नोपयोगः कथञ्चन।।
धर्मे कर्तुः क्वचित् कीर्तिः नैपुण्यं पाठतः क्वचित्।।८०।।
रामायणमनन्तं हि पुराणमिव सम्मतम्।।

व्यासः पूर्वमनेकोक्तो वाल्मीकिः साम्प्रतं किल।।
समाधिभाषया प्राह प्रमाणं सर्वथैव तत्।।८१।।
वाशिष्ठादेस्तु संवादात् प्रामाण्यं नान्यथा क्वचित्।।
न्यायस्तु नीतिशास्त्रं हि तर्को मीमांसया युतः।।८२।।
मोहार्थान्यन्यशास्त्राणि बुद्धे कृष्णे तदिच्छया।।
देवांशैः कल्पितान्येव तदुक्तं सर्वथा मृषा।।८३।।
प्रमेयं हरिरेवैकः सगुणो निर्गुणश्च सः।।
गुणाः कार्यं तथा धर्मः क्रियोत्पत्त्यादयश्च सः।।८४।।
बुद्धिसौकर्यसिद्ध्यर्थं त्रिरूपेणोपवर्ण्यते।।
कारणेन च कार्येण स्वरूपेण विशेषतः।।८५।।
अष्टाविंशतिभेदास्तु कारणे तत्वभेदतः।।
भगवत्त्वं यतस्तेषां तस्मात् तत्वानि तानि तु।।८६।।
अण्डसृष्टेः पूर्वभावात् कारणत्वं न चान्यथा।।
कारणत्वं न चैवास्ति चिदानन्दांशयोः स्वतः।।८७।।
आनन्त्यमेव भेदानां तयोः कार्ये तथैव च।।
अतस्तेषान्तु ये भेदा नोक्तास्ते हि विशेषतः।।८८।।
स्वरूपेततु त्रयो भेदाः क्रिया-ज्ञानविभेदतः।।
विशिष्टेन स्वरूपेण क्रिया-ज्ञानवतो हरेः।।८९।।
विशिष्टे वाचकं गीता श्रीभागवतमेव च।।
केवले काण्डद्वितयं वेदो धर्मः प्रवेशतः।।९०।।
तस्यैवोद्भूतरूपत्वात् क्रियाज्ञाने अपि स्वतः।।
अविकार्ये विकार्ये तु ह्यध्रुवे कार्यवन् मते।।९१।।
वेदवाच्येतु ये रूपे तदभिव्यक्तितः फलम्।।
अनुष्ठानाद् गुरोर्वापि लौकिके लौकिकं फलम्।।
प्रेमसेवातएव स्याद् विशिष्टव्यक्तिरुत्तमा।।९२।।
कार्यभेदविभेदान् हि कल्पयित्वा विभागशः।।

वृथा शास्त्रप्रवृत्तिर् हि यस्मात् कार्यमतिर् वृथा।।९३।।
सत्वं रजस्तमश्चैव पुरुषः प्रकृतिर्महान्।।
अहङ्कारः पञ्चमात्रा शब्द-स्पर्शाकृती रसः।।९४।।
गन्धो भूतानि पञ्चैव खं वायुर्-ज्योति-रप्क्षितिः।।
क्रियामयानीन्द्रियाणि वाग्दोर्मेण्ढ्राङ्घ्रिपायवः।।
श्रोत्रं त्वग्-घ्राण-दृग्-जिह्वा मनःषडितिभेदतः।।९५।।
अतो हि देवतावर्ग इन्द्रियेभ्यो न भिद्यते।।९६।।
मायातु गुणरूपा हि कालस्तु भगवान् परः।।
सूत्रं महांस्तथा प्राणो बुद्धिश्चाहमभेदतः।।९७।।
प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्माऽभवत् पुरा।।
यद् रूपं समधिष्ठाय तदक्षरम् उदीर्यते।।९८।।
आनन्दांशतिरोभावः सत्वमात्रेण तत्र हि।।
मुख्यजीवस्ततः प्रोक्तः सृष्टीच्छावशगो हरिः।।९९।।
इच्छामात्रस्तिरोभावस् तस्यायमुपचर्यते।।
ब्रह्मकूटस्थाव्यक्तादिशब्दैर्वाच्यो निरन्तरम्।।१००।।
सर्वावरणयुक्तानि तस्मिन् अण्डानि कोटिशः।।
मूलाविच्छेदरूपेण तदाधारतया स्थितः।।१०१।।
प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ लोकत्वेन तदुद्भवः।।
अन्तर्याम्यवतारादिरूपे पादत्वमस्य हि।।१०२।।
हंसाकृतित्वकथने पुच्छत्वं परमात्मनः।।
तदुपासनाया ज्ञानत् परमात्मत्वमस्य हि।।१०३।।
ज्ञानमार्गे त्वेतदेव सेव्यं कृष्णस्ततोऽधिकः।।
रूपान्तरन्तु तस्यैव सर्व सामर्थ्यसंयुतम्।।१०४।।
चिदानन्दतिरोभावः तदनुद्रमएव च।।
ईषत्सत्वांशप्राकट्यं बहिरन्तस्तु सर्वतः।।१०५।।
चिदानन्दावपि तथा स कालः सकलोद्भवः।।

क्रियाशक्तिप्रधानत्वान्नित्यगः सकलाश्रयः।।१०६।।
विकृतावेव तच्छक्तिः सर्वोत्पत्त्यन्तभावनः।।
ऐश्वर्यं भगवद्दत्तं तत्रैव प्रतितिष्ठति।।१०७।।
अतएवेश्वरः प्रोक्तः सर्वान्तर उदीरितः।।
आसुरादिमतेतस्मान्नान्यः सेव्यः कथञ्चन।।१०८।।
मुख्याधिकारी कृष्णस्य प्रभुवत् फलसाधकः।।
सूर्यगत्या तु तद्भेदाः सूर्यस्तस्याधिभौतिकम्।।
आध्यात्मिकन्तु तद्भेदाः क्वचिदिच्छाऽपि भेदिका।।१०९।।
विधिषेधप्रकारेण यः क्रियाशक्तिरुद्गतः।।
तत्कर्म प्रगटं तावत् यावत् फलसमापनम्।।११०।।
तदेकं भगवद्रूपं साधारण्येन सर्वगम्।।
अग्र-पश्चाद्भावभेदा द्विधा प्रकटमुच्यते।।१११।।
सृष्टौ साधारणं तद्धि स्वांशेन प्रकटं यथा।।
कालवत् सकलं रूपम् अङ्गं तद्वशगं तथा।।११२।।
इच्छामात्रप्रकटनं सर्वथा तत् तिरोहितम्।।
सर्ववस्त्वाश्रितं पश्चात् स्वभावोऽयं हरेस्तनुः।।११३।।
वस्तूद्गमतिरोभावैस् तथा सत्वादिभिः पुनः।।
परिणामस्तु तत्कार्यं सर्वानुभवसाक्षिकम्।।११४।।
सामान्यतो विशेषेण न प्रकाशः कदाचन।।
एवं कालस्तथा कर्म स्वभावो हरिरेव सः।।११५।।
अतस्तदुद्गमः शास्त्रे न कदाचिदुदाहृतः।।
सर्वसाधारणत्वेन न तत् तत्वं तदेव तत्।।११६।।
अभावः कारणं चात्र ध्वंसश्चाऽपि तदुच्यते।।
कार्यादिशब्दवत् तस्मिन् सापेक्षा वृत्तिरेतयोः।।
अपृथग्विद्यमानत्वात् न धर्मैरधिको गणः।।११७।।
आनन्त्येऽपि हि कार्याणां गणभेदो द्विधा मतः।।

समष्टि-व्यष्टिभेदेन केवले जड-जीवता।।११८।।
सर्वेषां त्रिगुणत्त्वाद्धि त्रयो भेदाः पृथङ्मताः।।
आधिदैविकमध्यात्मम् अधिभूतमिति स्मृताः।।११९।।
सच्चिदानन्दरूपेण देहजीवेशरूपिणः।।
व्यष्टिः समष्टिः पुरुषो जीवभेदास्त्रयो मताः।।१२०।।
अन्तर्याम्यक्षरं कृष्णो ब्रह्मभेदास्तथा परे।।
स्वभाव-कर्म-कालाश्च रुद्रो ब्रह्मा हरिस्तथा।।१२१।।
अविद्या प्रकृतिर्माया निद्रा चिन्तेन्द्रजालता।।
महत्तात्वं ब्रह्मरूपम् अस्मच्चितं तथैव च।।१२२।।
अहङ्कारो रुद्ररूपम् अहङ्कारोऽस्मदादिषु।।
मनश्चन्द्रशरीरश्च मनोऽस्माकं तथैव च।।१२३।।
चक्षुः सूर्यशरीरं च चक्षुरस्माकमेव च।।
मूलेन्द्रियाणि ब्रह्माण्डं देवदेहास्तथैव च।।१२४।।
अस्मदिन्द्रियवर्गश्च रूपत्रयमुदीरितम्।।
चन्द्रश्चन्द्राभिमानी च मनःप्रेरकएव नः।।१२५।।
सूर्यो मण्डलमानी च चक्षुःप्रेरक एव नः।।
एवं सर्वत्र तद्भेदाः स्वयमूह्या विभागशः।।१२६।।
तन्मात्राणि च भूतानां गुणाः कार्यगतास्तथा।।
महाभूतान्यावरणं मध्यभूतानि च क्रमात्।।१२७।।
अहङ्कारमहत्तत्वप्रकृतीनां पुनस्तथा।।
मूलमावरणं चैव ब्रह्मान्तःकरणं तथा।।१२८।।
अन्येऽप्यवान्तरा भेदाः शतशः सन्ति सर्वशः।।
लोकपालास्तु ते त्वत्र स्वर्गस्थस्तु पुरन्दरः।।१२९।।
दशदिक्षुतु ते त्वत्र मध्यस्थस्तु पुरन्दरः।।
तादृशैरपरैर् देवैः प्रतिमन्वन्तरं पृथक्।।१३०।।
लोकपालास्तथा भिन्नाः स्थानैः सह विभागशः।।

लोकालोके मानसे च मेरोर्मूर्ध्नि तथैव च।।१३१।।
ब्रह्मणोऽपि तथा सत्ये विराड्जीवस्तु भोगभुक्।।
गुणावतारस्त्वन्यः स्याद् एवमन्यत्र सर्वशः।।१३२।।
कैलासादिविभेदश्च तथा वैकुण्ठवासिनः।।
कृत्रिमं च ध्रुवस्थानं श्वेतद्वीपं तथैव च।।
एवम् एकप्रकारेण गुणतस् त्रिविधं मतम्।।१३३।।
सूर्यश्चक्षुस्तथा रूपं गोलकं चेति वा भिदा।।
बुद्धिः खानि तथा मात्राः क्वचिदेवं भिदा त्रयम्।।१३४।।
भगवद्व्यतिरिक्तानां घटादीनां यथोद्भवः।।
व्यवहारे तथा ज्ञानक्रिययोरपि निश्चयः।।१३५।।
न प्रतिस्फुरणम् रूपरहितस्य कदाचन।।
अविद्यायास्तथा बुद्धेः न शुद्धत्वं कदाचन।।१३६।।
बुद्धेर्वृत्तिः स्थितिर्नाम गुणतः सा त्रिधा मता।।
अतो जागरणादीनि जीवस्तद्वशगो यतः।।१३७।।
सुखदुःखसमुत्पत्तिर् नित्या ब्रह्मसुखात् पृथक्।।
अन्धन्तमःप्रवेशाच्च हीच्छादीनां च सर्वशः।।१३८।।
मनोधर्माश्च ये चान्ये भगवत्सङ्गवर्जिताः।।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते घटादिरिव नान्यथा।।१३९।।
आविर्भाव-तिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः।।
भक्त्या त्वाद्यो द्वितीयस्तु तदभावाद् हरौ सदा।।१४०।।
सर्वाकारस्वरूपेण भविष्यामीति या हरेः।।
वीक्षा यथा यतो येन तथा प्रादुर्भवत्यजः।।१४१।।
मृदादिभगवद्रूपं घटाद्याकारसंयुतम्।।
मूलेच्छातस्तथा तस्मिन् प्रादुर्भावो हरेस्तदा।।
तिरोभावस्तथैव स्याद् रूपान्तरविभेदतः।।१४२।।
वृद्धिर्विपरिणामश्च तथाऽपक्षय एव च।।

पूर्वरूपतिरोभावो द्वितीयस्यादिमस्तथा।।१४३।।
उभावेकीकृतौ लोके वृद्ध्यादिभिरुदीरितौ।।
परिमाणाधिक्यतश्च वैजात्यान् न्यूनभावतः।।१४४।।
मनश्चान्नमयं वेदे तदस्माकम् अथापि वा।।
पोषितत्वत् तदन्नेन तद्रूपेणोपवर्ण्यते।।१४५।।
एवं सृष्टिप्रभेदेषु कल्पेषु च तथैव च।।
प्रकारभेदा दोषाय न भवन्ति तदिच्छया।।१४६।।
इन्द्रियाणां प्रमाणत्वं सत्वयोगान्न चान्यथा।।
सत्वस्य तारतम्येन याथार्थ्यं वस्तनः स्फुरेत्।।
अतः प्रमाणगणना लोकेषु न विचार्यते।।१४७।।
व्यवहारः सान्निपातो गुणानां स च लौकिकः।।
शास्त्रसिद्धेः पूर्वसिद्धः प्राणिमात्रस्य सर्वतः।।१४८।।
तस्य त्रिविधरूपत्वात् नाममात्रेण सा प्रमा।।
तस्माद् वेदादिरेवात्र प्रमाणं तच्च कीर्तितम्।।१४९।।
अपश्चीकृतरूपं हि सूत्रमात्रं हरिः स्वयम्।।
सुषुम्णामार्गतो व्यक्तः शब्दब्रह्मप्रकाशते।।१५०।।
पञ्चाशद्वर्णरूपश्च सूक्ष्मो नित्यो निरन्तरः।।
सर्वतोऽन्तोऽनन्तरूपो बहुरूपः स्वभेदतः।।१५१।।
वर्णः पदं तथा वाक्यं तस्य नामत्रयं मतम्।।
द्वयं चाविकृतं लोके वेदे सर्वं स्वयं हरिः।।१५२।।
वर्णाः पदानि सर्वाणि भगवद्वाचकत्वतः।।
सर्वार्थाण्येव सर्वत्र व्यवहृत्यै तथापि तु।।
शक्तिसङ्कोचतो लोके विशेषख्यापकानि वै।।१५३।।

तत्र व्याकरणादीनां व्यवस्थापकता मता।।
देशे-देशे तथाचारो भाषाभेदैरनेकधा।।१५४।।

अनन्तमूर्तयो वर्णाः पदे तेनार्थवाचकाः।।
केवलाः कोशतो ज्ञेया वाचकाःपदतोऽथवा।।१५५।।
पदं न वाचकं वाक्ये सादृश्यात् स्मारकं परम्।।
विशिष्टं वाक्यमेवात्र वाक्यार्थस्य च वाचकम्।।१५६।।
पदान्तरप्रवेशेन विशिष्टे वाच्यवाचके।।
पटवद् वाक्यभेदश्च वाक्यार्थश्चापि भिद्यते।।१५७।।
अवान्तराणां वाक्यानां स्मारकत्वं तथापरे।।
वाक्यमेकं हरिश्चैकोवेदेवाक्यार्थरूपधृक्।।१५८।।
अवान्तरेषु च तथा पदे वर्णे तथैव च।।
त्रयोपि वैदिका भिन्ना नाना धर्म्मयुतास्तथा।।१५९।।
सादृश्येऽपि न वेदत्वं तादृग्वाक्ये ततोऽन्यतः।।
अधिकारिविभेदेन धर्माधर्मौ तथा मतेः।।१६०।।
प्रत्येकं पूर्णता वाक्ये शाखाभेदेषु सर्वतः।।
दर्शादिषु तदङ्गेषु मन्त्रमात्रे तथैव च।।
हरिस्तत्तत्स्वरूपेण तस्मात् सर्वत्र वाचकः।।१६१।।
पुराणे च ततोऽन्यत्र वाक्यार्थो बुद्धिकल्पितः।।
पदानाम् आनुपूर्वी तु तत्र कल्प्या ह्यनेकधा।।१६२।।
सर्वप्रतीतिनाशे तु तन्नाश उपचर्यते।।
तथा वाक्यत्वनिष्पत्तेर् न दूषणमिहाण्वपि।।१६३।।
अद्यापि तानि जायन्ते घटवज् ज्ञानतः स्थितिः।।
विप्रलिप्सादिमूलत्वाद् अप्रामाण्यं च लौकिके।।१६४।।
अप्रामाण्येऽपि प्रामाण्यं कर्तृविश्वासतः क्वचित्।।
अतो वेदाद्यसंवादी नार्थो ग्राह्यः कथञ्चन।।१६५।।
वेदे सर्वत्र नाधिक्यं वाक्ये न न्यूनताऽपि वा।।
अतो न वाक्यभेदः स्यात् लोके तन्नैव दूषणम्।।१६६।।
भूतसूक्ष्मो ध्वनिर्वर्णो नामसृष्टौ निरूप्यते।।

प्रकृति-प्रत्ययौ लोके व्युत्पत्त्यर्थं निरूपितौ।।१६७।।
नैतावता कृत्रिमत्वं शब्दे वक्तुं हि शक्यते।।
प्रपञ्चभेदात् तत्वानाम् आधिक्यं वर्णतो नहि।।१६८।।
संस्कारमात्रविलयाद् अथवा तद्विलीनता।।
तदभावाद् वासुदेवे तच्छब्देषु न लीनता।।१६९।।
अस्मदादिमुखेनापि क्रीडार्थं सर्वतो हरिः।।
शब्दभेदं वितनुते रूपेष्विव विनिश्चयः।।१७०।।
वाक्यार्थयोग्यावयवैः वाक्यं सर्वत्र सम्मतम्।।
आकाङ्क्षा योग्यताऽऽसत्तिः पदे तस्मादुदीरिता।।१७१।।
मृदा घोटकनिर्माणे न शृङ्गकरणं मतम्।।
तथा युक्तार्थबोधाय नाकाङ्क्षारहितं पदम्।।१७२।।
अर्थद्वारा पदे धर्मा लोकदृष्ट्यैव कल्पिताः।।
तस्माद् वाक्यं सर्वमेव सा यतो विश्वतोमुखी।।१७३।।
पदद्वयं सुप्तिङन्तं ताभ्यां चलति वाक्पतिः।।
पदानि बहुशः सन्ति सुप्तिङ्भध्यविभेतः।।१७४।।
तत्राऽसकरवालादि ते भिन्ना अंशतः परे।।
तदुदाहरणे श्लेषः तत्र योगादिकल्पना।।१७५।।
फलार्थं लक्षणा प्रोक्ता गौणी चाप्युपचारतः।।
प्राकट्येषत्तिरोधान-तिरोधानैर् हरिर् बभौ।।१७६।।
प्रवर्तकत्वं कृष्णस्य न विध्यर्थस्य कर्हिचित्।।
कार्यतादिपरिज्ञानम् उत्पाद्यैष प्रवर्तयेत्।।१७७।।
अनिष्टमिष्टं साध्यं वा नासाध्यं किञ्चिदस्ति हि।।
तथापि यतते कश्चित् क्वचिदेव हरीच्छया।।१७८।।
मिथ्याप्रलोभनं वेदे न क्वचित् कर्हिचिद् भवेत्।।
तथैव कर्मविज्ञानं धर्मस्तेनैव नान्यथा।।१७९।।
साधनानि स्वरूपं च सर्वस्याह श्रुतिः फलम्।।

न प्रवर्तयितुं शक्तास्तथा चेन् नरको न हि।।१८०।।
लोकेऽपि राजदण्डादेरन्यथा विषयो न हि।।
प्रेरको भगवानात्मा स्वात्मना दोषवर्जितः।।१८१।।
न विशेषोऽस्ति लोकेऽस्मिन् तारतम्यं न चैव हि।।
अखण्डं कृष्णवत् सर्वं यथा तत्तु निरूपितम्।।१८२।।
''आत्मैव तदिदं'' सर्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः।।१८३।।
आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा।।
इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैर् यथामतिः।।
अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितम्।।१८४।।
वर्णाश्रमवतां धर्मः श्रुत्यादिषु यथोदितः।।
तथैव विधिवत् कार्यः स्ववृत्त्यन्नेन जीवता।।
आचारो वृत्तिहीनश्चेद् अर्थं फलति नाखिलम्।।१८५।।
अनभ्यासेन वेदानाम् आचारस्य च लङ्घनात्।।
आलस्याद् अन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति।।१८६।।
शिलोञ्छवृत्त्या सन्तुष्टः श्रौतं कर्माऽखिलं चरेत्।।
तप-स्वाध्यायनिरतो ह्यग्निहोत्रादिपञ्चकम्।।१८७।।
स्मार्तं कृताकृतं तस्य सर्वं जानन् हरिं यथा।।
क्रमेण मुक्तिमाप्नोति ब्रह्मलोकं परं गतः।।१८८।।
एतस्य तारतम्येन मानुषानन्दतो द्विजः।।
अक्षरानन्दपर्यन्तम् आनन्दान् विन्दते क्रमात्।।१८९।।
उपान्त्यानन्दपर्यन्तं पुनर्जन्म भवेद् ध्रुवम्।।
तत्-तद्रूपेण लोकेषु भोगान् भुक्त्वा तथाविधान्।।१९०।।
एकाश्रमेण वा तिष्ठेद् विशेद् वा समनन्तरम्।।
आयुर्भागक्रमेणैव चतुष्टयमथापि वा।।१९१।।
त्रिदण्डं परिगृह्णीत सर्वशास्त्राविरोधि तत्।।

शास्त्रेऽपि भगवान् आह दण्डस्यैकस्य धारणम्।।
प्रतिपत्तिरियं सर्वा देहस्य ज्ञानिनो भवेत्।।१९२।।
आद्यन्तयोस्तु भिक्षान्नं द्वितीये तु शिलोञ्छनम्।।
तृतीये वन्यभेदाः स्युर् भिक्षायामपि संयमः।।१९३।।
गुरुसेवाकर्मकृतिः तपः पर्यटनं क्रमात्।।
स्वाध्यायेन तथा कृत्या तपसा मानसा मखाः।।
अत्यावश्यकमेतद्धि चतुर्णां तत् पृथक्-पृथक्।।१९४।।
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भायावः।।१९५।।
उत्तरोत्तरधर्मेषु निष्ठायाम् अधिकं फलम्।।
तस्य चेत् परमा भक्तिः तिरोधानं भविष्यतिं।।
भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति न सोच्यते।।१९६।।
अयं हि सर्वकल्पनाम् उत्तमः परिकीर्तितः।।
त्रिषु स्वाश्रमधर्मेषु प्रथमे वा प्रतिष्ठितः।।१९७।।
न्यासे सर्वपरित्यागी नष्टाहम्ममताभिदः।।
योगमुत्तममास्थाय लोकातीतो बहिर्दृशिः।।१९८।।
असम्प्रज्ञातयोगेक्षो देहत्यागे विमुच्यते।।
तादृशस्य बलाद् वापि देहत्यागो विमुक्तिदः।।१९९।।
सम्प्रज्ञातसमाधिस्थः साङ्ख्येनात्मविभिन्नदृक्।।
विकृतं प्रकृतेः कार्यं मायेति त्यक्तविग्रहः।।२००।।
एवं योगं च साङ्ख्यं च समास्थापयति कृती।।
योगेन त्यक्तदेहश्चेत् क्रमान् मुक्तिं स विन्दति।।२०१।।
ब्रह्मलोकप्रवृत्तानां या गतिः तस्य सा भवेत्।।
भक्ताधिकारिणां मुक्तिः अन्यथा प्रकृतौ लयः।।२०२।।
पुनः सृष्टौ तथैश्वर्यं कर्मिणां पुनरागतिः।।
आसन्योपासकानान्तु ब्रह्मणा सह मुक्तता।।२०३।।

अभक्ते पुनरावृत्तिः योगनिष्ठां गतस्य तु।।
ऐश्वर्यादि हरेर्भक्तो भित्वाण्डं प्रविशेद् हरिम्।।२०४।।
केवलेन हि साङ्ख्येन विविक्त्याध्यात्मसंस्थितिः।।
नैव किञ्चित् करोमीति दृढबुद्धिरसक्तधीः।।
अन्तेऽप्येवं सदा ध्यायन् अविद्यातो विमुच्यते।।२०५।।
केवलेनापि योगेन दग्धकर्ममलाशयः।।
योगवीर्येण जितदृक् लिङ्गं भित्वा तथा भवेत्।।२०६।।
योगसाङ्ख्ये धर्महीने विमार्गे परिपोषिते।।
नरकायैव भवतः पश्चात् किञ्चित् सुखं भवेत्।।२०७।।
ज्ञानाङ्गे चित्तरोधे च तौ प्रमाणं न सर्वथा।।
पदार्थतत्वनिर्द्धारे न प्रमाणं कथञ्चन।।२०८।।
फलांशे तु प्रमत्तस्य शास्त्रमात्रपरस्य हि।।
नरकस्त्वन्यथाभावात् तेन मूले विनिन्दितौ।।२०९।।
फलांशे तु स्तुतौ कृष्णवाक्ये भागवतेऽपि च।।
तदन्येषां मतानां तु सर्वथा व्यर्थता मता।।
न तैरिष्टेन युज्येत मिथ्यार्थाऽभिनिवेशतः।।
तस्माद् वेदोक्तमार्गेषु न स्वल्पोऽपि पतेद् बुधः।।
अतः सएव सद्धर्म्मैः सेव्यो वर्णिभिरादरात्।।२१०।।
धर्ममार्गं परित्यज्य छलेनाधर्मवर्तिनः।।
पन्तति नरके घोरे पाषण्डमतवर्तनात् ।।२११।।
अधुना तु कलौ सर्वे विरुद्धाचारतत्पराः।।
स्वाध्यायादिक्रियाहीनाः तथाचारपराङ्मुखाः।।२१२।।
क्रियमाणं तथाचारं विधिहीनं प्रकुर्वते।।
विक्षिप्तमनसो भ्रान्ताः जिह्वोपस्थपरायणाः।।२१३।।
व्रात्यप्रायाः स्वतो दुष्टास् तत्र धर्मः कथं भवेत्।।
षड्भिः सम्पद्यते धर्मस् ते दुर्लभतराः कलौ।।२१४।।

अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेत् सदा।।
श्रीभागवतमार्गेण स कथञ्चित् तरिष्यति।।२१५।।
अत्रापि वेदनिन्दायाम् अधर्मकरणात् तथा।।
नरके न भवेत् पातः किन्तु हीनेषु जायते।।२१६।।
पूर्वसंस्कारतस् तत्र भजन् मुच्यते जन्मभिः।।
अत्यन्ताभिनिवेशश्चेत् संसारे न भवेत् तदा।।
एतावन्मात्रताप्यस्ति मार्गेऽस्मिन् मुरवैरिणः।।२१७।।
सर्वत्यागेऽनन्यभावे कृष्णमात्रैकमानसे।।
सायुज्यं कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुवं फलम्।।२१८।।
एतादृशस्तु पुरुषः कोटिष्वपि सुदुर्लभः।।
यो दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।।
हित्वा कृष्णे परं भावं गतः प्रेमप्लुतः सदा।।२१९।।
विशिष्टरूपं वेदार्थः फलं प्रेम च साधनम्।।
तत्साधनं नवविधा भक्तिस् तत्प्रतिपादिका।।२२०।।
गीता सङ्क्षेपतस् तस्या वक्ता स्वयमभूद्धरिः।।
तद्विस्तारो भागवतं सर्वनिर्णयपूर्वकम्।।
व्यासः समाधिना सर्वम् आह कृष्णोक्तमादितः।।२२१।।
मार्गोऽयं सर्वमार्गाणाम् उत्तमः परिकीर्तितः।।
यस्मिन् पातभयं नास्ति मोचकः सर्वथा यतः।।२२२।।
वर्णाश्रमवतां धर्मे मुख्ये नष्टे छलेन तु।।
क्रियमाणे न धर्मः स्याद् अतस्ततस्मान्न मोचनम्।।२२३।।
बुद्धिमानादरं तस्मिन् छले साध्येऽपि दुःखतः।।
त्यक्त्वा मार्गे ध्रुवफले भक्तिमार्गे समाविशेत्।।२२४।।
विरुद्धकरणं नास्ति प्रक्रिया न विरुध्यते।।
कल्पितैरेव बाधः स्याद् अवोचाम प्रमाणताम्।।२२५।।
सर्वथा चेद् हरिकृपा न भविष्यति यस्य हि।।

तस्य सर्वम् अशक्यं स्यान् मार्गेऽस्मिन् सुतरामपि।।
कृपायुक्तस्यतु यथा सिध्येत् कारणमुच्यते।।२२६।।
कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्।।
श्रीभागवत-तत्वज्ञं भजेज् जिज्ञासुरादरात्।।२२७।।
तदभावे स्वयं वाऽपि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्।।
परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम्।।२२८।।
साकार-व्यापकत्वाच्च मन्त्रस्यापि विधानतः।।
श्रीकृष्णं पूयेद् भक्त्या यथालब्धोपचारकैः।।२२९।।
यथा सुन्दरतां याति वस्त्रैराभरणैरपि।।
अलङ्कुर्वीत सप्रेम तथा स्थानपुरःसरम्।।२३०।।
भार्यादीरनुकूलश्चेत् कारयेद् भगवत्क्रियाम्।।
उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजेत्।।
तत्त्यागे दूषणं नास्ति यतो विष्णुपराङ्मुखाः।।२३१।।
सर्वथा वृत्तिहीनश्चेद् एकं यामं हरौ नयेत्।।
पठेच्च नियमं कृत्वा श्रीभागवतमादरात्।।२३२।।
सर्वं सहेत पुरुषं सर्वेषां कृष्णभावनात्।।
वैराग्यं परितोषं च सर्वथा न परित्यजेत्।।२३३।।
एतद् देहावसाने तु कृतार्थः स्यान् न संशयः।।
इति निश्चित्य मनसा कृष्णं परिचरेत् सदा।।२३४।।
सर्वापेक्षां परित्यज्य दृढं कृत्वा मनः स्थिरम्।।
दृढविश्वासतो युक्त्या यथा सिद्धयेत् तथाचरेत्।।
वृथालाप-क्रिया-ध्यानं सर्वथैव परित्यजेत्।।२३५।।
यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः।।
येन स्यान् निर्वृतिश्चित्ते तत् कृष्णे साधयेद् ध्रुवम्।।२३६।।
स्वयं परिचरेद् भक्त्या वस्त्रप्रक्षालनादिभिः।।
एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि पूजयेत्।।२३७।।

स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम्।।
इन्द्रियाश्वविनिग्राहः सर्वथा न त्यजेत् त्रयम्।।२३८।।
एतद्विरोधि यत्किञ्चित् तत्तु शीघ्रं परित्यजेत्।।
धर्मादीनां तथा चास्य तारतम्यं विचारयन्।।२३९।।
यथा-यथा हरिः कृष्णो मनस्याविशते निजे।।
तथा-तथा साधनेषु परिनिष्ठा विवर्धते।।२४०।।
कृष्णे सर्वात्मके नित्यं सर्वथा दीनभावना।।
अहङ्कारं न कुर्वीत मानापेक्षां विवर्जयेत्।।२४१।।
सर्वथा तदुणालापं नामोच्चारणमेव वा।।
सभायामपि कुर्वीत निर्भयो निस्पृहस् ततः।।२४२।।
साधनं परमेतद्धि श्रीभागवतमादरात्।।
पठनीयं प्रयत्नेन निर्हेतुकम् अदम्भतः।।२४३।।
शङ्ख चक्रादिकं धार्यं मृदा पूजाङ्गमेव तत्।।
तुलसीकाष्ठजा माला तिलकं लिङ्गमेव तत्।।२४४।।
एकादश्युपवासादि कर्तव्यं वेधवर्जितम्।।
तथा कृष्णाष्टमी चापि सप्तमी वेधवर्जिता।।
अनन्यान्यपि तथा कुर्याद् उत्सवो यत्र वै हरेः।।२४५।।
एतत् सर्वं प्रयत्नेन गृहस्थस्य प्रकीर्तितम्।।
अन्येषां सम्भवेत्तु स्यात् यतेः पर्यटनं वरम्।।२४६।।
विक्षेपाद् अथवा शक्त्या प्रतिबन्धादपि क्वचित्।।
अत्याग्रहप्रवेशे वा परपीडादिसम्भवे।।
तीर्थपर्यटनं श्रेष्ठं सर्वेषां वर्णिनां तथा।।२४७।।
यज्ञास्तीर्थानि च पुनः समानि हरिणा कृताः।।
अतस्तेष्वप्रतिग्राही तद्दिनान् नाधिकस्य हि।।२४८।।
हतत्रपः पठन् नित्यं नामानि च कृतानि च।।
एकाकी निस्पृहः शान्तः पर्यटेत् कृष्णतत्परः।।२४९।।

देहपातनपर्यन्तम् अव्यग्रात्मा सदा गतिः।।
उत्तमोत्तममेतद्धि पूर्वम् उत्तममीरितम्।।२५०।।
गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्यक्तुं न शक्यते।।
कृष्णार्थं तत् प्रयुञ्जीत कृष्णः संसारमोचकः।।२५१।।
धनं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्यक्तुं न शक्यते।।
कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्णोऽनर्थस्य वारकः।।२५२।।
अथवा सर्वदा शास्त्रं श्रीभागवतमादरात्।।
पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितम्।।२५३।।
वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि।।
तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहमाचरेत्।।
त्रयाणां येन केनापि भजन् कृष्णमवाप्नुयात्।।२५४।।
जगन्नाथे विट्ठले च श्रीरङ्गे वेङ्कटे तथा।।
यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेत तत्परः।।२५५।।
एतन्मार्गद्वयं प्रोक्तं गति-साधनसंयुतम्।।
कर्ममार्गं प्रवक्ष्यामि भ्रान्तानां बहुशः फलम्।।२५६।।
अयथाज्ञानतः कर्म कुर्वाणास्त्रिविधा मताः।।
सात्विकादिविभेदेन कर्म चाऽपि त्रिविधा भवेत्।।२५७।।
सात्विकः सात्विकं कर्म यथाश्रुतिपरः कृती।।
स्वर्गलोकस्तस्य सिध्येद् विमानस्त्रीभिरावृतः।।२५८।।
पुण्यस्य तु तिरोधाने पतत्यर्वाक्शिरास्ततः।।
पुण्यशेषं समादाय समीचीनेषु जायते।।२५९।।
राजसं कर्म कुर्वाणो मेर्वादिसुखभाग् भवेत्।।
तामसं कर्म कुर्वाणः पाताले सुखभाग् यथा।।२६०।।
राजसः सात्विकं कुर्वन् दैत्यस्वर्गेषु जायते।।
राजसं कर्म कुर्वाणश्चन्द्रलोके सुखी भवेत्।।२६१।।
वृष्टिद्वारान्नरूपः सन् रेतोयोनिषु जायते।।

तामसं कर्म कुर्वाणो यक्षलोके सुखी भवेत्।।२६२।।
तामसः सात्विकं कुर्वन् पितृलोके महीयते।।
राजसं कर्म कुर्वाणो भूतादिसुखमाप्नुयात्।।
तामसं कर्म कुर्वाणः सर्पादिसुखभाग् भवेत्।।२६३।।
सर्वेषां पुनरावृत्तिस् तथा कर्म पुनर्भवः।।
एवं त्रयीधर्मपरा गतागतमवाप्नुयुः।।२६४।।
तत्-तद्देवोपासकानाम् आजन्मोपासने फलम्।।
तत्-तत्सायुज्यरूपादिवेदोक्तानाम् अकधा।।
पौराणिकनां च तथा निषिद्धेतरभावतः।।२६५।।
यजन्ते सात्विका देवान् यक्ष-रक्षांसि राजसाः।।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।।२६६।।
विहितानेककर्तृणां देहान्ते यदुपासनम्।।
तत्सायुज्यादिसिद्धिःस्यात् तत्पोषोऽन्यस्य वैफलम्।।२६७।।
कर्मणां गहना रीतिर् ब्रह्मणापि न बुद्ध्यते।।
ईश्वरत्वात् तदिच्छायाः प्रधानत्वाद् अनेकधा।।
तदुद्रेकोऽवसाने स्यात् कृपाक्रोधविभेदतः।।२६८।।
कृपयाधमतां प्राप्य भक्तं वै मोचयेत् क्वचित्।।
अनियुक्ततपस्यानां पीडया क्रोधतः क्वचित्।।
हीनभावं नयत्येष दुष्टं वा मोचयेत् क्वचित्।।२६९।।
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यश्च विकर्मणः।।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।२७०।।
अतश्च सुतरामेव कर्ममार्गो दुरत्ययः।।
अतोऽपि भजनं कार्यं भजनेन हि तादृशम्।।२७१।।
अन्योन्यनाशकत्वश्च कर्मणां भवति क्वचित्।।
कर्ममार्गे फलं तस्मान् न निरूप्यं हि सर्वथा।।२७२।।
जायस्वेति म्रियस्वेति तृतीयो यदुदाहृतः।।

प्रकीर्णकानां सर्वेषां तत्फलां परिकीर्तितम्।।२७३।।
ईश्वरालम्बनं योगो जनयित्वा तु तादृशम्।।
बहुजन्म विपाकेन भक्तिं जनयति ध्रुवम्।।२७४।।
साङ्ख्येऽपि भगवच्चिते फलमेतन् नचान्यथा।।
समर्पणात् कर्मणां च भक्तिर्भवति नैष्ठिकी।।२७५।।
योगेनतु निषिद्धेन यदि देहः प्रसिद्ध्यति।।
तदा कल्पान्तपर्यन्तं भावनातस्तु सत्फलम्।।
अन्यथा नरके पातो दृढभूमौतु संस्थितिः।।२७६।।
छलयोगस्तथा साङ्ख्यं शाक्तो मार्गोऽभिधीयते।।
सिद्धान्ताश्च तथा कौला लोकातीतविभेदतः।।२७७।।
साङ्ख्ये भेदद्वयं तत्र द्वितीयेऽनुग्रहादिकम्।।
आद्ये लोकस्य सन्मानम् अन्त्ये तुल्यं तमस्तयोः।।२७८।।
लोके व्यामोहकं शास्त्रं सप्तानां बोधकः शिवः।।
कलौ जनिष्यमाणानाम् असुराणां क्षयाय हि।।२७९।।
वामाः शाक्ताश्च योगे तु प्रकटाप्रकटेभिदा।।
प्रकृतिस्तत्र संराध्या साध्यो योगश्च तुष्टये।।२८०।।
शैवश्च वैष्णवश्चैव उपास्ये भेदकद्वयम्।।
कर्मासक्तास्तु ये तत्र वैदिकाः समुदाहृताः।।२८१।।
सप्तापि सर्वथा त्याज्या भगवान्मार्गवर्तिभिः।।
बौद्धाश्चतुर्विधाः पूर्वम् अन्तरानन्तमार्गिणः।।२८२।।
तेषां बृहस्पतिमुखाः कर्तारो हरिरद्य तु।।
कृष्णसङ्गोपनार्थाय स्वयमेव जगाद ह।।२८३।।
वेदमार्गविरोधेन येषां करणमण्वपि।।
ते हि पाषण्डिनो ज्ञेयाः शास्त्रार्थत्वेन वेषिणः।।२८४।।
सर्वेषां नरके वासः तमोऽर्वाक् प्रतिपादके।।
नरकात् पुनरावृतौ नानायोनिषु सम्भवः।।२८५।।

आनन्दस्य तिरोभावः सर्वथा दुःखमुच्यते।।
तस्य स्थानं तु सर्वत्र यमलोको विशेषतः।।२८६।।
शुद्धं तमो दुःखरूपं सहजासुरसंश्रयम्।।
सर्वत्र नरकश्चैव तमश्चेति त्रिधा तु तत्।।२८७।।
सर्वत्र स्वर्गलोकश्च वासुदेवस्त्रिधा सुखम्।।
सुखधर्मस्ततथेच्छा स्यात् किञ्चिदुद्रम एव सः।।२८८।।
सर्वथा ह्युद्रमः कामो धर्मिणस्तु सुखं स्मृतम्।।
द्वेषक्रोधस् तथा दुखं पूर्ववद् दुःखधर्मतः।।२८९।।
लोभोऽति किञ्चिदुद्भेदो धर्मयोः सुख-दुःखयोः।।
मोहस्तु द्विविधः प्रोक्तो धर्मवत् सुख-दुःखयोः।।२९०।।
मदे सुखसमुद्भेदो मात्सर्येऽन्यस्य केवलः।।
अन्येषां सर्वधर्माणां तद्धर्मोद्रम एव च।।२९१।।
विपाकः कर्मणां येषां प्राग्देहविनिपाततः।।
प्राप्तस्तानीह भुज्यन्ते ततोऽन्यानि भवान्तरे।।२९२।।
एते सर्वे विशेषेण जीवसन्निधिमात्रतः।।
स्फुरन्त्यन्यस्याभिमानाज् जीवो दुःखी निगद्यते।।२९३।।
अग्र-पश्चाद्भावतश्च कर्मणा स्फुरितो हरिः।।
अग्रोद्रमानुद्रमनैः सुख-दुःखे तनोति हि।।२९४।।
ज्ञाने यर्हि मनोराज्यं शोकस् तेनापि नो भवेत्।।
त्रिविधं दुःखमेतद्वि भवत्येव न संशयः।।२९५।।
सर्वाध्यासनिवृत्तौ हि सर्वथा न भवेद् व्यथा।।
साच विद्योदये साच न शब्दात् सुविचारितात्।।२९६।।
मर्यादाभङ्गएव स्यात् प्रमाणानां तथा सति।।
गजानुमानं नैव स्यात् साङ्कर्य वा तथा भवेत्।।२९७।।
दशमस्त्वमसीत्यादौ देहादिविषयत्वतः।।
शब्दस्य साहचर्येण चक्षुषैव भवेन् मतिः।।

स्मारकत्वम् अतो वाक्ये सङ्खचाज्ञानं पुरा यतः।।।।२९८।।
अध्यासस्यानिवृत्तत्वान् न विविक्तात्मदर्शनम्।।
मनसा शक्यते कर्तुं नान्यथा सर्वदा भवेत्।।२९९।।
प्रत्यक्षेणापि विज्ञानं मायया ज्ञानकाशया।।
स्वप्नप्रबोधरीत्या हि किमु शाब्दं निवारयेत्।।
सर्वज्ञत्वं सर्वभावज्ञानं चापाततः फलम्ः।।३००।।
सर्वो न ब्रह्म सर्वं तु वामदेवस् तथा जगौ।।
अवयुत्या गर्भवासी सूर्याद्यनुवदन् मुहुः।।३०१।।
ज्ञानदुर्बलवाक्यत्वात् पाषण्डवचनं मतम्।।
सत्ये युगेऽतिमहतां भवत्येतन् न चान्यथा।।३०२।।
स्वप्नो जागरणं चैव यथा ह्यन्योन्यवैरिणौ।।
विद्याविद्ये तथा स्यातां नतु सर्वात्मना लयः।।३०३।।
इदमेव विनिश्चित्य कृष्णो ह्यर्जुनमब्रवीत्।।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।३०४।।
एवकारेण सर्वेषाम् अनुपायत्वमाह हि।।
ज्ञानादीनां हि सर्वेषां तदधीनत्वतः सदा।।
विश्वासं सर्वतस् त्यक्त्वा कृष्णमेव भजेद् बुधः।।३०५।।
न दृष्टः श्रुतपूर्वो वा भजन् कृष्णमनामयम्।।
न मुक्तः सर्वथा यस्मात् गोप्यो गावस्तथाऽभवन्।।३०६।।
आपाततस्तु सर्वेषाम् उपायत्वं मयोदितम्।।
विष्णुः कृपाविशिष्टानां तत्फलं नान्यथा भवेत्।।३०७।।
यन्नयोगेन साङ्खचेन दानवृततपोध्वरैः।।
व्याख्यास्वाध्यायसन्न्यासैः प्राप्नुयाद् यद्यत्नवानपि।।३०८।।
तस्मात् त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।।
प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च श्रोतव्यं श्रुतमेव च।।३०९।।
मामेकमेव शरणम् आत्मानं सर्वदेहिनाम्।।

याहि सर्वात्मभावेन यास्यते ह्यकुतोभयम्।।३१०।।
इत्येकादशसर्वस्वं भगवान् स्वयमुक्तवान्।।
आत्मानं हि स्वयं वेद तस्माद् अन्यवचो मृषा।।३११।।
कर्मयोगादयः सर्वे कृष्णोद्गमनहेतवः।।
उदासीनतयाद्भेदान् नहि सर्वात्मना फलम्।।३१२।।
भक्तावत्यादरेणैव प्रकटो जायते हरिः।।
आत्मानं च ततो दद्यात् सुखे का परिदेवना।।३१३।।
सहनं खननं गङ्गातीरस्थितिवदेव तत्।।
साङ्ख्यो योगस्ततथा भक्तिः तत्र प्रेमातिसौख्यदम्।।३१४।।
पिता चरेद् यथा बाले सुखं भक्ते तथा हरिः।।
प्रेम्णैव सेवितोऽत्यर्थं गोपीनां कामदो यतः।।३१५।।
अच्छिद्रसेवनात् चैव निष्कामत्वात् स्वयोग्यतः।।
द्रष्टुं शक्यो हरिः सर्वैर् नान्यथा तु कथञ्चन।।३१६।।
दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन-केन-चित्।।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः।।३१७।।
श्रृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः।।
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।।
तएव पश्यन्त्यचिरेण तावकं।।
भवप्रवाहो परमं पदाम्बुजम्।।३१८।।
अन्तर्बहिः साधनयोः स्वरूपं परिकीर्तितम्।।
प्रकारश्चाप्ययं प्रोक्तो दर्शने नान्यथा तु तत्।।३१९।।
सर्वापेक्षापरित्यागात् पौरुषस्य सभाजनम्।।
आसक्त्या भगवद्भक्तैः परं दर्शन साधनम्।।३२०।।
कपिलादिर् महायोगी पूर्वं येनोपलब्धवान्।।
तं प्रकारमिहोवाच पाक्षिकं तद्धि साधनम्।।३२१।।
राजवत् कुत्रचित् कृष्णः कस्यचित् केनचित् फलम्।।

ददाति तावता नित्यं सर्वत्रेति न निश्चयः।।३२२।।
प्रेम्णा सेवा तु सर्वत्र सेव्यवश्यत्वसाधनम्।।
किञ्चिद्भक्तियुतश्चेत् स्यात् योगादिः साधनंक्वचित्।।३२३।।
सर्वं ब्रह्मात्मकं जानन् कर्म चापि तथाऽऽचरन्।।
पञ्चकर्मविधानेन षोढाऽपि प्रकटः सदा।।
निर्बन्धेन फलत्येष नच भक्त्या यथा तथा।।३२४।।
कणादादिमुनिश्रेष्ठाः शुक्रमोहितबुद्धयः।।
वृथाशास्त्रकलापं हि जगुस्तेन न चान्यथा।।३२५।।
प्रेम्णान्यत् साधनं लोके नास्ति मुख्यं परं महत्।।
श्रीभागवतमेवात्र परं तस्य हि साधनम्।।३२६।।
अधिकारम् अभिप्रायं ज्ञात्वा भक्तमुखेन हि।।
सकृत् श्रवणमात्रेण कृष्णे प्रेम भवेद् ध्रुवम्।।३२७।।
विरक्तो विपरीतादिभावनारहितः सुहृत्।।
लीलामात्रश्रुतौ तस्य भवेत् प्रेमाखिले किमु।।३२८।।
श्रीभागवततत्वार्थम् अतो वक्ष्ये सुनिश्चितम्।।
यज्ज्ञानात् परमा प्रीतिः कृष्णं शीघ्रं फलिष्यति।।३२९।।

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिते श्रीभागवततत्वदीपे
सर्वनिर्णयकथनं नाम द्वितीयं प्रकरणम्।।

तत्वार्थदीपनिबन्धके
सर्वनिर्णय प्रकरणकी
विषयानुक्रमणिका

(१)प्रमाणप्रकरण कारिका १-८३ (२)प्रमेयप्रकरण कारिका ८४-१८४

(३)फलसाधनप्रकरण कारिका १८४-३२५ (४)ग्रन्थोपसंहार कारिका ३२६-३२९

विषय **पृष्ठ**

(१) प्रमाणप्रकरणम् १-

(क) श्रुतिप्रकरण कारिका १-३२

१. सर्वनिर्णयके बोधके तांई ग्रन्थमें निरूपित प्रमाण-प्रमेय-साधन-फल रूप प्रक्रियाको निरूपण ००१

२. वेदार्थरूप भगवान्‌की मङ्गलाचरणद्वारा स्तुति ००२

३. अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, पशु, चातुर्मास्य तथा सोम एसें पञ्चविधकर्मरूप भगवान् हरि ही हें ००३

४. साध्य कर्मरूप जेसें भगवान् ही हें एसें साधनरूप हु भगवान् ही हें ००४

५. कर्मफलके स्वरूपको तथा ज्ञानसहित तथा ज्ञानरहित कर्मन्‌में तारतम्यको निरूपण ००५

६. वेदके अर्थके स्वरूपको निरूपण करिके वेदके स्वरूप तथा प्रयोजन को निरूपण ०१६

७. वेदकी शाखान्‌के भेद तथा वाके अर्थको निरूपण ०२३

८. वेदार्थरूप कर्मके अनुष्ठानके प्रकारमें तथा कर्मकर्ताके स्वरूपको निर्धारण करिवेमें इच्छा ही हेतु होय हे अथवा कोई व्यवस्था हे वाको निर्णय ०२८

९. श्रुतिप्रकरणको उपसंहार ०२८

(ख) स्मृतिप्रकरण कारिका ३३-४७

१. वेद तथा आचार के भेदसों स्मृतिन्की अनेकरूपताको निरूपण ०३०
२. स्मृतिसंवादी वेदके अंश उपलब्ध होय हें तब स्मृतिरूपता केसे सिद्ध हो हे? शङ्का-सामधान ०३२
३. नित्यानुमेयवेद मूलिका स्मृतिमें सङ्गृहीत पांच धर्म ०३६
४. काम्य होयवे पर हु व्रत-तीर्थादिकी नित्यताको विधान वेदके अनधिकारिन्के अर्थ हे. वस्तुतः व्रत-तीर्थादिको मूल पूराणमूलक पूर्वर्षीन्को आचार ही हे ०३७
५. कृषि आदि जीविकाको निरूपण करिवेवारी स्मृतिन्को हु मूल पूर्वर्षीन्के आचार ही हे. कर-दण्डादिकी व्यवस्था बतायवेवारी स्मृतिन्को मूल युक्ति हे. ०३८
६. कर्माङ्ग पदार्थन्की संस्काररूप शुद्धि बतायवेवारी स्मृति वेदमूलिका हे. तद्भिन्न शुद्धि बतायवेवारी स्मृति आचार-मूलिका हे. ०३९
७. कल्पसूत्रन्को अर्थ वैदिक होयवे पर हु विनमें स्वरादि नहीं होयवेसुं तथा विनके रचयिताको उल्लेख होयवेसुं कल्पसूत्र स्मृतिरूप हें. ०४०
८. गृह्यसूत्रोक्त इष्टि-औपासन आदि श्रौत नहीं हें ०४१
९. श्रौत-स्मार्त कर्मन्में श्रौतकर्म बलिष्ठ हें. ०४१
१०. स्मृतिन्में निरूपि ब्रह्मज्ञान कल्पसूत्रके समान हे. वस्तुतः स्मृतिनिरूपित ब्रह्मज्ञान वेदमूलक नहीं होयके पुराणमूलक हे. तासोंही वेदनिरूपित ब्रह्मज्ञानकी न्यांई स्वतन्त्र फलसाधक नहीं होयके सहायकमात्र हे. ०४३

(ग) पुराणप्रकरण ४८-७१

१. पुराणन्में धर्मार्थकाममोक्षको नित्य-काम्यभेदसों निरूपण. यज्ञकी न्यांई पुराणोक्तधर्मके हु देशकालादि अङ्ग हें.

वैदिकधर्मको अतिदेश पुराणोक्त धर्ममें हे. पुराणोक्तधर्म
वैदिकधर्मको उपयोगि हे. ०४५
२. वेदोक्त कर्मन्को भाव तथा अभिप्राय एवं सृष्ट-
पदार्थन्को यथार्थज्ञान हु पुराणन्सों ही जान्यो जाय
वेदशाखाकी न्यांई पुराणके हु विभाग तथा वाके तात्पर्यको
विवेचन. ०४८
३. सात्विक-राजस-तामस कल्पानुसार पुराण हु
सात्विकादि होय हें. सात्विकादिक्लपानुसार
सात्विकादिपुराणन्को धर्मार्थकाममोक्ष, भक्ति तथा
भगवत्स्वरूप के विषयमें प्रामाण्यको निर्णय. ०५२
४. इतिहासरूप महाभारत हु पुराणतुल्य होयवेसुं तद्विषयक
हु कल्पभेदादि व्यवस्थाको निरूपण. ०६१
५. कल्पके स्वरूप आदिको निरूपण. ०६२
६. श्रीभागवतके प्राकट्यके प्रयोजनको विचार, भागवत
गीताके व्याख्यानरूप हे, वेदतुल्य होयवे पर हु भागवतको
पुराणरूपसों निरूपणको तात्पर्य, भागवतकी
सर्वाधिकारिताकोनिर्णय. ०६३
७. साङ्खच-योग-पुराण-उपनिषन्को आभास उत्पन्न
करिवारे ग्रन्थन्की मोहोत्पादकताके निरूपण पूर्वक पुराण-
प्रकरणकोउपसंहार. ०७२
(घ) छे वेदाङ्ग, चार उपवेद, काव्य-न्याय-मीमांसा
आदि के सम्बन्धमें निर्णय. कारिका ७२-८३
१. शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा
ज्योतिष की वेदरक्षार्थ आवश्यकताको निरूपण. ०७४
२. उपवेदन्को स्वरूप तथा प्रयोजन. ०७७
३. असदर्थके प्रतिपादक काव्यादि ग्रन्थन्को धर्ममें अनुपयोग. ०७९

४. वाल्मीकि रामायण काव्य होयवे पर हु समाधिमें
प्राप्त श्रीरामचरित्रको वाल्मीकिद्वारा निरूपण होयवेसों धर्म
तथा भगवत्स्वरूपके निर्धारणमें वाको प्रामाण्य, वाशिष्ठ
रामायणको वाल्मीकि रामायणके अविरोधांशमेंही प्रामाण्य. ०८०
५. काणादादि अन्य शास्त्रन्‌की मोहकता, ‘‘पुराणन्याय–
मीमांसा’’ वचनमें ‘न्याय’शब्दको नीतिशास्त्र अर्थ, एसेंही
‘‘यस्तर्केणानुसन्धत्ते’’ में ‘तर्क’शब्द वेदानुकूलतर्कवाचक
मीमांसा परक समझनो. एसें प्रमाणप्रकरणको उपंहार. ०८१
(२) प्रमेयप्रकरण
(क) कारणादि त्रिविधरूपसों प्रमेयवर्णनको प्रकरण. कारिका ८४–१४६
१. कारण–कार्य–स्वरूपके भेदासों प्रमेयवर्णनकी प्रतिज्ञा
पूर्वक उपक्रम. ०८२
२. सच्चिदानन्दरूप ब्रह्ममें चिदानन्दांश स्वयं कारण नहीं बन
सकते होयवेसों ब्रह्मके सदंशकी कारणता, कारणकाटिमें २८
तत्व, ये २८ तत्व अण्डसृष्टिके पूर्व उत्पन्न होयवेसुं विनकी
कारणता हे, अन्य कोई अर्थमें कारणता नहीं हे. ०८४
३. कार्यकोटिमें अनन्त भेद होयवेसों कार्यन्‌की गणना
अशक्य तथा निष्पयोजन हे. ०८४
४. स्वरूपकोटिके १.क्रिया २.ज्ञान तथा ३.क्रियाज्ञानविशिष्ट
भगवान् कृष्ण एसें तीन भेद. पूर्व तथा उत्तर काण्ड क्रमशः
क्रिया तथा ज्ञान के प्रतिपादक हें. गीताभागवत
क्रियाज्ञानविशिष्ट कृष्णके प्रतिपादक हें. ०८४
५. लौकिक–वैदिकके भेदसों क्रिया–ज्ञान द्विविध हें.
लौकिक क्रिया–ज्ञानको फल लौकिक होत हे. वैदिक
क्रिया–ज्ञानको फल अलौकिक होत हे. क्रियाज्ञानविशिष्ट भगवान्
रूप फलकी अभिव्यक्ति तो प्रेमपूर्वक सेवासों ही होत हे.
प्रेमसेवासों होते प्रादुर्भावकुं दैत्यन्‌के वधार्थ होते प्रादुर्भाव

जेसो नहीं समुझनो. ०८५

६. मोहकशास्त्रन्‌की न्यांई कार्यके भेदोपभेदन्‌की गणना करिवेसों कछु पुरुषार्थ सिद्ध होत नाहीं हे. ०८६

७. २८ कारणतत्वन्‌की गणना. ०८८

८. दिश, वायु आदि देवता इन्द्रियरूप होय जाते होयवेसों तथा माया गुणरूप, काल भगवद्रूप तथा सूत्र-प्राण महत्तत्वरूप होय जाते होयवेसों विनकी पृथक् कारणरूपसों गणना नहीं कीनी हे. तासों२८तत्वही कारणकोटिमें जाननें. ०८८

९. अक्षर-काल-कर्म-स्वभावको कारणकोटिमें निरूपण. ०९०

१०. प्रागभावके कारण होयवेकी शङ्का करिके वाकी तत्वताको निराकरण. १०१

११. घट-पटादिरूप कार्यकी गणना निष्प्रयोजन तथा अशक्य, शास्त्रदृष्टिसों सर्व कार्यन्‌को विभाजन व्यष्टि-समष्टिरूपसों. तामें सत् अधिभूत, चित् अध्यात्म तथा आनन्द अधिदैव तेसेंही देह अधिभूत, जीव अध्यात्म तथा ईश-अन्तर्यामि अधिदेव, याही प्रकारसों सर्वत्र समष्टि-व्यष्टिभेदसों त्रैविध्य समझनो. १०३

१२. ब्रह्मके १.अन्तर्यामि २.अक्षरब्रह्म तथा १.श्रीकृष्ण एसें तीन भेद, कर्म-स्वभाव-काल तो अक्षरके भेद जाननें, ब्रह्मा-विष्णु-शिव श्रीकृष्णके भेद जाननें, प्रतिजीव भिन्न-भिन्न होयवेसों अन्तर्यामिन्‌की गणना अशक्य. १०५

१३. जीव, अक्षर तथा कृष्णमें रहिवे वारी क्रमशः अविद्या, प्रकृति तथा माया भगवान्‌की शक्ति हे. १०६

१४. महादादि तत्वन्‌को हु समष्टि-व्यष्टिभेदसों आदिदैविक-आद्यात्मिक-आधिभौतिकत्वको निरूपण. १०६

१५. देवतान्‌के स्थानभूत लोकमेंहु उक्त त्रैविध्यको निरूपण. ११०

१६. क्रिया-ज्ञान भगवद्रूप होयवेसों नित्य हें तब विनके
जन्मनाश असङ्गत होंयगे तथा क्रियाज्ञानके जन्मादिके
अर्थ इन्द्रियन्‌कीहु व्यर्थता होयगीएसीशङ्काको निराकरण. ११२
१७. स्वरूपतः ज्ञानको नित्य तथा बुद्धिवृत्तिमें नित्यज्ञानके
प्रतिबिम्बको कार्यरूप ज्ञान मानिवेवारे मायावादिन्‌की
विषयप्रतिबिम्बकी कल्पनामें दूषण बताते भये कार्यरूप
ज्ञान तथा नित्यज्ञानके भेदको तथा अवस्थाभेदकी
व्यवस्थासों अनित्य वृत्तिपक्षको उपस्थापन. ११४
१८. सब कछु ब्रह्मात्मक होयवेसों नित्य हे. तासों सबको
आविर्भाव-तिरोभाव ही होत हे, उत्पत्ति-विनाश नहीं.
तहां आविर्भाव-तिरोभावके स्वरूपको निरूपण, छे
भावविकारन्‌को हु आविर्भाव-तिरोभावकी प्रक्रियासोंही
व्याख्यानरीतिको प्रतिपादन. ११८
१९. प्रकृत विषयको उपसंहार करते भये भगवान्‌की इच्छासों
अनेकविध सृष्टिके प्रकारन्‌की सम्भावनाको उपपादन. १२६

(ख)प्रमेयत्वापाधिसों प्रमाणन्‌के स्वरूपनिर्णयको प्रकरण.
कारिका १४७-१८४
१. शास्त्रीय प्रमेयमें प्रत्यक्षबाधको निराकरण करिवेके अर्थ
वाके स्वरूपनिरूप विचार पूर्वक वाके अप्रामाण्यको
प्रतिपादन. १२६
२. वैदिकशब्दन्‌की भगवद्रूपताको निरूपण करते भये
वैदिकशब्दन्‌के अंशभूत स्वर, स्पर्श, ऊष्मादिकी पूर्णताको
निरूपण, रूपसृष्टिमें सच्चिदानन्दरूप त्रैविध्यके जेसें नाम-
सृष्टिमें हु वर्ण-पद-वाक्यरूप त्रैविध्य, लौकिक-वैदिक
वर्ण-पदकी नित्यता, लौकिकवाक्य अनित्य होयवे पर हु

वैदिकवाक्य नित्य. १२९

३. वर्ण–पद–वाक्यमें अर्थवत्ताको विचार करते भये परमतके निराकरण पूर्वक स्वमतको स्थापन. १३१

४. पुराणन्‌की वेदतुल्यताको प्रतिपादन. १३८

५. लौकिकवाक्यके स्वरूपको बिचार. १३८

६. लौकिकवाक्यकी न्यांई वैदिकवाक्यन्‌में हु दोषकी सम्भवना होयवेसुं अप्रामाण्यकी आशङ्काको निराकरण, वर्णन्‌की नित्यता होयवे पर हु रूपसृष्टिमें ध्वन्यात्मक वर्णन्‌को शब्दतन्मात्रामें अन्तर्भाव होतो होयवेसुं तत्वस–ङ्‌ख्‌चामें अधिकता नहीं, नामसृष्टिमें वाकोही वर्णत्वेन निरूपण होयवेसुं तत्वाधिक्य नहीं, पदन्‌की अनित्यताके सम्बन्धमें शङ्का–समाधान. १३९

७. लौकिकवाक्यन्‌के लयके प्रकारको निरूपण, भगवद्वाक्यमें वासुं भिन्न प्रकार. १४२

८. प्रमाणन्‌को प्रमेयोपाधिसों वर्णन्‌को उपसंहार आकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिको लोकदृष्टिसों ही लौकिकवाक्यमें नियामकता, अखण्डाद्वैतदृष्टिसों तो आकाङ्क्षादिके अभावमें हु प्रामाण्य ही. १४३

९. अखण्डाद्वैतवादके अनुरोधसों नामविषयक उपासनाके प्रकारको वर्णन. १४५

१०. लक्षणा–गौणि शब्दकी वृत्तिन्‌के बिचारमें निरूढल क्षणाको अस्वीकार, लक्षणाकुं ही उपचारवश गौणी कही जाय हे. १४६

११. शब्द प्रवर्तक नहीं होय हें, भगवान्‌ ही प्रवर्तक हें. वेदमें मिथ्या प्रलोभन नहीं होयवेसुं अर्थवाद निरर्थक नहीं हें, अर्थवाद मिथ्यावस्तुके प्रतिपादक हु नहीं हें. उपासनाकी न्यांई

अर्थवादवाक्यन्में प्रतिपादित गुणन्के ज्ञान पूर्वक र्कम
करिवेको नियम, भगवान् प्रवर्तक होत हें या पक्षमें
वैषम्य-नैर्घृण्य दोषन्के परिहार पूर्वक सब कछु ब्रह्म
ही हे एसे ब्रह्मवादके उपदेशद्वारा प्रमेयप्रकरणको उपसंहार. १४९

(३) फल-साधन प्रकरण

(क)वर्णाश्रमीन्के श्रौत फल-साधनस्वरूपको निर्णय.

कारिका १८५-२१०

१. शास्त्रविहित साधनमात्रसों नहीं किन्तु विनके अङ्गन्
सहित करिवे पर ही फल होत हे. प्रसङ्गसों बहिरङ्ग-
साधनरूप जीविका, आचार आदिको निरूपण. १५७

२. शिलोञ्छवृत्तिसों सन्तुष्ट, तप-स्वाध्यायनिरत तथा
अग्निहोत्रादि निखिल कर्म करिवेवारेकुं ब्रह्मलोकगमनरूप
फल तथा ब्रह्माके सङ्ग हि वाकी मुक्ति होत हे.
उपर्युक्त अधिकारमें तारतम्य होयवे पर फलमें हु
तारतम्य होत हे. तैत्तिरीयोपनिषद् वर्णित उपान्त्यानन्दानुभव
पर्यन्त भोगन्कुं भोगिकें जीवकोपुन:पृथ्विपेंजन्महोयहे. १५८

३. एकाश्रमपक्ष, समनन्तरपक्ष तथा आयुर्भागक्रमपक्ष एसें
आश्रमव्यवस्थामें तीनोंही आश्रमव्यवस्थान्को प्रामाण्य हे,
चतुर्थ आश्रममें त्रिदण्ड ग्रहण करिवो ही पामाणिक. १६०

४. चार्यों आश्रमन्में आजीविकाकी व्यवस्था, अन्य हु
नियम, पूर्वोक्त आयुर्भागक्रमपक्षको किञ्चिद् वैशिष्ट्य,
चर्यों आश्रमन्में उत्तरोत्तर निष्ठामें वृद्धि पूर्वक भगवान्में
परमभक्तिको आविर्भाव होयवे पर संसारके तिरोधान,
दुर्लभ होयवेसों भगवत्स्वरूपैकनिष्ठ गुणातीत भक्तिको या
प्रकरणमें निरूपण नहीं, सर्व कल्पन्में ये ही उत्तम
कल्प, पूर्वोक्त भगवद्भावको लाभ भये पाछें चर्योंमेंसों

कोई भी आश्रममें स्थिति अनुमत. १६२

५. साङ्खच्ययोग सहकृत चतुर्थाश्रममें सद्योमुक्ति तथा क्रममुक्ति एसें दो पक्ष, सद्योमुक्ति तथा क्रममुक्ति के अधिकारिन्के अवान्तर भेद, समुच्चित साङ्खच्य-योग-भक्तिमें फलतारतम्य, केवल साङ्खच्य अथवा केवल योग युक्तकुं फलतारतम्य, विमार्गपरिपोषित धर्मविहीन १६६
साङ्खच्य-योग नरकको कारण होत हें, वे दोउ निष्फल हें.

६. नित्यानित्यवस्तुविवेकरूप साङ्खच्य तथा चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग की ज्ञानाङ्ग होयवे पर ही प्रामाणिकता तथा सफलता हे, केवल पदार्थ-तत्वन्को निर्धारणसों साफल्य नहीं हे. तासों साङ्खच्ययोगोपजीवी मायावादादिककी सर्वथा व्यर्थता. १७०

७. वेदातिरिक्त मार्ग स्वतन्त्ररूपसों फलसाधक नहीं किन्तु शास्त्रमें कहे भये कर्म-ज्ञानादिमार्गन्के अङ्ग बनकें जेसो प्रमेय वेद दिखावें हें तेसें प्रमेयकुं साधिके फलरूप होय हें. तासों त्रिवर्णीन्कुं वैदिक सद्धर्मको ही आश्रय करनों एसें उपदेश पूर्वक फल-साधननिर्धारण प्रकरणको उपसंहार. १७१

(ख) कलिमें श्रौतधर्मन्को लोप होयवसों वर्णाश्रमके अधिकारि-अनधिकारी दोनोन्के अर्थ भागवतधर्ममानुसारी फल-साधनके स्वरूपको निर्धारण. कारिका २११-२५५१/२

१. या कलियुगमें पाषण्डमतन्के प्रचारसों धर्ममार्ग छांडिके अधर्माचरण करिवेवारेन्को ही बाहुल्य हे, स्वाध्याय-सदाचारादि वैध प्रकारन्में वैगुण्य आय जायवेसों तथा देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मन्त्र-कर्म अशुद्ध होय जायवेसों धर्मोत्पत्ति असम्भव भई हे, तथापि पाषण्डमतकुं

छांडिके भागवतमार्गसों श्रीकृष्णभजनपराय रहिवेवारेन्कुं
कलिदोष दबाय नहीं सके हें एसें भिन्न प्रकरणको उपक्रम. १७४
२. वेदनिन्दा अथवा अधर्माचरण सों तो भगवद्भक्तन्को हु
हीनयोनिमें पात, हीनयोनिमें हु पूर्वसंस्कारसों भगवद्भजनमें
प्रवृत्त होयवे पर मुक्ति अन्यथा संसाराभिनिवेश होयवे पर
तो पुनः-पुनः जन्म-मरणकी आवृत्ति ही, तासों वेदनिन्दा
रहित भक्तिमार्ग समीचीन हे. १७६
३. श्रीकृष्णमें अनन्य दास्यभावना पूर्वक मन लगायवेसों
सायुज्य फल, पत्नि-पुत्राप्तादिक सबन्को श्रीकृष्णकी
सेवाके अर्थ समर्पण करिके माहात्म्यज्ञान सहित प्रमेयुक्त
भक्तकी अन्यन्सों विशेषता तथा दुर्लभता. १७९
४. फल-साधन-प्रमेय-प्रमाणभेदसों भक्तिके स्वरूपको
निर्धारण पूर्वक भक्तिमार्गकी सर्वात्तमता. १८३
५. कलिदोषके कारण अन्य उपायन्की असाधकता होयवे
पर हु भक्तिमार्ग तो कलिकालमें हु निश्चित रूपसों
फलप्रद हे. १८४
६. भक्तिमार्गमें श्रुतिस्मृतिसों विरुद्ध नहीं हे, प्रमेय हु
वेदविरुद्ध नहीं हे, यद्यपि मायावादिन्को भक्तिके प्रति
गूढ द्वेष होयवे पर हु मायावादको ही अप्रामाण्य हे,
भक्तिमार्ग भगवत्कृपैकमूल होयवेसों वामें भगवत्कृपाविशिष्ट
जीवन्को ही फलमुख अधिकार हे सबन्को नहीं हे,
कृपा होयवेको परिज्ञान भक्तिमार्गमें जीवकी रुचिसों
ही होय हे अन्य प्रकारसों नहीं. १८५
७. भक्तिमार्गीय साधनन्के आदिसों निरूपणके प्रसङ्गमें
दम्भादिरहित, श्रीकृष्णसेवापरायण तथा श्रीभागवततत्वज्ञ
होय एसे गुरुको अनुसरण प्रथम साधन. १८७

८. एसे गुरुके दुर्लभ होयवे पर अनुकल्पतया जा श्रीकृष्ण-
मूर्तिकी सेवा करिवो स्वत: प्रारम्भ कियो होय वाकी साक्षाद्
भगवत्ताको प्रतिपादन. १८९
९. भक्तिमार्गानुसार श्रीकृष्णकोही यथोपलब्ध उपचारसों
प्रमेपूर्वक पूजन, तहां पत्नि आदि अनुकूल होंय तो सेवामें
विनियोगकी अनुज्ञा, उदासीन होंयतो विनियोगको निषेध,
प्रतिकूल होंयतो परित्यागकी आज्ञा. १९१
१०. भक्तिमार्गीन्के अर्थ आजीविकाके नियम, आजीविकामें
लगे भये चित्तकुं भगवान्में लगयावेको उपाय, अधिकार
होयवे पर श्रीभागवत पुराणको नियमसुं पाठ, भागवतको पाठ
हु श्रीकृष्णको आन्तर भजन ही होयवेसुं यहां हु भजनके
प्रतिकूलके त्यागकी आवश्यकता, तहां सर्वत्र श्रीकृष्णकी
भावना राखिके दुर्वचनन्कुं सहनो, वैराग्य तथा सन्तोष
कबहु सर्वथा न छोड़ने आदिको निरूपण. १९२
११. भगवद्भजनोपयोगि स्थल, भजनको प्रकार, भजनोपयोगि
वस्तु, भजनकर्ता तथा भजनके काल को स्वरूप. १९६
१२. शास्त्रविहित नित्यकर्मरूप धर्ममें प्रवृत्ति, निषिद्धकर्मरूप
अर्धमसों निवृत्ति तथा इन्द्रियनिग्रह हु भगवद्भजनके
अङ्गभूत जाननें, दुष्टसङ्ग इन सबनके कारणरूप होयवेसुं
वाके त्यागकी आवश्यकता, भक्तिके विरोधि होयवे पर
तो धर्मको हु त्याग करनो, परोपकारादि धर्म हु नहीं
करने यदि वे भगवद्भजनके विरोधि होते होंय. २०२
१३. भक्तिमार्गीय साधनन्की अनुवृत्तिसों जेसें-जेसें
भक्तके मनमें हरिको आवेश होतो जाय हे तेसें-तेसें
भक्तिके साधनन्में वाकी निष्ठा बढती चलि जाय
हे, दैन्यकी आवश्यकताह्नअहङ्कारकी भक्तिबाधकता,

भक्तिकी सिद्धिके अर्थ भगवद्गुणगान तथा भगवन्नाम्को उच्चारण निर्भय-निस्पृहतया करनो, सर्वहेतुविवर्जित भागवतके पाठसों भगवान्में भाव उत्पन्न होत हे. २०४

१४. भक्तिमार्गमें शङ्ख चक्रमुद्रा, तुलसीकाष्ठसों निमित माला तथा उर्ध्वपुण्ड्र के धारणकी आवश्यकता. २०६

१५. दशमीके वेधसों वर्जित एकादशि उपवास, सप्तमीके वेधसों वर्जित जन्माष्टमीव्रत तथा रामनवमी-नृसिंह-वामनजयन्ति आदि उत्सवमें हु उत्सव-उपवास करने. २०९

१६. गृहस्थकुं तो उपर्युक्त सब मुख्यरूपसों करनो, ब्रह्मचारी आदिकुं हु सेवक-साधनसम्पन्न होयवे पर ये ही कर्तव्य हे अन्यथा नहीं, भक्तिमार्गी सन्न्यासिकुं तो निरन्तर पर्यटन करते रहेनो ही मुख्य हे सेवा नहीं. २१०

१७. गृहस्थन्कुं हु भगवत्सेवामें मनोविक्षेप, अशक्त शरीर, लोककृत प्रतिबन्ध, भगवद्विस्मरण, परपीडाकी सम्भावना आदि दोषन्के होयवे पर सेवात्याग पूर्वक पर्यटन करनो अथवा दोषरहित पूजानुकूल स्थलमें स्थिति करनी. २११

१८. यज्ञ-तीर्थ तुल्य होयवेसों वर्णाश्रमीन्केतांई हु तीर्थयात्राको विकल्प, तीर्थाटनके नियमको निरूपण. २१२

१९. भगवद्भक्तिके अर्त घर-धनके त्यागके विकल्पतया भगवद्भक्त्यथ विनके सङ्ग्रहको निरूपण, यामें असमर्थ होयवे पर सर्वहेतुविवर्जित भागवतको पाठ करनो तृतीय अनुकल्प हे, प्राण सङ्कटमें होंय तोहु अर्थोपार्जनार्थ भागवतके विनियोगको निषेध, भागवतके पाठमें असमर्थ होयवे पर चतुर्थ अनुकल्प प्रपत्तिमार्ग हे, या प्रकार भागवतोक्त भक्तिमार्गीय फल-साधनन्के निर्धारणको उपसंहार. २१४

(ग) विभिन्न कर्म तथा देवतान्‌की उपासनामें प्रवृत्ति अधिकारिन्‌के फल-साधनके स्वरूपनिर्धारणको प्रकरण. कारिका २५६-३२५

१. सात्विकसात्विक-सात्विकराजसादिभेदसों विभिन्न कर्मन्‌में प्रवृत्त अधिकारिन्‌के फल-साधनके स्वरूपको निर्धारण. २१७

२. विभिन्न देवन्‌की उपासना करिवारेन्‌के फल-साधनके स्वरूपको निर्धार. २१७

३. करे भये कर्मन्‌को यत्किञ्चित् हु फल अवश्य होत हे तथापि भगवद्गीतानुसार कर्मकी गति गहन हे, ईश्वरेच्छा निरङ्कुश तथा अनियत होयवेसों कर्मफलमें सन्देह होयवे पर हु ईश्वरको भजन आवश्यक हे ही क्योंके भगवद्भजसो कबहु अनिष्टफल नहीं होत हे. २२१

४. ईश्वरेच्छाके अतिरिक्त अन्य हु फलके प्रतिबन्धक होय हें, स्वयं कर्म ही अन्योन्यके नाश करिवारे होय हें तासों कर्मफलमें नियम नहीं हे, क्षुद्र उपासकन्‌को फल जन्म-मरणरूप तृतीयमार्गमें प्रवेश ही हे. २२४

५. सेश्वर साङ्‌ख्यच-योगको फल अनेक जन्ममें परिपाक होयवे पर भक्ति हे, निषिद्ध योगको तो फल मिश्रित हे. अनीश्वरवादी, वैदिककर्मजड, वामाचार परायण तथा शक्तादिकन् के फल हीन ही होत हें. तासों भगवन्मार्गको अनुसरण करिवारेन्‌कुं विन् मार्गन्‌को परित्याग करनो. २२५

६. वेदमार्गके विरोधि पाखण्डी सबन्‌को फल नरक ही हे. २२९

७. निषिद्धमार्गन्‌को फल दु:ख होत हे तासों दु:खको स्वरूप

तथा दु:खमें तारतम्यको निरूपण. २३०

८. आनन्दरूप भगवान्‌की प्राप्तिमें शब्दसों ही ब्रह्मको अपरोक्षज्ञान उत्पन्न होत हे एसो कहिके ज्ञानकुं ही परम साधन मानिवेवारे मायावादिन्‌के मतकी आलोचना पूर्वक भक्ति-प्रपत्तिही परम साधन हे एसे मतको स्थापन. २३७

९. पूर्ववर्णित सब मार्ग आपातत: उपायरूप होयवे पर हु विष्णुकी कृपाविशिष्ट अधिकारीन्‌कुं ही विन-विन मार्गन्‌में फलकी प्राप्ति होत हे कृपारहितन्‌कुं नही होत हे. २४८

१०. भगवान्‌कुं स्वाधीन करिवेमें भक्ति ही परम साधन, प्रसङ्गसों भक्तिके अङ्गभूत उपायन्‌के सामान्यरूपसों स्वरूपको निरूपण. २५०

११. छ पदार्थन्‌के अथवा सोलह पदार्थके ज्ञानसों मोक्ष होत हे एसे वाक्य मोहजनक हें. २५८

(४) सर्वनिर्णयप्रकरणको उपसंहार

१. या प्रकार सर्व निरूपण करिके प्रेम-भक्तिमार्गकी प्रमुखताको वर्णन तथा वामें श्रीभागवतकी परम साधकताको निरूपण. २५९

२. 'तत्वार्थदीपनिबन्ध'नामसों प्रसिद्ध प्रकृत ग्रन्थविषयक प्रसङ्गकी सङ्गति पूर्वक आगेंके श्रीमद्भागवतार्थप्रकरणके उपक्रमको कथन, या प्रकार सर्वनिर्णयप्रकरणको उपसंहार. २६१

सकलान्तरात्मा श्रीहरि: प्रसन्नोऽस्तु

।।श्रीकृष्णाय नमः।।

।।श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।।

।।श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।।

सप्रकाशः तत्वार्थदीपनिबन्धः

सर्वनिर्णयप्रकरणकी व्रजभाषाटीका

प्रमाणेन प्रमेयेण फलतः साधनेन च।
सर्वनिर्णयबोधाय द्वितीया प्रक्रियोच्यते।।

तत्र प्रथमं वेदार्थरूपं भगवन्तं मङ्गलार्थं **स्तौति पञ्चात्मकम्** इति.

प्रथम शास्त्रार्थप्रकरणमें सात्विक दैव जीवन्‌की भगवत्सेवामें प्रवृत्ति होयवेके अर्थ जड-जीव-अन्तर्यामिन्‌को स्वरूप वर्णन कियो तथा भगवान्‌को भजन ही ऐहिक-पारलौकिक फलको देवेवारो हे तथा उत्तमाधिकारीन्‌कों भगवान् ही फलरूप मानने चहिये ये बात वेद-भागवतादिग्रन्थन्‌सों सिद्ध करी. तासों उत्तमाधिकारी तो भगवत्सेवामें प्रवृत्त होय जायेंगे परन्तु मन्द-मध्यमाधिकारिन्‌के हृदयमें ये सिद्धान्त स्थिर करिवेके अर्थ प्रमाण-प्रमेय-फल-साधनके द्वारा ज्ञानादिक मार्गन्‌को तथा जगत्‌के पदार्थन्‌के यथार्थ रूपके निश्चयार्थ 'सर्वनिर्णयप्रकरण' नामसों प्रसिद्ध जो दूसरो प्रकरण हे ताको प्रारम्भ करे हें.

तहां कितनेक वादी शब्दप्रमाणह्नवेदादिकन्‌की अपेक्षा प्रत्यक्षप्रमाणकुं बड़ो माने हें. उनके सन्देह दूर करिवेकुं प्रमाणन्‌को बलाबल निश्चित करिवेके अर्थ प्रथम प्रमाणप्रकरणको प्रारम्भ करते भये मङ्गल होयवेके अर्थ वेदार्थरूप भगवान्‌की स्तुति करे हें.

पञ्चात्मकं द्विरूपञ्च साधनैर्बहुरूपकम्।।
स्वानन्ददायकं कृष्णं ब्रह्मरूपं परं स्तुमः।।१।।

अग्निहोत्रादिभेदेन पञ्चरूपत्वम्. तेषां प्रकृति-विकृतिभेदेन द्विरूपत्वम्. उभयोः अनेकरूपत्वं वक्तुं साधनैः बहुरूपत्वम् आह **साधनैः** इति. सर्वेषां समुदायफलम् आह **स्वानन्ददायकम्** इति. धर्मरूपेणैव फलदानां भविष्यति इति आशङ्क्य ईश्वररूपेणैव फलदानम् इति आह कृष्णम् इति. उत्तरकाण्डार्थम् आह **ब्रह्मरूपम्** इति. "स्वानन्ददायकं कृष्णम्" इति अत्रापि तयोः रूपयोः उत्तरं श्रेष्ठम् इति आह **परम्** इति. **स्तुमः** स्तोत्रमेव यथाज्ञानं कुर्मः. नतु स ज्ञायते इति अर्थः।।१।।

पञ्च रूपाणि गणयति **अग्निहोत्रम्** इति.

अग्निहोत्रं तथा दर्शपूर्णमासः पशुस्तथा।।

अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, पशु, चातुर्मास्य तथा सोम इन भेदन् करिके पांच रूपवारे; प्रकृति-विकृति भेद करिके दो रूपवारे तथा अनेक शाखोक्त साधनन्के भेद करिके बहुत रूपवारे तथा स्वरूपानन्दके देवेवारे ब्रह्मरूप पर जे श्रीकृष्ण हें उनकी स्तुति करुं हुं.

उनकी अपने ज्ञानके अनुसार स्तुति ही होय सके हे. फलको दान धर्म-कर्म-अदृष्ट नहीं परन्तु ईश्वर ही करे हे एसो प्रतिपादन करे हें या श्लोकमें 'स्वानन्ददायक'पद करिके स्व-पशुपुत्रादिक (जन्य) आनन्द अर्थात् आत्मसुखके देवेवारे हु श्रीकृष्णचन्द्रकों बताये हें. तासों धर्मरूपसों फलदान नहीं होय हे किन्तु ईश्वररूप करिके ही आप फल दे हें. एसे ही उत्तरकाण्डमें हु ज्ञानादि रूपसों फल नहीं मिले हे किन्तु ईश्वर रूपसों ही फलदान होवे हे. इन दोउ रूपन्में उत्तरकाण्ड-वेदान्तमें प्रतिपाद्य जो रूप हे वो श्रेष्ठ हे. पहिले पांचरूपवारे भगवान्कुं बताये. उन पांच रूपन्की दूसरे श्लोकमें गणना करी हे।।१।।

प्रमेयको निर्णय करिके वाको बल कहे हें. वो प्रमेय दोप्रकारको

चातुर्मास्यानि सोमश्च क्रमात्पञ्चविधो हरिः।।२।।

प्रमेयं निर्णीयहि बलं वक्तव्यम्. तच्च प्रमेयं द्विविधं. प्रमाणानुरोधि स्वतन्त्रं च इति. तत्र आद्यं निरूप्यते. दर्श-पूर्णमासौ एकः, "परमेष्ठिनो वा एष यज्ञ" ( ) इति अत्र तयोः एकत्वनिर्णयात्. **पशुः** निरूढः. **चातुर्मास्यानि** स्वतन्त्राणि.

सोमः अग्निष्टोमः. एते क्रमेणैव कर्तव्याः. एतेषां क्रियारूपत्वेन भगवत्प्रीतिसाधकत्वं न भगवत्वम् इति आशङ्क्य आह **पञ्चविधो हरिः** इति।।२।।

हे एक प्रमाणके अनुसार प्रमेय होय हे तथा एक स्वतन्त्र प्रमेय होय हे. तहां प्रमाणके अनुसार जो प्रमेय हे ताको निरूपण करेहें.

[१]अग्निहोत्र भगवान्को प्रथम रूप हे. याकुं वेदमें जहां तांई जीये तहां ताईं करनो एसो लिख्यो हे. [२]दर्शपूर्णमास भगवान्को दूसरो रूप हे. [३]निरूढपशुयज्ञ आपको तीसरो रूप हे. वैश्वदेवादि चारों पर्वरूप जे [४]चातुर्मास्य हें वे भगवान्को चोथो रूप हें. [५]सोम जो अग्निष्टोम यज्ञ हे वो भगवान्को पञ्चम रूप हे. या क्रमसों ही इन यज्ञन्कुं किये जाय हें. प्रतिदिन अग्निहोत्र, प्रतिमास दर्शपूर्णमास, छे महीनामें पशुयज्ञ, चातुर्मास्य वैश्वदेवादि यज्ञ चारि पर्वन्में प्रतिपर्व तथा वर्ष-के-वर्ष सोमयज्ञ करनो लिख्यो हे.

शङ्काः ये यज्ञ तो क्रियारूप हे. इन करिके भगवान्की इज्या अर्थात् पूजा करी जाय तो भगवान् प्रसन्न होते होंयगे. तासों भगवान्की प्रीतिके साधक इन यज्ञन्कुं कहनो चहिये. इनकुं भगवान्को रूप केसे समुझ लेवें?

उत्तरः "यज्ञो वै विष्णुः" (तैत्ति.ब्राह्म.१।२।५।१). "मां विधत्तेऽभिधत्ते माम्" (भाग.पुरा.११।२१।४३) इत्यादि श्रुति-भागवतादि वाक्यन्में यज्ञकी भगवद्रुपता लिखी हे. तासों वेदादि विरुद्ध मत आदरणीय नहींहे।।२।।

साधन-साध्यरूपता न एकस्य इति आशङ्क्य सर्वत्र भगवतएव द्विरूपत्वम् इति वक्तुम् आह तत्साधनञ्च स हरिः इति.

तत्साधनं च स हरिः प्रयाजादि स्रुगादि यत्।।
प्राकृतं रूपमेतद्धि नित्यं काम्यन्तु वैकृतम्।।३।।

साध्यरूपएव स हरिः साधनरूपोऽपि. 'च'कारात् साध्य-साधनरूपोऽपि. साधनद्वैरूप्यं निरूपयति **प्रयाजादि स्रुगादि** इति. यत्किञ्चित् तत्फलोपकारि, स्वरूपोपकारि वा, न अतो अन्यद् अस्ति इति अर्थः. गणितानां नाम्ना प्रसिद्धानां

प्रकृतिरूपत्वम् इति आह **प्राकृतम्** इति. एतदेव नित्यं कर्म. नित्य-काम्यव्यवस्था एषैव. यद् यावदुक्तं कर्तव्यं नियतफलं तत् नित्यम्. नतु फलरहितम्. अकरणे राजदण्डवत् प्रत्यवायः. नहि राजसेवायां फलाभावः. एतत्प्रतिपादकत्वमेव मुख्यतया वेदस्य.

साध्यरूप तथा साधनरूप; तथा साधनके साधनरूप भी हरि ही हें. क्योंके "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः" (ऋग्वेद८।४।१९) अर्थात्:यज्ञद्वारा यज्ञ-विष्णुको यजन देवन्नें कियो या मन्त्रमें तथा या मन्त्रके विवरणरूप "पुरुषावयवैरेते सम्भाराः सम्भृता मया" अर्थात् ये यज्ञकी सब सामग्री विष्णुके अवयवद्वारा मेंने एकत्रित करी हे (भाग.पुरा.२।६।२६). इत्यादि भागवत-द्वितीयस्कन्ध-श्लोकमें साध्य-साधनरूपता भगवान्की ही वर्णन करीहे.

साधन दो प्रकारके होय हें, प्रयाजादिक तथा स्रुक् आदि. फलको अथवा स्वरूपको उपकार करिवेवारो जो कोई पदार्थ होय वासों 'साधन' कहनो.

गिने भये अग्निहोत्रादिक जे पांच हें वे 'प्रकृतिरूप' कहावें हें. इनसों ही 'नित्यकर्म' कहे हें. नित्यकर्म वाहीसों कहें हें जो कर्म वेदमें जितनो सम्पूर्ण कह्यो होय वितनों समग्र करनो पड़े तथा जाको फल अवश्य होतो होय. ओर जेसे राजाकि आज्ञा अनुसार नहिं करिवेवारेकुं राजा दण्ड देत हे एसे ही जा कर्मके नहीं करिवेमें द्वितीयं रूपम् आह काम्यन्तु वैकृतम् इति. कामनायामेव फलदम्. विकृतत्वात् स्वभावतो न नित्यफलं प्रयच्छति।।३।।

एवम् उद्देशतो रूपद्वयं निरूप्य फलं निरूपयति ज्ञानिनः इति.

ज्ञानिनस्तदभिव्यक्तौ कर्तुः मोक्षः क्रमाद् भवेत्।।

अन्यथा स्वर्गसौख्यन्तु द्विरूपं तत् क्रमाद् भवेत्।।४।।

भगवदानन्दरूपं फलं ब्रह्मज्ञानयुक्तस्य यथोक्तकर्मकर्तुरेव. तत्र हेतुःह्न तदभिव्यक्तौ सत्यां षोढा विहितश्चेद् अभिव्यक्तो भवति. "पुरुषो विहितः षोढा" इत्यत्र उक्तं पञ्चात्मकं ब्रह्म च तदैव फलं प्रयच्छति इति भावः. मर्यादायां क्रममोक्षएव फलम्. सद्योमुक्तिस्तु अतिकृपया. ब्रह्मज्ञानाभावेतु पञ्चात्मकाद् भगवतः स्वर्गसुखं भवति, भिन्नवाक्येष्वपि फलत्वेन निरूपणात्।।४।।

प्रायश्चित लगतो होय ये नित्यकर्मको लक्षण हे. फलरहित कर्मसुं नित्यकर्म नहिं कहे हें. जेसे राजसेवामें फलको अभाव नहिं होय तेसें नित्यकर्मको फल भी अवश्य होय ही हे. वेद हु मुख्यता करिके नित्यकर्मको ही प्रतिपादन करें हें.

जो काम्य कर्म हें वाहीसों विकृति कहे हें. काम्यकर्म हे सो कामना होय तो फल दे हे, स्वभावसों नित्यफलकुं नहिं दे हे।।३।।

या प्रकार उद्देशसों दोउ रूपन्कों निरूपण करिके फलको निरूपण करें हें 'ज्ञानिनः' इति. उत्तमाधिकारी जो ब्रह्मज्ञानवारो निष्काम होयके वेदोक्त यज्ञादि कर्मकुं यथार्थ करे हे वाकुं भगवान्के स्वरूपानन्दकी प्राप्ति होय हे. अर्थात् उपनिषदन्को उक्त जो ज्ञान तथा अग्निहोत्रादिक पञ्चसाधनह्नये छ पदार्थ सिद्ध होंय तब यज्ञको आधिदैविक रूप प्रकट होय. तब ही जीवकुं भगवदानन्दरूप फलकी प्राप्ति होय. क्योंके मर्यादामें क्रममोक्ष हे सोई फल हे. सद्यमुक्ति तो अत्यन्त कृपासों होय हे. ब्रह्मज्ञान विना तो अग्निहोत्रादि पञ्चात्मक भगवान्सों स्वर्ग सुखकी प्राप्ति होवे हे. वो स्वर्ग दो प्रकारको हे।।४।।

स च स्वर्गो द्विविधः इति आह वाक्यशेषाद् इति.

वाक्यशेषात्त्वात्मसुखं प्रसिद्धेर्लोक उच्यते।।
यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।।
अभिलोषोपनीतञ्च तत्सुखं 'स्वः'पदास्पदम्।।५।।

सुष्ठु अर्ज्यते इति 'स्वर्गः'. सत्त्वाकारान्तःकरणे सर्वेहानिवृत्तौ यद् आत्मसुखं प्रकटीभवति तद् अग्निहोत्रादिसाध्यम्. सर्वदेवानाम् अधिकृतानां तुष्टौ आध्यात्मिकत्वे यागस्य जाते आत्मानन्दः प्रकटो भवति. एतद् अभावे तु भौतिकत्वे स्वर्गलोको भवति इति अर्थः. प्रसिद्धिः लौकिकी. वाक्यशेषम् आह **यन्न दुःखेन** इति. ''स्वर्गकाम'' इति सर्वत्र 'स्वर्ग'शब्दार्थः सन्दिग्धः. सन्दिग्धेषु वाक्यशेषाद् इति. वाक्यशेषः शाखान्तरे प्रसिद्धः. दुःखानुभवसहितः सुखानुभवो लौकिकः. स्वर्गः अन्यथा अलौकित्वात् सुखानुभवश्च अनन्तरमेव कालेन ग्रस्यते, त्रिक्षणावस्थायित्वात्. न तथा वैदिकः. लौकिको हि अभिलाषानन्तरं प्रयत्नसम्पाद्यः. वैदिको न तथा.

'वाक्यशेषाद्' इति. मध्यमाधिकारीकुं आत्मसुखरूप स्वर्ग मिले हे तथा हीनाधिकारीकुं स्वर्गलोक मिले हे. तहां जो ब्रह्मज्ञानरहित होय परन्तु यथार्थ कर्म करिके अग्निहोत्रादिके अधिकारी देवता जापे सन्तुष्ट हो जावें तासों जाको यज्ञ आध्यात्मिक हो जावे वाको अन्तःकरण सत्वाकार होयकें सब प्रकारकी चेष्टा करिके रहित शुद्ध हो जाय हे. तब वाकुं (आत्मसुख=)आत्मानन्द प्रकट हो जाय हे. ओर जो ब्रह्मज्ञान करिके हु रहित होय ओर जाके यज्ञमें देवता हु सन्तुष्ट नहीं होंय वाकुं स्वर्गलोक, जो प्रसिद्ध हे, वाकी प्राप्ति होय.

तहां आत्मसुखको नाम स्वर्ग केसे सम्भव सके हे? एसे सन्देहमें शाखान्तरमें प्रसिद्ध जो वाक्यशेष हें तासों निर्णय करे हें. 'वाक्यशेषाद्' इति. अर्थः जो दुःखसहित नहीं होय, जा सुखको काल ग्रास नहीं कर सके, जो सुख अभिलाषाकरिके प्राप्त हो जाय एसो जो सुख हे सो 'स्वर्ग'पदको अर्थ हे. ''देवासुराः संयत्ता आसन्'' (शौनक उप.१।१) इत्यादि श्रुतिमें स्वर्गमें तादृशं सुखं किम्? इति आकाङ्क्षायां, विषयजन्यं तथा भवितुं न अर्हति, दुःखसम्भेदकस्य आवश्यकत्वात्. नापि परमानन्दः, ईश्वराधीनत्वात्. अतः आत्मसुखमेव तादृशं भवति।।५।।

तद् आह **स्पर्द्धा** इति.

स्पर्द्धासूयादिदुःखानि स्वर्गिणां स्युः सदा ध्रुवम्।।
प्रवृत्तिमार्गनिष्ठत्वात् न ध्रुवोपरि तद्गतिः।।।।६।।

स्वर्गलोके विद्यमानानाम् इन्द्रादीनां स्पर्द्धादिकं श्रूयते. तच्च दुःखरूपम्.

स्पर्धा आदि होनो लिख्यो हे तासों स्पर्धा-ईर्षा आदि दुःख होयवेसों स्वर्गको सुख हु दुःख सहित ही हे. लौकिकसुख हु काल करिके ग्रस्त हे, दुःख सहित हे तथा अभिलाष करिके प्राप्त नहीं होय किन्तु प्रयत्नसों ही प्राप्त होय हे. एसें ही परमात्माको आनन्द हे सो हु जीवकी अभिलषासों प्राप्त नहीं होय, ईश्वराधीन हे. ईश्वर जाकुं दियो चाहे वाकुं ही मिले हे. तासों दुःखरहित, कालग्रास रहित, अभिलाषासों प्राप्त होयवेवारो एसो आत्मसुख अर्थात् अन्तःकरणको जो आनन्द हे वोही 'स्वर्ग'पदको अर्थ हाय सके हे।।५।।

शङ्काः 'स्वर्ग'शब्दसों आत्मसुखको ग्रहण करो हो वेसे 'स्वर्ग'शब्दसों ब्रह्मलोकको ग्रहण करनो चहिये. क्योंके पहिले कह्यो दोष ब्रह्मलोकमें नहीं हे.

उत्तरः 'प्रवृत्तिमार्गनिष्ठत्वाद्' इति. ब्रह्मलोक दोय हें. प्रवृत्तिमार्गीन् करिके जो जानिवेयोग्य हे वो क्षयादिदोष वारो हे. इन्द्रद्युम्नराजाने मार्कण्डेय-ताल-जंघादि ऋषिन् सों पूछी जो "मेरो यश पृथ्वीमें हे के नहीं?" उननें कही "राजा हमकुं खबर नहीं हे". ये सुनिकें राजाकुं भय भयो जो मेरो यश नहिं होयगो तो में ब्रह्मलोकसों गिरि जाउंगो. फेरि राजानें अनेक कल्पजीवी कूर्मसों पूछी. वाने कही "तेरो यश हे". तब राजा ब्रह्मलोकमें गयो. ये वार्ता स्कान्द-कुमरिकाखण्डमें न च ब्रह्मलोकः 'स्वर्ग'शब्दवाच्यः, प्रवृत्तिमार्गनिष्ठत्वात्. ज्ञानाभावेन केवलकर्मकरणं प्रवृत्तिमार्गः. अतएव क्रममुक्तिमार्गे ते न गच्छन्ति इति आह न ध्रुवोपरि तद्गतिः इति।।६।।

न च स्वर्गादिलोकेषु वाक्यशेषोक्तमीर्यते।।
अत आत्मसुखं वाक्ये वाच्यं तत् सत्वतो भवेत्।।
शुद्धे सत्त्वगुणोद्भेदः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः।।७।।

नापि इन्द्रलोकेषु वाक्योक्तं सुखं सम्भवति, अनुपपत्तेः उक्तत्वात्. अतः **पारिशेष्याद्** आत्मसुखमेव वाक्यार्थः. अतएव 'स्वर्ग'शब्दः स्वसाधने भगवता प्रयुक्तः इति आह **तत् सत्वतो भवेत्**. सत्वगुणप्रवृद्धावेव तद् आत्मसुखं भवेत्. सत्व(बु)वृद्धिश्च शुद्ध्या. अतः पश्चानाम् आवृत्तेश्च उपयोगः. भगवद्वाक्यम् आह **स्वर्गः सत्वगुणोदयः** इति. सत्वगुणाद् वा उदयो यस्य इति।।७।।

प्रसिद्ध हे. तासों ब्रह्मलोक नाशशाली हे. तासों 'स्वर्ग'शब्दवाच्य होय नहीं सके हे.

जो अक्षय ब्रह्मलोक हे तामें योगयुक्त ब्रह्मज्ञानी परिव्राट् तथा रणमें सन्मुख मरिवेवारो ये दोउ सूर्यमण्डलकों भेद करिके जावे हें. अथवा जो ब्रह्मज्ञानी कर्म करे हे वो क्रममुक्तिमार्ग करिके ध्रुवके ऊपर होयके जावे हे. वा अक्षय सत्यलोकमें प्रवृत्तिमार्गवारो माध्यमाधिकारी नहीं जाय सके हे. तासों मध्यमाधिकारीके अर्थ

'स्वर्ग'शब्दसों आत्मसुखको ही ग्रहण करनो. एसें ही इन्द्रलोक हु दुःख मिश्रित सुखवारो हे. तासों वो हु 'स्वर्ग'पदको अर्थ नहीं होय सके हे।।६।।

तहां 'आत्मसुख'सों अन्तःकरणके सुखको ही ग्रहण करनो. याहीसों ''स्वर्गः सत्वगुणोदयः'' (भाग.पुरा.११।१९।४२) इत्यादि वाक्यमें भगवान्नें अन्तःकरणके सुखको साधन, जो सत्व गुणको उदय हे, तासों 'स्वर्ग' कह्यो हे. सत्वगुण बढे हे तब आत्मसुख होवे हे. तथा अन्तःकरण

एतद् आत्मसुखरूपं फलं नित्यम् आह अतस्तदेव इति.

अतस्तदेव हि फलं कामाभावेऽपि सिद्ध्यति।।
यागादेर्भगवद्रुपात् कामितं फलति स्फुटम्।।८।।

तैः स्वभावतएव शुद्धिः सम्पाद्यतइति भोजने तृप्तिवत् न कामना अपेक्षते. तर्हि विकृते कथं कामनापेक्षा? तत्र आह **यागादेर्भगवद्रूपाद्** इति. अधिभौतिकं वा फलं कथम्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **यागादेः**इति.

शुद्ध होयवेसों सत्वगुण बढे हे. अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु तथा सोम इन पांच कर्मकी प्रवृत्तिसों अन्तःकरण शुद्ध होय हे।।७।।

अर्थात् वर्ष-के-वर्ष सोमयज्ञ कियो जाय, छ महीनामें पशुयाग कियो जाय, नित्य अग्निहोत्र कियो जाय ह्नया प्रकार वारं वार आवृत्ति करिवेसों अन्तःकरणकी कामना जो न राखी जाय तो हु कर्मके स्वभावसों ही अन्तःकरण शुद्ध होय जाय हे. जेसे तृप्तिकी कामना न राखिकेहु यदि भोजन कियो जाय तो तृप्ति स्वतः होयजायहे.

शङ्काः प्रकृति अग्निहोत्रादिकन् करिके अन्तःकरणशुद्धिरूप कार्य होयवेमें कामनाकी अपेक्षा नहीं हे तो विकृति कारीर्यादि यागमें कामनाकी अपेक्षा क्यों होनी चहिये? तथा प्रकृतियाग अन्तःकरणकी शुद्धिके प्रति कारण हे तो कामनावारे हीनाधिकारीकीहु अन्तःकरणशुद्धि होनी चहिये वाकुं आधिभौतिकयज्ञ करिके वाञ्छित स्वर्गलोकादिकन्की प्राप्ति केसेहोयहे?

उत्तरः 'यागादेः' इति. यागादिक भगवान्को रूप हें. भगवान् सर्व फलके दाता हें. तासों कामनाके अनुसार फल दे हें. अर्थात् नित्ययाग अग्निहोत्रादिकन्में तो "यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहुयात्" ( ) इत्यादि वाक्य नियामक हें. तासों वेदकी आज्ञासों तो प्रवृत्ति होयगी परन्तु वृष्टि-पुत्रादिकन्के अर्थ किये जाते कारीरी आदि यागन्में प्रवृत्ति तो कामनासों ही होय हे. यदि उनसों कामना नहिं सिद्ध होय तो विश्वास नहिं रहेगो तो कोईकी प्रवृत्ति नहीं होयगी भगवद्रुपत्वात्. काम्यो नित्यो वा यागादिः कामितं फलति. स्फुटम् इति लौकिकं फलम्. यतः स्पष्टमेव कारीर्यादेः फलम् अनुभूयते।।८।।

ननु स्वर्गो नाम लोकएव "सुवर्गाय वा एतानि लोकाय हूयन्ते" ( ) इति. "देवेभ्यो वै स्वर्गो लोकस्तिरोऽभवत्" ( ) इति "स्वर्गो वै लोको नाकः" ( ) इति सर्वत्र स्वर्गलोकएव 'स्वर्ग'शब्दार्थः तत् कथम् उच्यते "आत्मसुखं स्वर्गः" इति? सत्यम्. अङ्गेषु 'स्वर्ग'शब्देषु लोकसामानाधिकरण्यात् तद्वाचकत्वम्. प्रधाने च वाक्यशेषस्य विद्यमानत्वाद् आत्मसुखवाचकत्वमेव. अन्यथा वाक्यशेषो व्यर्थः स्यात्. सन्देहाभावात् च. अतः 'स्वर्ग'शब्देन उभयमपि सङ्ग्राह्यम्.

तर्हि वेदे प्रधानवाक्येषु निःसन्दिग्धएव स्वर्गशब्दः कथं न प्रयुज्यते? तत्र आह **श्लिष्टप्रयोगाद्** इति.

श्लिष्टप्रयोगाद् वेदस्य परोक्षकथनं मतम्।।
बालानुशासनार्थाय रोचनार्थं तथा वचः।।९।।

तथा पूर्वकाण्ड उच्छिन्न हो जायेगो।।८।।

शङ्काः "सुवर्गाय वा लोकाय हूयन्ते" ( ) इत्यादि अनेक वाक्यन्में सुवर्गलोकको ही नाम स्वर्गलोक हे. ये 'स्वर्ग'नामसों आत्मुख केसे कहो हो?

उत्तरः अङ्गन्में स्वर्गलोक लिख्यो हे. "सोमेन यजेत स्वर्गकामः" ( ) इत्यादि मुख्य वाक्यन्में केवल 'स्वर्ग' लिख्यो हे. वाक्यशेषसों हु आत्मुसखको ही वाचक स्वर्ग प्रतीत होवे हे. "स्वर्गः सत्वगुणोदयः" (भाग.पुरा.११।१९।४२) इत्यादि भगवद्वाक्यसों हु आत्मसुख ही 'स्वर्ग'शब्दको अर्थ निःसन्देह ज्ञात होय हे. परन्तु

लोकमें हीनाधिकारीनकुं स्वर्गलोक हु प्राप्त हो जाय हे. तासों 'स्वर्ग'शब्दके दोनों ही अर्थहें.

कदाचित् कहोगे के वेदमें एसो सन्देह क्यों राख्यो? सन्देह रहित 'स्वर्ग'शब्द क्यों नहिं उच्चारण कियो?

श्लिष्टप्रयोगार्थं तथा न प्रयोगः. श्लिष्टप्रयोगस्य च फलं परोक्षकथनम्. परोक्षकथनस्यापि प्रयोजनं बालानुशासनम्. तेषाम् अनुशासनं रुच्युत्पादनमेव. अतः तथा वचनं श्लिष्टप्रयोगः इति अर्थः।।९।।

पशुबन्धयाजी सर्वान् लोकान् आप्नोति निश्चयः।।

अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति।।१०।।

पञ्च कर्माणि नित्यानि. तत्र त्रिषु स्वर्गः फलम्. यथा "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः"( ) "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत"(तैत्ति.सं.१।६।९।१,२) "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामः"(ताण्ड्यब्रा.१८।७) इति. पशुबन्ध-चातुर्मास्ययोस्तु न स्वर्गः फलं श्रूयते इति वक्तुं वाक्यद्वयम् आह सर्वान् **लोकान्**इति।।१०।।

समाधानम् आह **अक्षय्यम्** इति.

अक्षय्यं सर्वलोकाख्यम् आत्मरूपं नचान्यथा।।

नित्ये स्वर्गफलं नान्यत् पश्वादिः विकृतौ फलम्।।११।।

"अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति"( )इत्यत्र

तहां कहें हें सन्देह सहित 'स्वर्ग'शब्दको जो प्रयोग हे सो परोक्ष कथनके अर्थ हे. परोक्ष कथन बालानुशासनार्थ हे. अर्थात् हीनाधिकारीकी रुचि बढायवेके अर्थ हे।।९।।

प्रकृतिरूप जे नित्य पांच कर्म बताये हें उनमें तीन कर्मको स्वर्ग फल लिख्यो हे. चातुर्मास्यको अक्षयसुकृत तथा पशुबन्धयज्ञको सर्वलोकजय फल लिख्यो हे. अब ये वाक्यशेष करीके पांचो नित्य कर्मनको आत्मसुखरूप एक ही फल मानें तब तो एकवाक्यता हाय सके हे. परि लोकान्तर वाचक स्वर्गादि शब्दनकुं मानें

तो न्यारे-न्यारे फल होयवेसों एकवाक्यता नहिं होय सकेगी. या कारणसों हु 'स्वर्ग'शब्दसों आत्मसुखको ही ग्रहण करनो।।१०।।

उपसंहार करें हें. नित्ययज्ञको स्वर्ग फल हे. बाल जो ब्रह्मज्ञान रहित आधिभौतिक यज्ञ करिवेवारो हे वाकुं इन्द्रादिलोकरूप स्वर्ग मिलेहे

''सर्वान् लोकान् पशुबन्धयाज्यभिजयति'' ( ) इत्यत्रापि यद् 'अक्षय्य'शब्देन 'सर्वलोक'शब्देन उच्यते तद् आत्मसुखमेव वाक्यशेषोक्तम्. तदेव पञ्चानां नित्यानाम् एकं फलं भवति. इतोऽपि हेतोः 'स्वर्ग'शब्देन आत्मसुखम्, पञ्चात्मकस्य भगवतः एकत्वाद्. अन्यथा लोकपक्षे न एतद् उपपद्यते इति अर्थः. उपसंहरति **नित्ये स्वर्गफलम्** इति. बालाबालभेदेन उभयमपि. अन्यत् पश्वादिकं न नित्यस्य फलम्. विकृतौ तत्फलम्।।११।।

विकृतस्य कथं फलसाधकत्वम्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **रूपं तदेव विकृतेः** इति.

रूपं तदेव विकृतेः किञ्चित् साधनमन्यथा।।
विकृताद्धि हरेः किञ्चिद् विकृतं फलमीर्यते।।१२।।

तथा आध्यात्मिक यज्ञ करिवेवारो हे वाकुं आत्मसुखरूप स्वर्ग मिले हे. अबाल जो ब्रह्मज्ञानी आधिदैविक यज्ञ करिवेवारो हे वाकुं परब्रह्म-पुरषोत्तमानन्द प्राप्ति होय हे. पशु-धनादिकन्की प्राप्ति होनों तो नित्ययज्ञको फल नहीं हे, विकृतियज्ञन्को फल हे. तहां विकृतियज्ञ केसें फल देते होयगें? ये शङ्का नहीं करनी।।११।।

'रूपं तदेव' इति. विकृतिरूप यज्ञ हु भगवान्को ही स्वरूप हें. तासों फल देवेमें कछु आश्चर्य नहिं हे. प्रकृतियज्ञ जे अग्निहोत्रादिक हें वेही साधनके थोडे परिवर्तनसों विकृतिरूप होय जावें हें. जेसे प्रकृतियज्ञमें जलकुं चमस करिके लायवेकी विधि हे. परि यदि कोईकु पशुकी कामना होय तो वो दुग्ध दोहवेके पात्रसों जल लावे तथा प्रतिष्ठाकी कामना होय तो मिट्टीके पात्रमें जल लवे, शेष सब कर्म वेसोही करे. या तरेहसुं थोड़ेसे विकारसों प्रकृतिरूप यज्ञ विकृतिरूप हो जावे हे. परन्तु वे विकार वेदोक्त हें. तासों फल हे. वेदमें तो नहिं लिख्यो होय तथापि स्वेच्छासों ही चमससों जल नहिं लावें ओर पीतलके पात्र आदिमें जल ले

आवें तो प्रकृतिरूप तथा विकृतिरूप इन दोनोंमेसों एकरूप हु नहिं होवे. परिश्रम निष्फल हो जावे.

तदेव भगवद्रुपं विकृतेरपि. परं साधनं किञ्चिद् अन्यथा भवति. तेन विकृतत्वम्. सच विकारो वेदोक्तइति सफलः. तर्हि नित्यमेव फलं कुतो न साधयति? तत्र आह विकृताद् इति।।१२।।

ननु वेदे किम् इति विकृतं विकारफलं च उक्तम्? इति आशङ्क्य आह **नित्यकर्मप्रसिध्यर्थम्** इति.

नित्यकर्मप्रसिद्ध्यर्थं काम्यादीनां विधिः श्रुतौ।।
पशुपुत्राद्यभावेपि न नित्यं कर्म सिद्ध्यति।।१३।।

तत्र साधकम् आह **पशुपुत्राद्यभावे** इति।।१३।।

ननु एवमेव श्रुत्यभिप्रायः इति किं प्रमाणम्? तत्र आह **अङ्गेपि**इति.

अङ्गेऽपि तत्फलं नित्ये ज्ञानादिभिरुदीर्यते।
यथाकथञ्चित् नित्यस्य सिद्धिर् वेदेन बोध्यते।।१४।।

यतो वेदे नित्याङ्गेषु अप्प्रणयनादिष्वपि पश्वादिकं फलम् उदीर्यते. नहि एकस्य कर्मणः फलद्वयं सम्भवति. अतः एकस्याम् आवृत्तौ यजमानकामनया साङ्गस्यैव तस्य पश्वादिः फलम् तथा ज्ञानादिभिरपि फलम् उदीर्यते. "य एवं वेद स पशुमान् भवति" ( ) इति. तत्रापि कामनायामेव भवति इति मन्तव्यम्. तच्च ज्ञानं कर्माङ्गम्.

तथा विकृतियागसों विकृतही फल होवे हे, नित्यफल नहिं होवेहे।।१२।।

शङ्काः वेदमें पशुपुत्रादिक तुच्छ फल देवेवारे विकृतिरूप यज्ञको क्यों वर्णन कियो हे? ताको उत्तर दे हें. 'नित्यकर्म' इति. पशुपुत्रादिक नहिं होय तो नित्य अग्निहोत्रादि कर्म नहिं बन सकें. तथा पशुपुत्रादिक, या लोकके, फल नहिं सिद्ध होंय तो परलोकके विनादेखें स्वर्गादिफलमेंसों विश्वास जातो रहेगो तो कोई वेदके कर्ममें प्रवृत्त नहिं होयगो. तासों पशुपुत्रादिक विकृतफल हु वेदसों सिद्ध होवे हें।।१३।।

एसो ही श्रुतिको अभिप्राय हे तामें कहा प्रमाण हे? तहां कहे हें: एसो वेदको अभिप्राय नहिं होय तो नित्यकर्मके अङ्ग जे

ननु कथम् एवं वेदस्य अभिप्राय: अध्यवसीयते? स्वतन्त्रतयैव पश्वादीनां फलता अस्तु, इति चेत्, तत्र आह **यथाकथञ्चिद्** इति. नित्यस्य अविकृतस्य भगवतो रूपस्य सिद्धि: निष्पत्ति: वेदेन बोध्यते।।१४।।

ननु कृतिसाध्यो यागादि: कथं नित्य:? इति चेत्, तत्र आह **ध्यानादिभि:** इति.

ध्यानादिभिर्यथा मूर्ते: अभिव्यक्ति: परात्मन:।।
आधानादिक्रियातोऽपि व्यक्तिर्यज्ञस्वरूपिण:।।१५।।

यथा ध्यान-धारणादिभि: भगवन्मूर्ते: आनन्दरूपस्य अभिव्यक्ति: तथा अधानादि-सोमान्तक्रियाभि: वेदबोधितदेहचेष्टारूपाभि: ध्यानादिसहिताभि:

अप:प्रणयनादिक हें उनके पशु-प्रतिष्ठा आदि फल क्यों बतावते क्योंके एक कर्मके दो फल नहिं होय सके हें. तासों साङ्ग नित्यकर्मकी हु यजमान यदि पशुपुत्रादिकी कामनासों एक आवृत्ति करे तो वोहु फल सिद्ध होय. एसें ही कामना करिके ज्ञानकों सिद्ध करे तो ज्ञानसों हु पशु आदिकी प्राप्ति होय. "य एवं वेद. पशुमान् भवति" (संहितोप.१।१). परन्तु कामनार्थ होय तो वो ज्ञान कर्मको अङ्ग हे. विकृतियाग प्रकृतियागके फलकुं नहिं सिद्ध कर सके हे. ओर प्रकृतियागके वे अङ्ग हु विकृतियागके मुख्यफल देवेवारे कहे हें ये ही प्रकृतिको आधिक्य हे. तासों स्वतन्त्रतासों पशुपुत्रादिक फल नहिं किन्तु जेसे बनें तेसें नित्य अविकृत अग्निहोत्रादिक पश्वात्मक भगवान्की सिद्धि ही वेदनें बताई हे।।१४।।

शङ्का: यज्ञादिक तो हमारी कृतिसों सिद्ध होय हें; अर्थात् हमारे बनाये बने हें. ये नित्य केसे होय सकें?

उत्तर: 'ध्यानादिभि:' इति. जेसे ध्यान-धारणादिकसों आनन्दरूप भगवान् मूर्तिमें प्रगट होय जावे हें तेसें अग्निस्थापनसों लेके यज्ञ पूर्ण होय तहां तांई

ध्यानादिकन् सहित जे वेदकी बताई भई देहचेष्टारूप क्रिया तिन करिके यज्ञरूपी भगवान् प्रकट होवे हें.

यज्ञरूपिणोऽपि भगवतः अभिव्यक्तिः इति अर्थः।।१५।।

ननु एवम् अर्थव्याख्याने कः अभिप्रायः? तत्र आह दुःखाभावःइति.

दुःखाभावाः सुखं चैव पुरुषार्थद्वयं मतम्।।
मोक्षः कामस्तयोरङ्गं धर्मो ह्यर्थेन साधितः।।१६।।

पुरुषार्थपर्यवसायी वेदः. पुरुषार्थश्च चत्वारः. तत्र साक्षात् पुरुषार्थद्वयं, सुखं दुःखाभावश्च इति. तत्र सुखं स्वर्गादिपदेन उच्यते, दुःखाभावो 'मोक्ष'पदेन. तयोः साक्षाद् अङ्गं धर्मः, आत्मचिन्तनस्यापि धर्मत्वात्. ज्ञानसाध्यत्वं धर्मयोगएव इति मतम्. अतएव न ज्ञानस्य पुरुषार्थेषु गणना. धर्मस्य च साधनम् अर्थः. एवं साक्षात्-परम्परया चत्वारः पुरुषार्थाः भवन्ति.

अर्थात् नित्य सर्वदा विद्यमान जो यज्ञ-भगवान् हें उनको वैदिकक्रिया करिके प्रकट होनो मात्र ही हे, उनकी उत्पत्ति नहिं हे एसें व्याख्यान करिवेको अभिप्राय वर्णन करें हें।।१५।।

'दुःखाभावः' इति. वेद पुरुषार्थको सिद्ध करिवेवारो हे. पुरुषार्थ चार हें. तहां साक्षात् पुरुषार्थ दोय हें. दुःखभाव, दुःख नहिं होनो तथा सुखको प्राप्त होनो. तहां स्वर्ग अक्षय्य 'सर्वलोक'आदिपदन्सों सुख कह्यो हे. मोक्ष 'अमृत'आदिपदन्सों दुःखाभाव कह्यो हे. इन दोउन्की प्राप्ति धर्म करिके होवे हे. तहां ''अयं हि परमो धर्मो यद् योगेनात्मचिन्तनम्'' ( ) या वाक्यसों ज्ञान हु धर्ममें ही गतार्थ हे. याहीसों ज्ञानकी न्यारी पुरुषार्थमें गणना नहिं हे.

धर्मको सिद्ध करिवेवारो अर्थ हे. या प्रकार साक्षात्-परम्परा करिके चारि परुषार्थ हें. ये धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चारि पुरुषार्थन्में 'काम'नाम सुखको हे. 'मोक्ष'नाम सर्वथा दुःख दूर होयेसों कहे हें. तहां पशु-पुत्रादिक अर्थ यज्ञरूप धर्मको सिद्ध करिवेवारो हे. ज्ञानरहित यज्ञरूपधर्म स्वर्गरूप कामको सिद्ध करिवेवारो हे. ज्ञानसहित यज्ञ दुःखाभावरूप मोक्षको सिद्ध करिवेवारो हे.

अतः पश्वादिः अर्थो यागसाधनम्. यागश्च धर्मः कामसाधनं ज्ञानसहितो मोक्षसाधनञ्च. अतएव व्याख्यायते इति अर्थः।।१६।।

उपसंहरति **साधनञ्च फलञ्चैव** इति.

साधनञ्च फलञ्चैव हरिर्वेदे निरूप्यते।।
तदभिव्यक्तितः सर्वं पुरुषार्थस्वरूपतः।।१७।।

उभयात्मको हरिः वेदे निरूप्यते. ततश्च वेदानुसारेण तदभिव्यक्तौ सत्यां सर्वएव पुरुषार्थः सिद्ध्यति, यतो भगवान् पुरुषार्थस्वरूपः।।१७।।

एवं वेदार्थं निरूप्य वेदस्य स्वरूपं विनिरूपयन् प्रयोजनं च आह **रूप** इति.

रूपप्रपञ्चकरणाद् आसक्तस्वांशवारणे।।
श्रुतिमात्मप्रसादाय चकारात्मानमेव सः।।१८।।

विचित्रो रूपप्रपञ्चः. जीवाश्च अंशाः. अल्पानां विचित्रे भ्रमो भवत्येव अतः तस्मिन् निवारणार्थं श्रुतिं चकार. तस्याः स्वरूपम् आह **आत्मानम्**इति.

तात्पर्य ये हेः अत्यन्त अनुरागी मनुष्य कामनासिद्धिके अर्थ काम्य कर्मन्कुं करेगो. वाकी कामना सिद्ध भयेसों वाको धर्ममें विश्वास होयगो. फिर लौकिक दुःख-सुःखन्कों अनित्य देखिकें सकाम कर्मन्कुं छोडिके नित्यफलकी प्राप्तिकेअर्थ नित्यकर्म करेगो. ज्ञानयुक्त नित्यकर्म करिके परब्रह्मप्राप्ति होयेगी।।१६।।

वेदमें साध्य-साधनरूप करिके हरिको निरूपण कियो हे. वेदानुसार बर्ताव करिवेंसों साध्य-साधनरूप भगवान्के प्रगट होयवेसों सब पुरुषार्थ सिद्ध होवे हें. क्योंके भगवान् ही पुरुषार्थस्वरूप हें।।१७।।

या प्रकार वेदके अर्थको निरूपण करिके वेदके स्वरूपको निरूपण करते भये प्रयोजन कहें हें 'रूप' इति. भगवान्को जगत् रूप बड़ो विचित्र हे. या विचित्र जगत्में अल्प भगवदंश जीवन्कुं भ्रम हो जाय हे. वा भ्रमके दूर करिवेके अर्थ श्रुति-वेदरूप करिके भगवान्

ननु अन्तर्यामिणैव कथं न निवार्यन्ते तत्र आह आत्मप्रसादाय इति. अन्तःकरणप्रसादाय. जीवान्तर्यामिणौ पूर्वमेव हृदये प्रविष्टौ भोगभजनार्थं तदनुभोगेन मालिन्यं चित्ते जातं, न अन्तःस्थितेन दूरीकर्तुं शक्यम्. अतो बहिःस्थितेन प्रवेशसमर्थेन तद्दूरीकर्तव्यमिति श्रुतिनिर्माणम् इति अर्थः।।१८।।

इदमेव श्रुतेः प्रयोजनम् इति आह **इति** इति.

इति नित्यः श्रुतेरर्थः सात्विकानां प्रकाशते।।

उत्पन्नास्त्रिविधा जीवा देव-दानव-मानवाः।।१९।।

अध्ययनादिना (अध्यापनादिना) धर्मादिकमपि साधयति परं नित्यः अयमेव अर्थः प्रयोजनम्. अथवा पञ्चात्मको भगवान् वेदार्थः इति निरूप्य सर्वेषां तथाबुद्धिभावम् आशङ्क्य तेषां दोषं कथयन् स्वोक्तम् उपसंहरति इति **इति**. सात्विकानामेव अयम् अर्थः प्रकाशते न सर्वेषाम् इति अर्थः. ननु सर्वे भगवदंशाः. तत्र कथं केचन सात्विका अन्ये न इति व्यवस्था? तत्र आह **उत्पन्ना** इति. ''प्रजायेय''(तैत्ति.उप.२।६)इति भगवदिच्छयाविनिर्गताः

ही प्रकट भये. तहां अन्तर्यामीरूप करिके ही जीवको भ्रम क्यों नहिं दूर कियो? ये शङ्का नहिं करनी. क्योंके जीव तथा अन्तर्यामी दोउ भोगिवेके अर्थ हृदयमें पहिलेसोंही प्रविष्ट होय रहे हें. तहां भोग करिके भई जो चित्तकी मलिनता हे वाकुं भीतर स्थित अन्तर्यामी दूर नहीं कर सके हे. तासों भीतर हृदयमें धसवेंको समर्थ एसे बाहिर स्थित वेदरूपसों प्रकट होयके चित्त प्रसन्न हायवेके अर्थ भ्रम दूर करे हें ये वेदको प्रयोजन हे।।१८।।

वेदके पाठ करिवेसों धर्मादिकहु सिद्ध होय हें ये नित्यप्रयोजन हे. अथवा श्रीवल्लभाचार्यजी वेदार्थरूप जे पञ्चात्मक भगवान् हें उनको निरूपण करिकेह्नसदोष जीवन्कुं या प्रकारको वेदार्थ नहिं मालुम पडे हे किन्तु सात्विक जीवन्कुं ही अर्थ प्रकाशमान होवे हे, ओरकुं नहिं होवे हे, तहां सब जीव भगवान्के अंश हें तब ये केसे मालुम होय के ''ये सात्विक हे''-''ये जीव सात्विक नहीं हे''ह्नतहां व्यवस्था कहे हें 'उत्पन्ना'इति.

चिदंशा जीवाः तुल्या मा भवन्त्विति भगवन्मायागुणैः त्रिविधैः ते व्याप्ताः त्रिविरसभोगाय. अन्यथा तामसवस्तूनां भोगो न स्यात्. अतएव श्रुतौ "त्रयो ह वै प्राजापत्याः" ( ) इति देवाः मनुष्याः असुराः गणिताः. पञ्चरात्रेऽपि "त्रिविधा जीवसङ्घास्तु देवमानुषदानवाः, तत्र देवा मुक्तियोग्या मानुषेषूत्तमा अपि, मध्यमा मानुषा ये तु सृतियोग्याः सदैव हि, अधमा निरयायैव दानवास्तु तमोलयाः" ( ) इति. अतो जवीनां त्रैविध्यात् तदनुगुणाएव अन्तःकरणादयोऽपि तेषां भवन्ति।।१९।।

ततः किम्? अतः आह **सर्वे वेदविदः** इति.

सर्वे वेदविदो जाताः स्वभाव-गुणभेदतः।।

तेषां प्रकृतिवैचित्र्यात् श्रुत्यर्थो बहुधोदितः।।२०।।

यथार्थं श्रुत्वापि ते यदा व्याचक्षते तदा स्वरुच्या वेदार्थं वर्णयन्ति स्वभावगुणानां भेदात्. ततः किम्? अतः आह **श्रुत्यर्थो बहुधोदितः**इति।।२०।।

जब क्रीडाके अर्थ भगवान्की बहुत होयकें प्रकट होयवेकी इच्छा भई तब चिदंश जीव आपके स्वरूपसों प्रकट भये. वे सब जीव तुल्य ही नहिं होय जांय याके अर्थ त्रिविध रसभोग करिवेके अर्थ तीन प्रकारके मायाके गुणन् करिके व्याप्त भये त्रिविध जीव प्रकट कीये. अन्यथा तामस वस्तून्को भोग नहिं होयगो. याहींसो श्रुतिमें "त्रयः प्राजापत्याः" ( ) या वाक्यमें देव-मनुष्य-असुर तीन प्रकारके जीव गिने हें. नारदपञ्चरात्रमें हु तीन प्रकारके ही जीव लिखे हें. तहां दैवजीव तथा मनुष्यन्मेंसों उत्तम जीव मुक्तियोग्य हें. मनुष्यन्मेंसों मध्यमजीव संसारके योग्य हें. मनुष्यश्रन्मेंसों अधम जीव नरकके अर्थ हें. असुरजीव तामिस्र-अन्धतामिस्रमें लय होयवेके अर्थ हें।।१९।।

उन त्रिविध जीवन्के अन्तःकरणहु गुणन्के अनुसार न्यारे-न्यारे हें. तासों ये सब जीव वेदके अर्थकुं यथार्थ सुनिकें जब अपने मुखसों वर्णन करे हें. तब अपनी-अपनी रुचिके अनुसार न्यारो-न्यारो वेदार्थ वर्णन करे हें. क्योंके इनके स्वभाव-गुणन्के भेदसों वेदार्थ अनेक प्रकारको हो जायहे।।२०।।

तानेव प्रकारान् आह भावस्य इति.

भावस्याज्ञानतः कर्ममात्रं केचिद् वदन्ति हि।।

लोकप्रतीतं स्वीकृत्य कदाचिद् भगवान् वदेत्।।२१।।

उपक्रमादिप्रकरणार्थस्य भावस्य अज्ञानात् केवलं वाक्यार्थमेव अनुभूय क्रियामात्रं वेदार्थः इति केचिद् आहुः.

ननु महतां वाक्यात् तथा न भविष्यति? इति आशङ्क्य आह **लोकप्रतीतम्** इति. वेदार्थः इति केचिद् आहुः. महान्तो हि भगवदनुगुणाः. भगवांश्च सर्वमार्गप्रवर्तकः. अतः कर्ममार्गवक्तॄन् अनुसरति. "एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्नाः" (भग.गीता९।२१) इति. "वेदवादरताः पार्थ" (भग.गीता२।४२) इति "त्रैगुण्यविषया वेदाः" (भग.गीता२।४५) इति च. अतो योगादिप्रचारार्थं प्रकारान्तरापन्न-श्रुत्यर्थनिन्दया तथा बोधयतीति महान्तोऽपि तमर्थं न निवारयन्ति इति अर्थः।।२१।।

उन प्रकारनुकुं कहे हें. 'भावस्य' इति. उन प्रकारन्को वर्णन भागवत ११स्कन्धमें "धर्ममेके यशश्चान्ये" (११।१४।१०) इत्यादि श्लोकमें हे. उपक्रम-उपसंहार करिके प्रकरणार्थको विना जाने केवल वाक्यार्थको अनुभव करिके क्रियामात्र वेदार्थ हे एसें कितनेक कहे हें.

शङ्काः जैमिन्यादिक ऋषिके वाक्यसों हु तो क्रिया ही वेदार्थ सिद्ध होय हे तासों अन्य क्रियावादिनुकुं हु अज्ञान नहिं होयगो?

उत्तरः जैमिन्यादि महर्षि भगवान्के अनुगुण हें. भगवान् सब मार्गके प्रवर्तक हें. तासों कर्ममार्गके वक्तान्को हु अनुसरण करें हें. जेसे "एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्नाः" (भग.गीता.९।२१) इत्यादि स्थलन्में. तासों भगवान् योगादिकन्को प्रचार होयवेके अर्थ अन्य प्रकारसों किये श्रुत्यर्थकी निन्दा करिके "लौकिकी क्रिया ही वेदार्थ हे" "स्वर्गलोकादिककी प्राप्ति ही फल हे" या रीतिकी साधारणजन प्रतीतिकुं वेदार्थ बतावें हें. यासों बडे ऋषिहु भगवदुक्तको निवारण नहिं करें हें।।२१।।

ननु फलविसंवादात् स्वयमेव त्यक्ष्यन्ति इति आशङ्क्य आह फलन्तुइति.

फलन्तु सर्वमेवात्र तदंशत्वाद् भविष्यति।।
अतः कामनिषेधो हि क्विचिद् भगवतोदितः।।२२।।

यागानां भगवदंशत्वात् सर्वमेव कामितं फलं भवति. नतु नित्यं तत्. अन्यथा भगवता कामनिषेधो न उच्येत इति आह **अतः** इति. "एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि तु" (भग.गीता.१८।६) इति वाक्यात्।।२२।।

ननु वेदार्थः चेद् एकएव स्यात्. कथं सहजाः फलत्वेन मार्गाः भिन्नाः स्युः? अर्चिरादिमार्गो, धूमादिमार्गः, तृतीयो मार्गः च इति. अतो वेदएव तथा-तथा वदति इति मन्तव्यम् इति आशङ्क्य आह **यथोक्तेइति.**

यथोक्ते ह्यपुनर्जन्म ह्यन्यथा पुनरुद्भवः।।

यद्यपि नित्यफलमें ही वेदको तात्पर्य हे तथापि वेसे अधिकारीकों अनित्य काम्यफलमें हु फरक नहिं आवे हे. क्योंके याग भगवदंश हे. तासों सब अभिलषित फल हु होय जाय हें. वो फल नित्य नहिं हे. परन्तु या प्रकारको लोकसिद्ध वेदार्थ नहिं हे. यदि क्रियामात्र ही वेदार्थ होय तो स्वर्गलोकादिक ही मात्र फल होंय. तब तो "एतान्यपितु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च" (भग.गीता१८।६) इत्यादि गीतावाक्यामें कामनाको निषेध करिकें कर्म करिवेको उपदेश नहिं करते।।२२।।

शङ्काः वेदको अर्थ एक ही होय तो फलरूप मार्ग न्यारे-न्यारे क्यों होने चहिये? जेसे श्रद्धा, तपश्चर्या, इष्टापूर्ति आदिकन्के फलरूप १अर्चिरादिमार्ग जा मार्गद्वारा जीव सूर्यलोकमें होयके गयो भयो फेरि नहिं आवे हे. २धूमादिमार्ग, जा मार्गद्वारा गयो जीव चन्द्रलोकमें जावे हे ओर धर्म क्षय होयवेसों पाछो हु चलो आवे हे. तथा तीसरो मार्ग. ये तीनों मार्ग छान्दोग्य उपनिषदमें लिखे हें. तासों वेद ही जब न्यारे-न्यारे फल तथा न्यारे-न्यारे साधन बतावे हे तब आत्मसुखकी प्राप्ति तथा नित्यकर्मकी प्रवृत्ति करिवेमें ही वेदको तात्पर्य हे ये बात केसे बनसके?

तदर्चिरादि-धूमादि-मार्गद्वयम् उदीरितम्।।
वैराग्यार्थं तदप्युक्तं पञ्चाग्निख्यापने श्रुतौ।।२३।।

न अत्र वेदानुसारेण मार्गद्वयं किन्तु एकएव मार्गो वेदोक्तः. तम् आह **यथोक्ते ह्यपुनर्जन्म.** अयथाज्ञानतः कर्मकरणाद् धूमादिमार्गः इति आह **अन्यथा** इति. अनेन 'जायस्व' इत्यपि मार्गः सङ्गृहीतः. "येन स्यात् सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा" ( ) इति.

एवमेव शास्त्रकारैः भगवता च अभिप्रेत्य मार्गद्वयम् उदीरितं. नतु उभयमपि साक्षाद् वेदाभिप्रेतम् इति अर्थः. ननु अस्य धूमादिमार्गस्य कथने किं फलम्? नहि भ्रममार्गाः केनचिद् उच्यन्ते. किञ्च, धूमादिमार्गीयकर्मणः अविहितत्वे तत्फलं न स्यात्. न हि अविहितस्य भ्रमप्रतिपन्नस्य फलं सम्भवति इति आशङ्क्य आह **वैराग्यार्थम्** इति.

उत्तरः वेदके अनुसार दो मार्ग नहिं हे. वेदोक्तमार्ग तो एक ही हे. ज्ञानसहित यथार्थकर्म करके जा मार्गमें गयो जीव पाछो जन्म नहिं ग्रहण करे हे. तथा जो जीव यथार्थज्ञान विना कर्म करे हे वाको फेर जन्म होवे हे. एसे ही ज्ञानरहित सकाम कर्म करिवे वारेकुं सृष्टिवृद्धिके अर्थ "जायस्व म्रियस्व"(छान्दो.उप.५।१०।८) वाक्यानुसार अपने ही वशमें वारंवार जन्म-मरणको प्राप्त होनों पडे हे. या हीसों अभिप्रायकुं विचारिके शास्त्रकारन्ने तथा भगवान्नें हु गीतामें दो मार्गन्को वर्णन कियो हे. परन्तु वेदको साक्षात् अभिप्राय दो मार्गमें नहिं हे. वेदको अभिप्राय तो यथार्थज्ञान्सों कर्म करवायके अपुनर्भवह्नफिर जन्म नहिं होय एसें अर्चिरादिमार्गमें जीवको प्रवेश करवायवेमें हे. अब जो जीव यथार्थ ज्ञानसों कर्म नहिं करे हे वाकुं पुण्यक्षय भयेसों पाछो जन्म लेनो पड़े हे.

तहां शङ्का होय हे, धूमादिमार्ग वेदमें क्यों वर्णन कियो हे? यदि कहोगे के धूमादिमार्ग वेदसों विहित नहिं हे तो ताको ये उत्तर हेः विधान नहिं हे तो केवल भ्रममात्रसों जाने भये मार्गको फल केसे हो जाय हे? ताको उत्तर देवे हें 'वैराग्यार्थम्' इति. भ्रमसों तदपि भ्रमत्वेन प्रतिपन्नमपि जगति तस्य मार्गस्य प्रतीयमानत्वात्. किञ्च, **पञ्चाग्निख्यापने श्रुतौ** पञ्चाग्निख्यापनार्थं तद् उक्तं पञ्चाग्न्युपासकस्य फलसिद्धये. यथा वेदे लोकसिद्धः अनूद्यते "धन्वन्निव प्रपा असि" इत्यिदौ, तथा भ्रमसिद्धोऽपि अनूद्यते इति. यदुक्तं किञ्च इत्यादिना तत्र उच्यते. न हि अत्र अवैदिकत्वम् उच्यते किन्तु कर्मण्येव पश्वादावेव तात्पर्यं श्रुतेः इति प्रकारकः तात्पर्यभ्रमः. एतस्य भ्रमत्वं "वेदवादरताः" (भग.गीता२।४२) इत्यादिवाक्यैः निन्दितत्वेन ज्ञायते. एवं सति तदुक्तिस्तु सर्वथा सन्मार्गविमुखस्य अतिरागिणः पुंसः कथञ्चित् सन्मार्गे प्रवृत्यर्था. तदुक्तं "रोचनार्था फलश्रुतिः" (भाग.पुरा.११।३।४६) "यथा भैषज्यरोचनम्" (तत्रैव११।२१।२३) इत्यादि. तथा च तत्फलस्य निरूपणे तुच्छत्वज्ञानेन वैराग्यार्थं तन्निरूपणम् इति।।२३।।

प्रतिपन्न हु धूमादिमार्ग वेदमें वैराग्य हायवेके अर्थ कह्यो हे. अर्थात् वारंवार जन्म-मरणादिक्लेश देखिके वैराग्य आवेगो तब नित्यकर्म करिवेमें प्रवृत्त होयगो. वाकुं पञ्चाग्निविद्याके उपासककों फल सिद्ध हाय तदर्थ कह्यो हे. जेसे अग्निकी स्तुतिके अर्थ "धन्वन्निव प्रपा असि" (ऋग्वेदम.१०।४।१) इत्यादिकन्में लोकसिद्ध मारवाड़ देशकी प्याऊको अनुवाद हे तेसें भ्रमसिद्ध धर्मादि मार्गकोहु वेदमें वैराग्य हायवेके अर्थ अनुवाद हे. यासों ही पशुपुत्रादिक तथा स्वर्गादिकन्में ही वेदको तात्पर्य हे या रीतिको जिनकुं भ्रम हे उनकी गीताजीमें "वेदवादरताः पार्थ" (भग.गीता२।४२) "कामात्मानः स्वर्गपराः" (भग.गीता२।४३) इत्यादि श्लोकमें निन्दा लिखी हे. भ्रमसिद्धकी उक्ति तो अत्यन्त विमुख अनुरागी मनुष्यकुं कोई प्रकारसों सन्मार्गमें प्रवृत्ति करिवेके अर्थ हे. जब उन फलन्सों वाकी तृष्णा मिट जायेगी तब तुच्छ समुझके उनसों वैराग्य होय जायगो. ता पीछे जन्म-मरण छूटिवेके अर्थ नित्यकर्ममें प्रवृत्त होयगो.

तात्पर्य ये सिद्ध भयो जो अनेक प्रकारके विकृतियाग तथा अनेक फलन्को निरूपण वेदमें कियो हे सो पञ्चात्मक नित्यकर्ममें प्रवृत्तिके अर्थ हे।।२३।।

एवं वेदं वेदार्थं च निरूप्य शाखाभेदानां स्वरूपम् अर्थं च आह **बहुप्रकारम्** इति.

बहुप्रकारमेकं हि कर्म वेदे प्रकाश्यते।।
भगवन्मूर्तितासिद्ध्यै ते सर्वे पूर्वजैर्धृताः।।२४।।

एको ज्योतिष्टोमो भगवत्वात् सहस्रमूर्तिः. तत्र एका मूर्त्तिः यावता वेदेन उच्यते सा एका शाखा. सर्वेषां सर्वशाखाज्ञानं नास्तीति सामान्यधर्मसहितएव विशेषः सर्वत्र उच्यते. तेन न सामान्यकथनेन पुनरुक्तिः. यज्ञेषु भगवद्बुद्धिसिद्ध्यर्थम् अनेकरूपनिरूपणम्. ते सर्वे विशेषप्रकाराः पूर्वजैः मरीच्यादिभिः धृताः।।२४।।

अल्पज्ञत्वाद् आधुनिकाः पाठज्ञानाक्षमा द्विजाः।।
मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः।।२५।।
द्वापरान्ते हरिर्व्यासः तदर्थं प्रथमं पृथक्।।
चातुर्होत्रविभागेन व्यस्तवान् वेदरूपतः।।
शाखाभेदास्तु तच्छिष्यैः तेनैव प्रेरितैः कृताः।।२६।।

आधुनिकानां तथा सामर्थ्याभावात् शाखाप्रणयनम्. तत्रापि एका

या प्रकारसों वेद तथा वेदार्थ को निर्णय करिके शाखाभेदन्को स्वरूप तथा उनको प्रयोजन कहे हें 'बहुप्रकारम्' इति. जेसे भगवान् सहस्रमूर्ति वारे हें तेसें ज्योतिष्टोमरूप यज्ञात्मक भगवान् हु सहस्रभूर्तिवारे हें. जितने वेदके भागसों एक मूर्तिको वर्णन होय सके वो वेदभाग 'शाखा' कहावे हे. सबन्कुं सब शाखान्को ज्ञान नहिं हे. तासों सामान्य धर्मके प्रति शाखा वर्णन करिवेमें पुनरुक्तिदोष नहिं समुझनो. यज्ञन्में भगवद्बुद्धि होयवेके अर्थ अनेक रूप यज्ञभगवान्के वर्णन किये हें. मरीचि, भृगु आदि ऋषिन्नें तो जितने-जितने विशेष प्रकार हते सब साधारण कर राखे हते।।२४।।

अभीके मनुष्यन्की वेसी सामर्थ्य नहिं हे. तासों शाखाको विभाग करिके एक विशेष प्रकारको एक-एक शाखामें वर्णन कियो हे. तहांएक मूर्त्तिः यावता वेदभागेन निरुक्ता भवति तावतोऽपि अध्ययनं दुर्लभमिति प्रथमतः चतुर्धा मूर्तेः चतुर्थोंऽशो यावता प्रतिपाद्यते तावन्तं व्यासः पृथक् कृतवान्. तस्य खण्डस्य सहस्रमूर्त्तावपि उपयोगइति सएव अंशः. एको यावता निरुक्तः स ऋगादीनाम् एका शाखा इति. तथा व्यासशिष्यैः कृतम् इति अर्थः।।२५-६।।

इदानीम् अनुष्ठाने कः प्रकारः? केन अनुष्ठेयः? किम् इच्छया व्यवस्थया वा? इति सन्देहे निर्णयप्रकारम् आह **प्रकारभेदे** इति.

प्रकारभेदे पूर्वं तु विकल्पो ह्यैच्छिको मतः।।
अधुना नियतः शाखाभेदात् तत्तदधीतिषु।।२७।।

मूर्ति जितने वेदभागमें वर्णन करे हे वितनेको हु पढनो दुर्लभ हे. प्रथमसों व्यासजीनें चार प्रकारकी मूर्तिवारे भगवान्को एक चोथो अंश जितने वेदसों प्रतिपादन कियो जाय हे वितनो अंश न्यारो करिके एक वेदके चार भाग किये. वे भागः ऋग्वेद, अथर्ववेद, यजुर्वेद, सामवेद नामसों प्रसिद्ध हें. एसें विभागको सहस्रमूर्ति होयवेमें उपयोग हे. यज्ञकी सहस्रमूर्तिन्में एकमूर्ति जा वेदके जितने अंशद्वारा सिद्ध होय हे वो अंश वा ही वेदकी शाखा कहावे हे. या रीतिको विभाग व्यासजीके शिष्यन्नें कियो हे।।२५-६।।

अभी अनुष्ठान कोन रीतिसों करनो? यज्ञ तो सहस्रमूर्तिवारो हे, कोन मूर्तिको अनुष्ठान करनो चहिये? अथवा अपनी इच्छाके अनुसार चाहे जा शाखाके अनुसार यज्ञभगवान्‌की एकमूर्तिको अनुष्ठान करलेनो? एसो सन्देह प्राप्त भयो तहां निर्णय करे हें 'प्रकरभेद' इति.

ब्रह्मादिक तो अपनी इच्छाके अनुसार ही सहस्रमूर्ति वारे यज्ञभगवान्‌को अनुष्ठान करे हें. क्योंके उननें सहस्र प्रकार ही धारण करि राखे हें. आधुनिक जीव तो अल्पायुष्य वारे मन्दबुद्धि वारे हें. तासों सहस्रमूर्तिन्‌मेंसो एकही मूर्तिको अनुष्ठान कर सके हें. तहां जा शाखाको अध्ययन

ब्रह्मादीनाम् ऐच्छिकएव. आधुनिकानां व्यवस्थितः इति अर्थः।।२७।।

पुरुषः षोढा विहितइति पञ्चात्मके कर्मणि निरुक्ते षष्ठांशस्य अपेक्षा भवति. तत्प्रतिपादकम् उत्तरकाण्डम्. तच्च ब्रह्म. तदपि अनन्तरूपम्. अन्यथा अनन्तमूर्त्तित्वं न स्यात्. अतो यत्रैव पञ्चात्मके यच्छिरो भवितुं युक्तं तत्प्रतिपादिकोपनिषत् तत्रैव योजिता. तथैव हौत्रादिकमपि ज्ञातव्यम्. तदेतद् आह **कर्मवद् ब्रह्मभेदाः** इति.

कर्मवद् ब्रह्मभेदाश्च गीयन्ते बहुधर्षिभिः।।
तेषां भिन्नतया पाठे उच्छेदो भवतीति हि।।
कर्मशाखागताश्चक्रे निर्णयः पृथगेव हि।।२८।।

इदम् अलौकिकं भवति इति अत्र प्रमाणमिव आह **गीयन्ते बहुधर्षिभिः** इति. तेषाम् अध्ययनसिद्ध्यर्थम् आह **तेषाम्** इति. तावतैव सम्पूर्णशाखाध्यायित्वे विध्यभावाद् उच्छेदो भवेत्. तर्हि एकएव अर्थः प्रयोजनं वाच्यं च स्यात्. अन्यथा एकवाक्यता न भवेद् इति. तत्र आह **निर्णयः पृथगेव हि** इति. तेषां पाठार्थमेव एकवाक्यता. निर्णयस्तु पृथगेव व्यासेन कृतः.

परम्परासों चलो आतो होय वा शाखामें जा प्रकारकी यज्ञमूर्तिको वर्णन होय वाके अनुसार वा यज्ञमूर्तिको ही अनुष्ठान करनो. अभीके कालमें ये हीनियमहे.

पुरुषके छ अङ्ग होवे हें: दो चरण, दो हस्त, (मध्यभाग) धड, मस्तक. उनमेसों पांच अङ्गको तो पूर्वकाण्डमें वर्णन आयो तथा छठो अङ्ग जो शिर हे वाको प्रतिपादन करिवेवारो उत्तरकाण्डको उपनिषद्भाग हे. जेसे पूर्वकाण्डोक्त पांच अङ्ग अनन्तरूप हें तेसें ही उत्तरकाण्ड वेदान्तमें वर्णन कियो जो ब्रह्म हे वो हु अनन्तरूप हे. अर्थात् जेसें हस्तपादादिक हजारन् हें वेसे मस्तक हु हजारन् हें।।२७।।

'कर्मवद्' इति. ये अलौकिक हे. जेसे न्यारी-न्यारी शाखान् करके कर्मके अनेक भेद हें तेसें न्यारे-न्यारे उपनिषदन्में ब्रह्म हु अनन्तरूप वारो प्रतिपादित भयो हे. केवल पूर्वकाण्डके अध्ययन मात्रसों

अतो ज्ञायते वाच्यैकत्वं प्रयोजनैकत्वं च काण्डद्वयस्य नास्ति इति. द्वितीयस्याऽपि अर्थावबोधपर्यन्तम् अध्ययनम्, स्वाध्यायविधिनैव तस्यापि परिग्रहात्. अन्यथा ब्रह्मणि सन्देहाभावात् निर्णयो व्यर्थः स्यात्. अतः काण्डद्वयं भिन्नमपि एकत्र पठितम्. अंशतः परस्परोपकारार्थं च. आधिभौतिकैः यज्ञैः चित्तशुद्धिः, वेदान्तैः जीवस्वरूपविज्ञानम् इति. मुख्यरूपत्वसिद्ध्यर्थन्तु पृथङ्निर्णयः इति 'हि' शब्दार्थः।।२८।।

ननु अर्थावबोधेनैव निःसन्देहो जात इति किं निर्णयेन अर्थावबोधेन सन्देहनिवृत्तिः तदा दुष्टा परम्परा स्याद्? इति आशङ्क्य आह **असन्दिग्धोपि**इति.

असन्दिग्धोऽपि वेदार्थः स्थूणाखननवत् कृतः।।
मीमांसानिर्णयः प्राज्ञे दुर्बुद्धेस्तु ततो द्वयम्।।२९।।

अपनी सम्पूर्ण शाखाको अध्ययन भयो नहिं कहावे हे. यदि एसें होय तो उत्तरकाण्डात्मक उपनिषदन्के अध्यनकी न्यारी विधि नहिं होयवेके कारणसों कोई हु उपनिषदन्कों नहिं पढेंगे. तो उपनिषदन्को (उच्छेद=) तिरोभाव होय जायगो. तासों दोउ काण्डन्को एक ही प्रयोजन कहनो चहिये, अन्यथा एकवाक्यता न होयगी. ओर वेद हु दोउ काण्डको ही नाम हे।।२८।।

पूर्वकाण्डके सङ्ग उत्तरकाण्डको अध्ययन होयवेके अर्थ दोउ काण्डन्की एकवाक्यता हे. निर्णय तो उत्तरकाण्डको व्यासजीनें न्यारो ही कियो हे. तासों

प्रयोजन न्यारो हे तथा वाक्यभेद हु हे. परन्तु ''स्वाध्यायोध्येतव्य'' (तैत्ति.आर.२।१५) इत्यादि श्रुतिमें वेदके अध्ययनमें उपनिषदन्को हु ग्रहण हे. तासों उत्तरकाण्डको हु अर्थज्ञान पर्यन्त अध्ययन करनो. अर्थ जाने विना यदि पाठमात्रसों ही अध्ययन सिद्ध होय जातो होय तो मूलके पाठमें कोईकुं हु सन्देह नहिं होयगो. तब तो ब्रह्मसूत्रन्के द्वारा कियो भयो निर्णय व्यर्थ ही जायगो. तासों उपनिषदन्कों अर्थसहित पढनों. दोउ काण्ड भिन्न हें परन्तु एक ही स्थानमें पढे हें सो एक देशके द्वारा परस्पर उपकार हायवेके अर्थ पढे हें. अर्थात् वेदान्तके द्वारा

पाठदशायां यद्यपि न सन्देहः तथापि कालान्तरे सन्देहो भविष्यतीति लक्षणकरणवन् मीमांसाकरणम्. तत्र लौकिको दृष्टान्तः **स्थूणाखननवद्** इति. स्थूणा निखाताऽपि पुनरुद्धृत्य निखात्यते तथा निःसन्दिग्धोऽपि सन्देहम् आपद्य दाढ्र्याय निरूप्यते मीमांसानिर्णयकारैः. इदम् उत्तमं प्रति तेषां प्रयोजनं सफलं भवति. मन्द-मध्यमान् प्रति तु सन्देहाभावो दाढ्र्यं च इति द्वयम्।।२९।।

तत्र निर्णयकर्तारम् आह **जैमिनिः** इति.

जैमिनिः कर्मतत्त्वज्ञो निर्णयं पूर्व उक्तवान्।।
व्यासः स्वयं हि सर्वज्ञ उत्तरे निर्णयं जगौ।।३०।।

जीव नित्य हे ऐसो ज्ञान होय तब दूसरे जन्ममें स्वर्गादिक प्राप्ति होवेके अर्थ यज्ञादि कर्ममें विश्वास होय. ये ही वेदान्तको पूर्वकाण्डमें उपकार हे. एसें ही आधिभौतिक यज्ञन् करिके आनुषङ्गिक चित्तशुद्धि होय तब वेदान्तको ज्ञान स्थिर होयह्नये ही पूर्वकाण्डको वेदान्तमें उपकार हे. तथापि उपनिषदन्को मुख्यार्थ नहिं सिद्ध भयो तब व्यासजीने ब्रह्मसूत्र बनायके मुख्यार्थ सिद्ध करिवेके अर्थ न्यारो निर्णय कियो.

प्रश्नः अर्थज्ञान्सों ही वेदको सन्देह दूर हो जायगो तोहु जैमिनिऋषि तथा व्यासजीनें दो मीमांसासूत्र क्यों बनाये?

उत्तरः पाठ समयमें सन्देह नहिं हे. तथापि कालान्तरमें सन्देह अवश्य होयगो. तब प्रातिशाख्यभाष्यद्वारा ज्यों शब्दन्के सन्देह दूर किये जाय हें त्यों अर्थको

सन्देह मीमांसाद्वारा दूर होयेगो. गाडी भई हु थूणी दृढताके अर्थ फेरि उखाड़के गाडी जावे हे एसें ही उत्तमाधिकारीन्के हृदयमें निःसन्देह वेदार्थ हे तामें हु सन्देह उत्पन्न करिके दृढता होयवेके अर्थ सूत्रन्द्वारा निर्णयकारन्नें निर्णय कियो हे. तथा जिनके हृदयमें सन्देह हे एसे जे हीनाधिकारी तथा मध्यमाधिकारी हें विनके तो सन्देह मीमांसासूत्रन्के द्वारा ही दूर होय जाय हें तथा दृढता हु होय हे।।२९।।

कर्मज्ञानं करणे हेतुः. उत्तरत्र व्यासः. असर्वज्ञेन तन्निर्णयः कर्त्तुम् अशक्यइति सर्वज्ञो व्यासः उत्तरत्र कर्त्ता।।३०।।

अतः सर्ववेदार्थज्ञानाय उभयं ज्ञातव्यम् इति आह उभयोर्हि इति.

उभयोर्हि परिज्ञाने सर्ववेदार्थनिर्णयः।।

निर्णयो बहुभिर्नष्टः पश्चाद् वक्ष्ये तयोर्गतिम्।।३१।।

ननु निर्णायके विद्यमाने कथं वेदार्थाज्ञानम्? कथं वा भगवद्भजनम्? इति तत्र आह **निर्णयो बहुभिर्नष्टः** इति. अन्यथाव्याख्यातृभिः श्रुति-सूत्रम् अविचार्य स्वेच्छया वदद्भिः. तर्हि कथं निस्तारः? तत्र आह पश्चाद् इति. **गतिम्** उद्धारप्रकारम्।।३१।।

उपसंहरन् पूर्वोक्तम् अर्थं स्पष्टम् आह **पुरुषः** इति.

जैमिनि कर्मतत्वके जानिवे वारे हें. तासों पूर्व काण्डको निर्णय जैमिनिऋषिनें कियो. ओर व्यासजी सर्वज्ञ हें तासों उत्तरकाण्डको निर्णय व्यासजीने स्वयं ही कियो हे।।३०।।

वेदान्त निर्णय अल्पज्ञ नहिं कर सके हें तासों सर्वज्ञ वेदव्यासजीनें उत्तर काण्डको निर्णय कियो. तासों समस्त वेदको अर्थ जानिवेके अर्थ दोउ मीमांसासूत्रन्को ज्ञान आवश्यक हे.

शङ्काः निर्णय करिवे वारे सूत्र विद्यमान हें फिर जीवन्कुं वेदार्थज्ञान तथा भगवान्के भजनमें प्रवृत्ति क्यों नहिं होय हे?

उत्तरः "निर्णयो बहुभिर्नष्टः" इति. श्रुति-सूत्रको तात्पर्य विना विचारे स्वेच्छासों व्याख्यान करिवे वारेन्नें निर्णय बिगाड़ दियो हे. तब अभीके मनुष्यन्को केसें निस्तार होय तहां निस्तार होयवके प्रकार आगे "वर्णाश्रमवतां धर्मः" (तत्वा.दी.नि.२।१८५) इत्यादि श्लोकन्में कहेंगे।।३१।।

अङ्गन्कुं स्पष्ट कहे हें. दर्शपूर्णमास दो हस्त हें, पशुयज्ञ-चातुर्मास्य

पुरुषो विहितः षोढा करौ पादौ शिरोन्तरम्।।
शिरो ब्रह्म हरिः पूर्वं यज्ञः पञ्चविधः स्वयम्।।
अनन्तमूर्तिर् भगवांस्तेन शाखास्तथा कृताः।।३२।।

षोढा षट्प्रकारः. अन्तरं मध्यम्. तत्र षट्सु शिरो ब्रह्म. सम्पूर्णः पुरुषो अनन्तमूर्तिः. तेन अनन्ताः शाखाः कृताइति सर्वो वेदः प्रमाणम्।।३२।।

दो चरण हें, सोमयज्ञ मध्यभाग (धड) हे, ब्रह्मरूप हरि मस्तक हें. ये सम्पूर्ण पुरुष अनन्तमूर्तिवारो हे तासों अनन्तशाखा हें. याहीसों सब वेद प्रमाण हे. इति वेदनिर्णयः।।३२।।

इति श्रुतिप्रकरणम्

एवं वेदं निर्णीय स्मृतिनिर्णयम् आह **स्मृतिर्बहुविधा** इति.

स्मृतिर्बहुविधा प्रोक्ता वेदाचारविभेदतः।।
ऋषीणां पूर्वचरितस्मरणं स्मृतिरुच्यते।।३३।।

वेदवन् न स्मृतिनिर्णयः. वेद हि पञ्चात्मको, द्विरूपः, षडङ्गसहितो निरूपितः. न तथा स्मृतिः. किन्तु बहुविधा. अत्र वेदोपि मूलं, व्यवहारोऽपि इति. तद् आह **वेदाचारविभेदतः** इति. स्मृतेः लक्षणम् आह **ऋषीणाम्** इति. **स्मरणं** स्मृतिः।।३३।।

तस्य स्मरणस्य अनुभवएव मूलम्. सतु अनुभवो बहुधा जायते इति आह **तदाचाराद्** इति.

तदाचाराल्लोकतश्च न्यायान् नित्यानुमेयतः।।
प्रवृत्तिर्जीविका लोके व्यवहारो विशुद्धता।।३४।।

अथ वेदार्थको निर्णय करिके स्मृतिन्को निर्णय करें हें. वेदके निर्णयमें स्मृतिको निर्णय गतार्थ नहिं होय सके हे. वेदमें तो अग्निहोत्र, पूर्णमास, पशु, चातुर्मास्य तथा सोमयाग इन भेदन्सों पञ्चात्मक तथा प्रकृति-विकृतिभेदसों दो रूपवारे षडङ्ग-साधन सहित भगवान्को वर्णन हे. एसें स्मृतिको निर्णय नहीं हे. स्मृति, किन्तु, अनेक प्रकारकी हे. स्मृतिन्में वेद हु मूल हे तथा व्यवहार हु मूल हे. वेदके तथा सदाचारके भेद करिकें स्मृति अनेक प्रकारकी हे.

स्मृतिके लक्षण कहत हें 'ऋषीणाम्' इति. ऋषिलोगन्नें पहिलेके आचारन्को स्मरण करिकें जो वाक्य कहे हें उनको नाम 'स्मृति' हे. तहां ये नियम हेः जाको अनुभव होय हे ताकोही स्मरणहोय।।३३।।

अनुभव अनेक प्रकारको हे. पूर्व कल्पमें ऋषिन्को जेसो आचार हतो, जेसो लोकको व्यवहार हतो, न्यारे-न्यारे देशन्के न्यारे-न्यारे जेसे आचार हते जा ऋषिनें जेसो अनुभव कियो हतो वेकु वेसो ही स्मरण आयो वा ऋषिनें वेसो ही अपनी स्मृतिमें वर्णन कियो हे.

पूर्वकल्पे यथा आचारः स्थितः, ऋषिणां यथा वा लोकव्यवहारः, तत्रापि देशभेदेन यो देशाचारो येन ऋषिणा स्मृतः तेन तथा उपनिबद्धः इति 'च'कारार्थः. न्यायोऽपि मूलम्. सोऽपि पूर्वकल्पस्थितः. एते त्रयोऽपि व्यवहारोपयोगिनः. धर्मोपयोगिनीं स्मृतिम् आह नित्यानुमेयतः इति. योगबलेन **नित्यानुमेयवेदं** स्मृत्वा यद् अवादिषुः तद् अवश्यकृत्यम्. चतुर्णां फलम् आह प्रवृत्तिः इति. आचारात् लोके **प्रवृत्तिः**. प्रकर्षेण स्थितिः भवति.

यासों जिन आचारन्में परस्पर विरोध दीखे हे उनकी देशभेदसों व्यवस्था समुझ लेनी. जेसें कितनेक स्मृति वाक्यन्में तो ब्राह्मणकुं दश दिनको, क्षत्रियकुं बारह दिनको, वैश्यकुं पंचदश दिनको तथा शूद्रकुं महिना भरको सूतक लिखे हें. कितनेक वाक्यन्में सब ही वर्णके मनुष्यके अर्थ दश दिनको सूतक लिखे हें. एसें स्थलन्में देशभेद करकें व्यवस्था कर लेनी. अर्थात् जा देशमें पूर्वकालमें जेसो आशौचको प्रचार हतो वा देशवासीन्के अर्थ ऋषीन्नें वेसोही आशौचको वर्णन कियो. तात्पर्य ये हे के दोउ पक्ष स्मृतिमें लिखे हें. तासों दोउ पक्ष प्रमाण हें. जा देशमें सर्व वर्णमें दश दिनके अशौचको प्रचार होय वाही देशके अर्थ वा वाक्यकों समुझनो. जा देशमें चारों वर्णन्में न्यारो-न्यारो आशौच प्रचलित हे वा देशमें दश दिन, द्वादश दिन, पञ्चदश दिन तथा मास मात्रके आशौचको निरूपण करिवे वारे वाक्यन्सों व्यवस्था समुझनी.

एसें ही न्यायशास्त्र हु स्मृतिको मूल हे. अर्थात् चन्द्र, बृहस्पति, शुक्र आदि देवतान्को कियो भयो नीतिशास्त्र हु स्मृतिको मूल हे. आचार-लोकव्यवहार-न्याय ये तीनों व्यवहाराध्यायके मूलभूत हें तासों व्यवहारके उपयोगी हें.

धर्ममें उपयोग वारी स्मृतिको वर्णन करें हें. योगके द्वारा नित्यानुमेयवेदको स्मरण करिकें ऋषिन्नें जो बात कही हे वाकुं अवश्यकरिवे योग्य समुझनी. जेसे गृह्यसूत्र आचार-प्रायश्चित्ताध्यायादिरूप जो स्मृति हे

लोकानुसारेण जीविका भवति. न्यायेन व्यवहाराः. नित्यानुमेयवेदोक्तेन विशुद्धता भवति. अनेनैव वेदार्थे तस्या उपयोगः.

ननु प्रत्यक्षएव वेदो मूलम् अस्तु, किं नित्यानुमेयवेदेन? अनुपलब्धेः, इति चेद्, उच्छन्नशाखा-प्रच्छन्नशाखा वा मूलं भविष्यति इति.माएवम्.

वाकुं यज्ञादिकन्के उपयोगी होयवेसों धर्मोपयोगिनी समुझनी.

इन चारोंके फलको वर्णन करें हे. आचारसों लोकमें प्रवृत्ति होवे हे, प्रकर्षकरके स्थिति होवे हे. अर्थात् व्रत-तीर्थगमनादिकर्मन्को प्रवाह होवे हे. लोकव्यवहारमूलक स्मृतिके अनुसार बर्ताव करिवेंसो जीविका होवे हे. नीतिशास्त्रमूलक स्मृतिके अनुसार बर्ताव करिवेंसो व्यवहार चलें हे. नित्यानुमेयवेदोक्त स्मृतिके अनुसार आचरण करिवेंसो चित्त शुद्ध होय हे. चित्त शुद्ध करिवे वारी हे ताहीसों ये स्मृति वेदार्थमें साक्षात् उपकार करिवेवारी हे.

शङ्काः जिन स्मृतिन्में आचार-प्रायश्चित्तादिक लिखे हें उन स्मृतिन्को ऋषिन्नें प्रत्यक्ष विद्यमान वेदके अनुसार वर्णन कियो हे एसो माननो.

उत्तरः एसें होय तो स्मृतिन्में जेसे आचार-प्रायश्चित्तादिक लिखे हें वेसे ही प्रत्यक्षवेदमें लिखे दीखनें चहिये सो नहिं दीखे हें. तासों नित्यानुमेयवेदको स्मरण करके ही स्मृतिको वर्णन कियो हे एसें माननो.

शङ्काः उच्छिन्न-प्रच्छन्न अर्थात् लुप्त होय गई जो वेदकी शाखा उनको स्मरण करिकें स्मृति बनाई हे एसे माननो.

उत्तरः व्यासजी आदि सम्पूर्ण वेदकुं जानिवे वारे जे ऋषि हें उननें हु आचारनिरूकिका स्मृतिन्कुं अनुमानरूप मानी हे. स्मृतिन्के द्वारा वेदकुं अनुमेय मान्यो हे.

व्यासादिभिरपि सर्ववेदद्रष्टृभिरपि अनुमानत्वेन निरूपणात्. ''अपि वा कर्तृसामान्यात् प्रमाणमनुमानं स्यात्'' (जैमि.सूत्र१।३।२) इति प्रत्यक्षवेदमूलत्वेन अनुमानं भवेत्. अतः स्मृत्या अनुमेयएव वेदो भवतीति नित्यानुमेयएव वेदो मूलम्. अन्यथा वेदव्यासः ''स्मृतिश्च'' (ब्रह्मसूत्र४।३।११) इति न वदेत्.

शङ्काः कदाचित् प्रत्यक्षवेद ही स्मृतिन्को मूल होय तो स्मृतिन्कुं अनुमानरूप क्यों मानते?

उत्तरः या विषयमें जैमिनिकृत पूर्वमीमांसाके स्मृतिपादको दूसरो सूत्र ''अपि वा कर्तृसामान्यात् प्रमाणमनुमानं स्यात्'' (जैमिनिसूत्र१।३।२) ये प्रमाण हे. अर्थात् कल्पसूत्र तथा स्मृतिन् की रचना समान ऋषिन्नें करि होयवेसों स्मृति प्रमाण हे. तासों आचार-प्रायश्चित्ताध्यायादिरूप स्मृतिन्सों अनुमेय वेद एक भिन्न ही हे. वो ही नित्यानुमेय वेद हे. वो वेद ही स्मृतिन्को मूल हे. यदि एसें नहिं होय तो वेदव्यासजी ''स्मृतेश्च'' (ब्रह्मसूत्र१।२।६) ये सूत्र नहिं बनावते. क्योंके वेदको मनुआदि ऋषिन्नें योगबलसों अनुभव करिके वा ही अनुभवको अपने बनाये मनुस्मृति आदि ग्रन्थन्में यदि वर्णन कियो होय तो उन ग्रन्थन्को स्मृतिपनो नहिं बन सकेगो, अनुभवरूपता हो जायगी. तथा यदि प्रत्यक्षविद्यमान वेदके ही अनुसार स्मृतिन्में वर्णन होय तो प्रत्यक्षवेद विद्यमान ही हे तब द्व्यन्तरिततात्रजामें दोय व्यवधान हें ऐसी स्मृतिको व्यासजी क्यों नाम ले हें? अर्थात् स्मृति वेदकी अपेक्षा अनुभव तथा अर्थ इन दोउ करिके व्यवधान वारी होवे हे. याको विस्तार या श्लोकके 'आवरणभङ्ग'में लिख्यो हे.

तात्पर्य ये हे के यदि आचर-प्रायश्चित्तादि वर्णन करिवेवारी स्मृतिन्कुं वेदमूलक नहिं मानें हें तब तो वे अप्रामाणिक होय जायेंगी. क्योंके जैमिनि ऋषिनें ''धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्षं स्यात्'' (जैमिनिसूत्र१।३।१)

विद्यमाने प्रत्यक्षवेदे किम् इति द्व्यन्तरिताम् उदाहरेत्।।३४।।

ननु दृश्यते स्मृतिसंवादी वेदभागः. यथा ''धन्वन्निव प्रपा असि'' (तैत्ति.सं.६।१२।४) ''नाप्सु मूत्रपुरीषं कुर्यात्'' (शत.ब्राह्म.१०।१८२) ''न विवसनः स्नायात्'' ( ) इत्यादि. तत्र आह **संवादे चान्यशेषत्वाद्** इति.

संवादे चान्यशेषत्वात् न स्मृत्यर्थं स्पृशेच्छ्रुतिः।।
गृहादिरिव देहस्य धर्मस्योपकृतिः स्मृतिः।।
उभयोः समवाये तु धर्मः पुष्टो न चान्यथा।।३५।।

या स्मृत्यधिकरणके सूत्रमें वेदविधिमूलक जे स्मृतिवाक्य नहिं हें उनकुं आदरणीय नहिं मानें हें. तथा स्मृतिन्कों यदि प्रत्यक्षवेदविधिमूलक मानें हें तो प्रत्यक्षविद्यमान वेदसों ही कार्य होय जायगो, स्मृतिन्को बनायवो वृथा होयगो. अतः अनुभवविना स्मरण नहिं होय हे ये नियम हे. तासों जा अनुभवको स्मरण करिके मनुस्मृति आदि बनी हे वो अनुभव नित्यानुमेयवेदरूप ही हे।।३४।।

शङ्काः स्मृतिन्में जेसें धर्म दीखे हे तेसें प्रत्यक्ष वेदमें हु दीखे हे. यथा ''धन्वन्निव प्रपा असि'' (तैत्ति.सं.६।१२।४) अर्थः हे अग्नि तुम निर्जल देशकी प्याऊ हो; अर्थात् निर्जल देशमें प्याऊ जेसे मनुष्यकुं प्यारी हे तेसे तुम हमकुं प्यारे हो. ''नाऽप्सु मूत्रपुरीषं कुर्यात्'' (शत.ब्राह्म.१०।१८२). अर्थः जलमें मूत्र-पुरीष नहीं करनो. ''न विवसनः स्नायात्'' अर्थः नग्न होइके स्नान नहीं करनो. या प्रकारके अनेक धर्म वेदमें लिखे हें. तासों प्रत्यक्षवेदमूलक ही स्मृतिन्कों माननो.

उत्तरः ''सम्वादे चान्यशेषत्वाद्'' इति. वेदमें सब ठिकाने प्रकरण नियामक हे. जेसें ''आहिताग्निर्नानृतं वदेत्'' (श.ब्राह्म.२।२०।२।२०) अर्थः अग्निहोत्री मिथ्या नहिं बोले ह्वये वाक्य हे. सो अग्निहोत्रादि करिवेवारेन्के अर्थ मिथ्या बोलिवेकी नांई करे हें, सबन्के अर्थ मिथ्याभाषणको

वेदे हि प्रकरणं सर्वत्र नियामकम्. ''तस्माद् आहिताग्निर्नानृतं वदेत्'' ( ) इति. न हि आहिताग्नेः अनृतनिषेधकं सर्वेषां भवति. नाऽपि अधिविष्टकोपधानकर्तुः जलनिष्ठीवनादिनिषेधः सर्वेषां भवति. नापि प्रपाया लोकसिद्धाया दृष्टान्तार्थं कीर्तिताया: तदेव वाक्यं विधायकं भवति, वाक्यभेदप्रसङ्गात्. यथा वेदेषु क्वचित्

संवादो भिन्नशेषाणां नाभागोपाख्यानादीनां तथा नित्यानुमेयवेदार्थेनापीति न स्मृत्यर्थं श्रुतिः प्रत्यक्षा स्पृशति इतिअर्थः.

ननु किं स्मृत्या? इति आशङ्क्य आह **गृहादिरिव** इति. देहस्थानीयो

निषेध या वाक्यसों नहिं होय सके हे. एसें यज्ञमें इष्टिका-ईंट स्थापन करिवे वारेके अर्थ जलमें थूंकवेको निषेध हे. ये निषेध सबन्‌के अर्थ नहिं होय सके हे. एसें ही लोकप्रसिद्ध प्याऊके दृष्टान्तकेअर्थ वेदमें नाम लिख्यो हे. तासों वेदमें सब मनुष्यन्‌कुं प्याऊ बनायवेकी आज्ञा दीनी हे एसे नहिं कहि सके हें. यदि यज्ञके प्रकरणमें कहे जे वाक्यन्‌कुं सब मनुष्यन्‌के ऊपर मान लोगे तो पशुको आलभन, ईंटन्‌को स्थापन, ''इषेत्वो'' (तैत्ति.सं.१।१।१।१) आदि मन्त्रसों वृक्षकी शाखाको छेदन यज्ञ नहिं होय तब हु सबन्‌कों सर्वदा ही करनो पड़ेगो. तासों जा यज्ञके प्रकरणमें जो वाक्य होय वो वाक्य वा यज्ञके करिवेवारेके अर्थ ही समुझनों. यदि सबनके अर्थ मानें तो (वाक्यभेद) अर्थात् एकवाक्यता नहिं रहि सकेगी. क्योंके वाक्यकुं वा प्रकरणकुं छांडिके जब साधारण मानेंगे तब वा वाक्यके अन्य हु अधिकारी होय सकेंगें. अतः स्मृतिन्‌को मूल वेदकी लुप्त शाखा हें ये हु ठीक नहीं हे.

ये वाक्यभेद बड़ो दूषण हे. जेसे वेदमें कहुं-कहुं भिन्न शाखान्‌के शेषभूत नाभागराजा आदिकन्‌के उपाख्यानको संवाद हे तेसें प्रत्यक्ष विद्यमान वेदको हु नित्यानुमेय वेदके अर्थके सङ्ग क्वचित् संवाद हे. तासों स्मृतिके अर्थकुं प्रत्यक्ष श्रुति स्पर्श नहिं कर सके हे. अतएव स्मृति नित्यानुमेयवेदमूलक ही हे.

स्मृतियें क्यों बनाई हें? या शङ्काकुं दूर करते भये स्मृतिको वैदिको धर्मः. गृहस्थानीयः स्मार्तः. उभाभ्यां जीवः सुखी न अन्यथा।।३५।।

नित्यानुमेयवेदमूलिकायाः स्मृतेः अर्थम् आह गर्भाधानादि इति.

गर्भाधानादिसंस्काराः सन्ध्योपास्त्यादिकं तथा।।

नित्यश्राद्धादिकर्माणि पाकयज्ञादिकं तथा।।३६।।

षोडश संस्काराः सन्ध्योपासनं कालादिसहितम्. न हि तादृशानुपूर्वीविशिष्टं ''रक्षांसि ह वा पुरोनुवाकः'' ( ) इत्यत्र वर्तते. नित्यश्राद्धादिविधानं मासिकश्राद्धविधिः. पाकयज्ञाः स्थालीपाकादयः. 'आदि'शब्देन वैश्वदेवादिकमपि.

प्रयोजन कहे हें: 'गृहादिरिति'. जेसे देह या जीवकुं सुख देवेवारो हे तेसे ही वेदोक्त यज्ञ, तप, ब्रह्मज्ञान आदि धर्म या आत्माकों सुख देवेवारे हें. जेसें देहको पोषण करिवेवारो गृह हे तेसें वेदोक्त यज्ञादिकन्को पोषण करिवेवारे स्मृतिके लिखे भये आश्रमादि धर्म हें. जेसे देह-गृह ये दोउ होंय तब जीव सुखी होय. एसे ही वेदोक्त धर्म तथा स्मृतिलिखित धर्म इन दोउ करिकें धर्म पुष्ट होवे हे, एकसों नहिं ।।३५।।

नित्यानुमेय वेदमूलक जो स्मृति हे वाका अर्थ कहे हें 'गर्भाधानादि' इति. गर्भाधान्कुं आदि लेकें सोलह संस्कार तथा समय-के-समय सन्ध्याकी उपासना करनों. तासों शुद्धि होय. क्योंके "सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यम्" (ब्रह्मवै.पुरा.प्रकृतिखण्ड २१) या वाक्यमें सन्ध्या नहिं करिवे वारेकुं अपवित्र बतायो हे. "शौचाचारविहीनानां समस्ता निष्फलाः क्रियाः" या वाक्यमें आचारहीन अपवित्र पुरुषके किये कर्मकुं निष्फल बतायें हें. तथा "अकालविहिता सन्ध्या या सा वान्ध्यावधूरिव" या वाक्यमें काल चूककें करी भई सन्ध्याकुं बांझ स्त्रीके समान निष्फल बताई हे. जेसे अनुक्रमसों स्मृतिन्में सन्ध्योपासनादिक कर्म लिखे हें वेसे क्रमसों "रक्षांसिह वा पुरोनुवाकः" इत्यादि वेदमार्गमें नहिं लिखे हें. नित्य श्राद्धादिकन्की विधि, मासिक श्राद्धकी विधि, गृह्यसूत्रोक्त १औपासना होम, २वैश्वदेव, ३पार्वणश्राद्ध, ४अष्टका, ५मासिकश्राद्ध, ६सर्पबलि,

गृह्योक्तम् अखिलम् इति यावत्।।३६।।

प्रायश्चित्तमिति ह्येष पञ्चधा कर्मसङ्ग्रहः।।
नित्यानुमेयवेदस्तु मूलं पञ्चविधस्य हि।।३७।।

प्रायश्चित्तं पातकादीनाम्।।३७।।

व्रततीर्थादीनामपि नित्यानुमेयो मूलं भविष्यति इति आशङ्क्य आह व्रततीर्थादिकम् इति.

व्रततीर्थादिकं काम्यं नित्यवद् बोध्यते क्वचित्।।
पूर्वाचारेण सम्प्राप्तं पुराणं मूलमस्य हि।।३८।।

श्रुतिमूलत्वे ब्राह्मणानामपि नित्यं कर्तव्यानि स्युरिति 'काम्यम्' इति उक्तम्. किन्तु वेदान् अधिकृतानां तं नित्यं भवतीति नित्यवद् बोध्यते. तस्य च मूलं पुराणम्. तथा सति स्मृतित्वं कथम्? इति चेत् तत्रआह

[७]ईशानबलिहृ ये सात पाकयज्ञ हें. पाक सिद्ध करिवेमें जो चक्की-चूल्ही अदिमें पांच प्रकारकी हिंसा होवे हे वाकुं दूर करिवेके अर्थ वैश्वदेव अवश्य करनो चहिये. इन कर्मन्कुं अपने गृह्यसूत्रके अनुसार करनें. तात्पर्य ये हे के [१]संस्कार, [२]सन्ध्योपासनादिक, [३]नित्यश्राद्धादिक, [४]पाकयज्ञ तथा [५]पान्के प्रायश्चितहृ इन पांच धर्मन्को सङ्ग्रह नित्यानुमेय वेदमूलक स्मृतिन्में हे।।३६-७।।

व्रत करनो तथा तीर्थादिकन्में गमन करनो इत्यादि स्मृतिन्में जो धर्म कहे हें उन धर्मन्को मूल पुराण हे. ये धर्म अग्निहोत्रीके अर्थ नित्य नहीं हें. क्योंके वाकुं अग्नि छोड़िके विदेश जायवेको निषेध हे. तथा "नैषां सिद्धिरनश्नताम्" (वसिष्ठस्मृति६।१८) इत्यादि वाक्यन्में उपवासादिकको हु निषेध हे. ताहीसों ये धर्म काम्य कहावें हें. परन्तु वैदिक अग्निहोत्रादि कर्म नहीं करें हें उनके अर्थ तो ये नित्य हें. तासों नित्यकर्मके समान व्रत-तीर्थादिकन्को नित्य करनो बोधन कियोहे.

तहां व्रत-तीर्थादिक पुराणमूलक हें तब इनको स्मृतिपनो केसे

पूर्वाचारेण सम्प्राप्तम् इति. न हि पुराणं दृष्ट्वा तस्य निर्माणं किन्तु आचारादेव।।३८।।

इदानीम् आचारः कुत्र मूलम्? इति आकाङ्क्षायाम् आह कृष्यादि इति.

कृष्यादिजीविकाशास्त्रं पूर्वर्ष्याचारतः प्रमा।।
करदण्डादिशास्त्रस्य मूलं युक्तिः पुराविदाम्।।३९।।

षड्गवादिभागदानादिविधानं पूर्वर्ष्याचारतः प्राप्तं तथैव कर्तव्यं प्रमाणम् इति अर्थः. करदण्डादेः युक्तिमूलम्. करः अत्र कृषिव्यतिरिक्तः।।३९।।

सम्भव सके हे? ये शङ्का नहीं करनी. क्योंके पुराण देखिके ये स्मृति नहीं बनाई हे किन्तु पूर्वकल्पके सदाचारको स्मरण करिकें बनाई हे. तासों व्रत-तीर्थादि प्रतिपादक स्मृति आचारमूलक हे।।३८।।

लोकमूलिका स्मृतिको विचार करें हें 'इदानीम्' इत्यादि. अभी आचार कहां प्रमाण हे? एसी आकाङ्क्षा भई तहां कहे हें 'कृष्यादि' इति. स्मृतिन्में ब्राह्मणादिकन्कुं आपत्कालमें खेती करनो लिख्यो हे. जेसे "हलमष्टगवं श्रेष्ठं षड्गवं मध्यमं स्मृतम्, चतुर्गवं नृशंसानां द्विगवं वृषघातिनाम्" ( ). अर्थ:एक हलमें आठ बैल जोतके

खेती करनो उत्तम पक्ष हे, छः बैलसों खेती करनो मध्यम हे, चार बैलसों खेती करनो निर्दयपनों हे, दो बैलसों खेती करनो बैलको मार डारनो हे इत्यादि. एसें ही जिन स्थलन्में पितामहादिकन्के द्रव्यको विभाग करनो लिख्यो हे तथा दान लेनों लिख्यो हे उन स्मृतिभागन्कुं लोकव्यवहारको स्मरण करके बनाये हें. तासों लोकमूलक-स्मृतिभाग कहावे हे. परन्तु पूर्व ऋषिन्के आचारसों प्राप्त हे तासों प्रमाण हे ये मूलको अभिप्राय हे. जा स्मृतिभागमें खेतीवारे विना अन्यसों कर लेनो तथा दण्ड देनो लिख्यो होय वा स्मृतिभागकुं युक्तिमूलक जाननों. नीतिमूलक स्मृति हु याहीसों कहे हें।।३९।।

द्रव्यादिशुद्धौ विकल्पम् आह शुद्धिम् इति.

शुद्धिं केचित् पृथक् प्राहुः संस्कारः कस्यचिन् मतः।।
देश-काल-द्रव्य-कृर्तृ-मन्त्र-कर्मविभेदतः ।।
षोढा शुद्धिः स्मृता सापि द्विधा ह्यन्योन्यतः स्वतः।।४०।।

संस्कारपक्षे वेदो मूलम्, पृथक्पक्षे आचारः इति. प्रसङ्गात् शुद्धेः स्वरूपम् आह **देशकाल** इति. षड्भिः शुद्धिः षण्णाञ्च शुद्धिः इतिद्विधा।।४०।।

सर्वशेषत्वात् न वेदो मूलम् इति अभिप्रायेण आह **सर्वशेषेयम्**इति.

सर्वशेषेयमाख्याता श्रुत्यर्थेऽपि विशेषतः।।
धर्मः सम्पद्यते षड्भिर् अधर्मो ह्यन्यथा भवेत्।।४१।।

बाधकम् आह **धर्म** इति।।४१।।

कल्पसूत्राणाम् ऋषिप्रणीतत्वात् स्मृतित्वम् आशङ्क्य परिहरति **कल्पसूत्रेषु**इति.

स्मृतिन्में जा स्थालमें पदार्थकी शुद्धि लिखी हे वा स्मृतिभागकों नित्यानुमेय वेदमूलक जाननों. क्योंके शुद्धिको संस्कारमें अन्तर्भाव हे. पदार्थकी शुद्धि यदि संस्कारसों (पृथक्=) न्यारी मानोगे तो वा स्मृतिभागकों आचारमूलक मानेंगे. परस्परशुद्धि तथा स्वतःशुद्धि इन भेदन् करिकें शुद्धि दोय प्रकारकी हें. द्रव्य, देश, काल, मन्त्र, कर्म तथा कर्ता इनकी परस्पर शुद्धि को प्रकार या तरेहसुं हे. जेसे व्रीहीकी मन्त्रादिकन्के द्वारा शुद्धि होवे हे. स्वतःशुद्धि जेसें "क्षुरो नौरासनञ्चेति

स्वयं शुद्धमिति स्मृतम्''. अर्थः छुरा, नाव, आसन आदि पदार्थ स्वयं शुद्ध हें इत्यादि जाबालस्मृतिके वाक्यमें लिखी हे.

ये जो पदार्थन्‌की शुद्धि हे सो जीविका, व्यवहार तथा लोकस्थिति इन सबन्‌की अङ्ग हे. तथापि वेदार्थकी विशेष करके अङ्गभूत् हे. क्योंके देश, काल, द्रव्य, कर्ता, मन्त्र तथा कर्महू ये छः पदार्थ जब शुद्ध होंय तब धर्म सिद्ध होय. यदि ये कालादिक छः पदार्थ अशुद्ध होंय तो अधर्म होय।।४०-१।।

कल्पसूत्रेषु वेदत्वं स्मृतित्वञ्च प्रतीयते।।
अर्थतः कर्तृतश्चापि वेदत्वं पाठतः स्मृतिः।।४२।।

व्यवस्थाम् आह **अर्थतः** इति. अर्थो वैदिकः. स्वराद्यभावात्, कर्तुः स्मरणात् च स्मृतित्वम्।।४२।।

तर्हि अर्थस्य वैदिकत्वे को हेतुः? तत्र आह **सौकर्यार्थम्** इति.

सौकर्यार्थं कृतिस्तस्य सङ्कलीकृत्य वर्णनात्।।
तेनापि क्रियमाणस्तु धर्मः श्रौतो भवेद् ध्रुवम्।।४३।।

कर्मज्ञानार्थमेव कल्पसूत्रं दृष्टव्यं नतु तदुक्तत्वेन कर्तव्यम् इति मुख्यः पक्षः. गौणम् आह **तेनापि** इति. आधुनिकानां सङ्ग्रहार्थम् उक्तम् ।।४३।।

[कल्पसूत्र ऋषिप्रणीत होयवेसुं विनकी गणना स्मृतिमें होनी चहिये एसी आशङ्काको परिहार करे हें.]

कल्पसूत्र ऋषिप्रणीत हें. वेदके समान स्वर उनमें नहिं हें. तासों उनको पाठ स्मृतिन्‌में गिन्यो जावे हे. तथा अर्थ उनको वैदिक हे. अर्थात् वेदविहित यज्ञादिकन्‌की विधि बतायवेवारे हें तासों अर्थसों उनकी वेदमें गणाना हे।।४२।।

अर्थसों कल्पसूत्रन्‌के वैदिक होयवेमें कहा हेतु हे? तहां कहे हें 'सौकर्यार्थम्' इति. यज्ञादिक कर्मन्‌कों सुकरतासों ज्ञान होयवेके अर्थ कल्पसूत्रन्‌कुं देखने चहिये. परन्तु यज्ञादिकन्‌के उत्तमाधिकारी मरीचिकुं आदि जे ऋषि हते उनके किये यज्ञन्‌में

कल्पसूत्रन्‌की अपेक्षा नहिं हती. उनके अन्तःकरण शुद्ध हते तासों विना कल्पसूत्र ही कर्मको स्वरूप भासमान होय जातो हतो. ये मुख्यपक्ष हे. अभीके मनुष्यन्‌कुं यज्ञादिक कर्मन्‌को प्रकार जानिवेके अर्थ कल्पसूत्र देखिवेकी आवश्यकता हे. कल्पसूत्रन्‌के द्वारा करे भये यज्ञादिक ही वैदिकधर्म समुझे जावें हें।।४३।।

गृह्याणां श्रौतत्वम्‌ आशङ्क्य परिहरति इष्टि इति.

इष्ट्यौपासनकर्माणि न श्रौतानि कथञ्चन।।
भेदाद्‌ वैजात्यतश्चापि काल एकस्तयोः परम्‌।।४४।।

इष्टिः स्थालीपाकः. तत्र हेतुः **भेदाद्‌** इति. अग्न्यादि सर्वं श्रौत-स्मार्तयोः भिन्नं विजातीयं च. तर्हि कथम्‌ एककालविधानम्‌? तत्र आह **कालएकः** इति. तथापि श्रौतस्य बलवत्वाय निर्णयम्‌ आह कालबाधाम्‌ इति.

कालबाधां न कर्तव्यं स्मार्तं श्रौतो बली यतः।।
एश्चाद्‌ वा गौणकालेऽपि कर्तव्यम्‌ इति केचन।।४५।।

मुख्ये काले बलिष्ठत्वात्‌ श्रौतमेव कर्तव्यम्‌. अतः कालस्य निमित्तस्य अभावात्‌ स्मार्तं न कर्तव्यम्‌. अतएव सर्वाधानविधिः. पक्षान्तरम्‌ आह **पश्चाद्‌** इति।।४४-५।।

एवं श्रौतस्य बलिष्ठत्वाय असहायशूरता निरूपिता. क्वचित्

[कल्पसूत्रोक्त धर्म श्रौत हें एसी शङ्काको परिहार करे हें गृह्यसूत्र श्रौत नहिं हें. इष्टि-स्थालिपाक तथा औपासन ये दोउ स्मार्त कर्म हें. श्रौत तथा स्मार्त अग्न्याधानादि न्यारे-न्यारे तथा विजातीय हें. अर्थात्‌ नामसों हु भेद हे.]

शङ्काः जब श्रौत-स्मार्त अग्निहोत्र न्यारे-न्यारे हें तब दोनों ही अग्निहोत्र करिवेको एक कालको विधान केसे योग्य हे? एक कालको विधान हे तथापि वेदोक्त कर्म स्मार्तकर्मन्‌की अपेक्षा प्रबल हे. तासों मुख्यकालमें वैदिककर्म करनो ही योग्य हे. श्रौत करे पीछें स्मार्त अग्निहोत्र करिवेको निमित्तकाल नहीं रहे तो स्मार्त इष्टि-औपासना नहिं करने. पक्षान्तर कहें हे. श्रौतकर्म करे पीछें गौणकालमें स्मार्तकर्म करनो एसें कितनेक कहें हें।।४४-५।।

सर्वाधानविधिके बलसों तथा मुख्यकालमें कियो जातो होयवेसों श्रौतकर्म बलिष्ठ हे तथा वाकु स्मार्त कर्मन्‌की अपेक्षा नहीं हे ये तथा स्मार्तस्यापि भविष्यति? इति आशङ्क्य आह स्मार्तमात्रस्य इति.

स्मार्तमात्रस्य करणाद् आभासो ब्राह्मणो भवेत्।।
स्वर्गाभासाद्यपि फलं श्रौतमात्रेपि चाऽखिलम्।।४६।।

ब्रह्म वेदः, तद् वेत्तीति ब्राह्मणः. स्मृतिरपि वेदमूलिका इति द्वयन्तरितत्वात् प्रतिबिम्बवद् आभासो भवति. अतो ब्राह्मणोऽपि तादृश आभासः. फलं च तथा इति आह **स्वर्गाभास** इति. चित्तशुद्धौ वासनाक्षयाभावो, दैत्योपहतलोके च स्थितिः इति. श्रौते तद्विपरीतम् आह **श्रौतमात्रे** इति. **अखिलं** मुख्यम्।।४६।।

सिद्ध भयो. एसे ही अर्द्धाधानविधिके बलसों क्वचित् स्मार्तकर्म हु असहायशूर हो सकेगो या शङ्काको परिहार करे हें.

श्रौतकर्म बलवान् हे तासों असहायशूर हे, अर्थात् स्मार्त कर्मकी याकुं अपेक्षा नहिं हे, एसें स्मार्त कर्म हु असहायशूर होयगो या शङ्काकुं दूर करें हें 'स्मार्तमात्रस्य' इति. ब्रह्म जो वेद हे ताकुं जाने अर्थात् अर्थ जानके जो वेदको अनुष्ठान करे हे वो 'ब्राह्मण' हे. स्मृति हे सो हु नित्यानुमेयवेदमूलक हे. तथापि अर्थ तथा अनुभव इन दो करिके व्यवधान वारी हे. तासों जेसे काचको व्यवधान होयवेसों दर्पणको मुख 'प्रतिबिम्ब' कहावे हे एसें ही स्मार्तधर्म वैदिकधर्मको आभास कहावे हे. एसें ही जो ब्राह्मण श्रौतकर्म छोड़िके केवल स्मृतिके कर्ममात्र करे हे वो हु 'ब्राह्मणाभास' कहावे हे. तथा वा कर्मसों फल हु वेसो ही होवे हे ये आगेके श्लोकमे कहे हें 'स्वार्गाभासा' इति. चित्तशुद्धि होय जावे तथा वासनाको क्षय नहीं होय एसो व्यक्ति दैत्यन्‌को जामें उपद्रव होय एसे लोकमें स्थित होयकें सुखभोग करे हे. ये स्वर्गाभास केवल स्मार्तकर्मको फल हे. याको तात्पर्य 'आवरणभङ्ग'में लिख्यो हे के श्रौतधर्मको पोषण करनो ये स्मार्तधर्मको प्रयोजन हे. स्मार्तधर्म स्वतन्त्र होयकें मुख्यफल नहिं दे सके हे. केवल श्रौतकर्म मात्रके करिवेसों तो अखिल मुख्य स्वर्गादिफल होवे हें ये ही स्मृतिकी अपेक्षा वेदकी अधिकता हे।।४६।।

स्मृतौ ब्रह्मनिरूपणं प्रत्यक्षोपनिषन्मूलकं भविष्यतीति प्रकारान्तरम् आह ब्रह्मप्रकरणम् इति.

ब्रह्मप्रकरणं स्मार्तं कल्पसूत्रवदेव हि।।
पुराणमूलकं वाऽपि ह्याश्रमाचारतोदितम् ।।४७।।

तावान् भागः कल्पसूत्रवदिति तेनापि ब्रह्मज्ञानं फलाय इति गौणः पक्षः. मुख्यम् आह **पुराणमूलकम्** इति.

ननु स्मृतिः मुख्या, पुराणापेक्षया बलिष्ठा, वेदसमानाधिकरणा कथं पुराणम् उपजीवेद्? इति आशङ्क्य आह **आश्रमाचारतः** इति. सर्वे आश्रमाः स्मार्ताः. तेषाम् आचारनिरूपणप्रस्तावे चतुर्थाश्रमे ब्रह्मज्ञानं मुख्यमिति पुराणे च तदुक्तमिति ततो गृहीतम्. उपनिषदर्थग्रहणे औपनिषत्त्वभङ्गाद्

स्मृतिनूमें ब्रह्मप्रकरण प्रत्यक्ष उपनिषन्मूल होयगो एसी शङ्का दूर करते भये प्रकारान्तर दिखावे हें 'ब्रह्मप्रकरणम्' इति. स्मृतिनूमें जो ब्रह्मज्ञानको वर्णन हे सो कल्पसूत्रनूमें जेसो वेदोक्त कर्मनको आनुपूर्वी सङ्कलन कियो हे तेसें उपनिषदके ज्ञानके सुगमताके अर्थ प्रत्यक्ष उपनिषन्मूल ब्रह्मप्रकरणको अर्थसङ्ग्रह करिके स्मृतिनूमें वर्णन कियो हे. तासों स्मृतिनूद्वारा प्रकट भयो भी ब्रह्मज्ञान फलार्थ हेद्व ये गौणपक्ष हे. मुख्यपक्ष तो ये ही हे जो स्मृतिनूमें लिख्यो ब्रह्मज्ञान सो पुराणमूलक हे.

तहां शङ्का होवे हे. स्मृति तो मुख्य हे, पुराणनकी अपेक्षा प्रबल हे. स्मृति क्यों पुराणनको आश्रय करती होयगी?

तहां उत्तर आज्ञा करें हें 'आश्रमाचारतोदितम्' इति. सब आश्रम स्मृतिमें लिखे हें. तथा उन आश्रमनके आचार निरूपण करे हें. तहां चोथे आश्रममें ब्रह्मध्यानको मुख्यतासों वर्णन करें हें. वा ब्रह्मध्यानको वर्णन पुराणमें कह्यो हे. तासों पुराणसों ही सङ्ग्रह करिके स्मृतिमें ब्रह्मध्यानको वर्णन कियो हे. उपनिषद्के अर्थको स्मृतिनूमें सङ्ग्रह कियो हे एसें मानोगे तो उपनिषदत्वभङ्गदोष आवेगा.

अर्थात् स्मृतिन् करके ही कार्यसिद्धि दोषः स्यात्. शाखाव्यवस्था च भज्येत. अतः स्मार्तं ब्रह्मज्ञानं न वैदिकवत् फलसाधकम्।।४७।।

हो जायेगी फिर न्यारी-न्यारी शाखामें न्यारे-न्यारे उपनिषदन्को पाठ व्यर्थ होयेगो, तथा स्मृतिन्को लिख्यो ब्रह्मज्ञान सब शाखावालेन्के अर्थ ही हितकारी मानेंगे तो अपनी-अपनी शाखाके उपनिषद्को लिख्यो ही ब्रह्मज्ञान फलार्थ हे या प्रकारकी जो मर्यादा हे ताको भङ्ग होयगो. तासों स्मृतिन्को लिख्यो ब्रह्मज्ञान स्वतन्त्र होयके वैदिकज्ञान जेसो फलसाधक नहिं हे किन्तु उपनिषदन्के ज्ञानको उपकारक हे. वर्णधर्ममें ही स्मृति बलवती हे।।४७।।

इति स्मृतिप्रकरणम्

एवं स्मृतिम् उपपाद्य पुराणनिर्णयम् आह **पुराणम्** इति.

पुराणं वेदवत् पूर्वसिद्धं सर्वोपयोगि तत्।।
सर्वोपकरणानीव धर्मस्य नरगेहयोः।।४८।।

तस्य वेदधर्मातिदेशः. तेन धर्मार्थकाममोक्षाः भक्तिश्च इति पञ्च नित्याः काम्याश्च विकृताः. तत्रापि देशादीनाम् अङ्गत्वं पञ्चानामपि देशादिषट्कम्

अब पुराणन्को निर्णय करें हें. पुराण हे सो वेदवत् हे. वेदके धर्मन्को पुराणमें अतिदेश हे. छान्दोग्य उपनिषद्में सनत्कुमार-नारद संवादमें "पुराण पञ्चमवेद हे" एसी लिखी हे. विष्णुपुराणमें लिखे हें "वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणेषु न संशयः" (विष्णुपुरा.) अर्थः वेद पुराणमें स्थित हे यामें सन्देह नहिं हे. "इतिहासपुराणैस्तु कृतोऽयं निश्चलः पुरा" (स्कन्दपुरा.) अर्थः इतिहासपुराणन् करिकें वेदकुं निश्चल अर्थात् दृढ कियो हे ये स्कन्दपुराणमें लिखी हे, इत्यादि अनेक पुराणन्सों वेदतुल्यता पुराणकुं सिद्ध होयहे.

जेसें अग्निहोत्रादिक पञ्चपदार्थ वेदमें अनेक रूपवारे लिखे हें तेसें ही पुराणमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष तथा भक्तिह्न ये पांच पदार्थ नित्य तथा काम्य भेदसों अनेक प्रकारके वर्णन किये हें.

१. नित्यधर्मः जेसे अतिथिको पूजन करनो. "अतिथिर्विमुखो यातः पुण्यमादाय गच्छति" अर्थः जा घरसों अतिथि विमुख होयके जाय हे वा घरवारेको पुण्य लेके जावे हे.

२. काम्यधर्मः जेसे पुत्रकी कामनाके अर्थ दितिने पयोव्रत कियो.

३. नित्यअर्थः जेसे ब्राह्मणकुं शरीरनिर्वाहके अर्थ (कुसूल) कोठीभर अथवा घडाभर धान्य जरूर रखनो चहिये इत्यादि.

४. काम्यअर्थः जेसे 'इला'स्त्रीने भोगकरिवेके अर्थ तपश्चर्या करिकें शिवसों पुरुषदेह मांगी.

५. नित्यकामः जेसे "ऋतुस्नातान्तु यो भार्यां शक्तः सन्नोपगच्छति, घोरायां भ्रूणहत्यायां लिप्यते नात्र संशयः" (पराशरस्मृति). अर्थः ऋतुधर्म होयवेके अनन्तर स्नान करी भई अपनी स्त्रीकेसाथ जो पुरुष सामर्थ्यवारो होयके हु गमन

अङ्गं पृथक्-पृथक्. व्यासस्य कर्तृत्वम् आशङ्क्य निराकरोति पूर्वसिद्धम् इति. नित्यम् इति अर्थः.

नहिं करे हे वो पुरुष घोर भ्रूणहत्याके पापमें लिप जावे हे यामें सन्देह नहिं हे. इत्यादि.

६. काम्यकामः जेसे आग्नीध्र राजानें पूर्वचितिके साथ सम्भोग कियो.

७. नित्यमोक्षः जेसे सायुज्यमुक्ति. ''सायुज्यरूपा परमा मुक्तिर्भुवि परात्मनि'' (सूतसंहिता मुक्तिखण्ड).

८. काम्यमोक्षः जेसे सालोक्यमुक्ति प्रभृति.

९. एसें ही निष्काम होयके भक्ति करी जाय वो 'नित्यभक्ति' कहावेहे.

१०. सर्वकामना अथवा मोक्षकामना के अर्थ भक्ति करी जाय वो काम्यभक्ति कही जावेहे.

जेसें अग्निहोत्रादिकन्में देशकालादि छः पदार्थ अङ्ग हें तेसें धर्मादिपदार्थन्के हु न्यारे-न्यारे देशकालादिक अङ्ग हें.

शङ्काः ''अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवतीसुतः'' अर्थः अठारहपुराणके कर्त्ता व्यासजी हें इत्यादि वचनसों व्यासजी पुराणके बनायवेवारे हें ये निश्चय होय हे. उनकुं वेदतुल्यता केसे सम्भव सके?

उत्तरः पुराण सब नित्य हें, पहिलेसों ही सिद्ध हें. ''पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्, नित्यम् शब्दमयं ब्रह्म शतकोटि प्रविस्तरम्, अनन्तरञ्च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः, पुराणमेव तत्रासीत् तस्मिन् कल्पे पुरानघ'' अर्थः सब शास्त्रन्के पहिले ब्रह्मानें पुराणको स्मरण कियो. ता पीछें ब्रह्माके मुखसों वेद निकसे. वा कल्पमें पहिले पुराण ही हते. इत्यादि मात्स्यपुराणके वचन या विषयमें प्रमाण हें. जेसे धर्मसिन्धु, निर्णयसिन्धु आदिग्रन्थन्के श्लोकसङ्ग्रग्रह करिवे मात्रसों ही कमलाकरभट्ट आदि 'ग्रन्थकर्ता' कहावें हें तेसें सोक्रोड पुराणको सङ्क्षेपसों चारलाख श्लोकमात्रमें सङ्ग्रहकर्ता व्यासजी पुराणकर्ता कहावें हें.

तस्य प्रजोजनम् आह **सर्वोपयोगि** इति. द्विविधा हि चत्वारोऽपि पुरुषार्था:. ईश्वरविचारिता: जीवविचारिताश्च. तत्र ईश्वरविचारिता वैदिका: जीवविचारिता: पौराणिका: इति. अत: सर्वोपयोगित्वम्.

वैदिकेऽपि उपयोगम् आह **सर्वोपकरणानीव** इति. श्रौतो धर्मो देहस्थानीय:, स्मार्तो गृहस्थानीय:. उपकरणस्थानीय: पौराणिक: इति।।४८।।

शङ्का: पुराण वेदके समान हे. तब तो वेद विद्यमान ही हे. वासों ही प्रयोजन सिद्ध होय जायगो, पुराणको कहा प्रयोजन हे?

उत्तर: वेद हे सो ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीन वर्णन्को ही उपयोगी हे. पुराण सबको उपयोगी हे. तासों सबन्को उपकार होनो ही पुराण प्रकट होयवेको फल हे.

शङ्का: तीन वर्णन्को तो वेद हीसों उपकार होय जायेगो, केवल शूद्रको उपकार होनों ही पुराणको प्रयोजन कहिनो योग्य हे

उत्तर: चारों पुरुषार्थ दो प्रकारके हें. ईश्वरके विचारे भये धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष वेदमें लिखे हें. या जीवके विचारेभये धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष पुराणमें लिखे हें. यदि शूद्रके ही अर्थ पुराण होंय तो "श्रावयेत् चतुरो वर्णन् कृत्वा ब्राह्मणमग्रत:" इत्यादि महाभारतादिकन्के वाक्यन्में चारों वर्णको पुराणको सुनावनो क्यों विधान करते? वेदके लिखे भये धर्ममें हु पुराणन्को उपयोग हे.

वेदोक्त यज्ञादिक धर्म देहस्थानापन्न हें, स्मृतिन्के लिखे संस्कार, प्रायश्चित्तादि धर्म घरके स्थानापन्न हें. पुराणके लिखे व्रत-दानादिक धर्म गृहकी अन्न-वस्त्रादिक सामग्रीके ठिकाने हें. जेसे घरमें कछु साहित्य नहिं होय तो देहकी स्थिति नहीं होय सके एसें पुराण विना वेदोक्त धर्मकी स्थिति नहिं होय सके. तासों पुराणकीअत्यावश्यकताहे।।४८।।

उपकरणाभावे सर्वथा स्थितिः न भवतीति तस्य आवश्यकत्वम् आह **तदज्ञाने** इति.

तदज्ञाने सर्वमौढ्यं तेन तद् हृदयं स्मृतम्।।
भावयुक्तस्य धर्मस्य प्रमितौ तत् प्रयुज्यते।।४९।।

पुराणार्थाऽज्ञाने सर्वमौढ्यं, बहिः पदार्थज्ञानाभावात्. अतएव "श्रुति-स्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्" (हारितस्मृति१।२५) इति हृदयत्वम्. उपयोगस्थानम् आह **भावयुक्तस्य** इति.

पुराणके अर्थको ज्ञान नहिं होय तहां तांई सब प्रकारसों मनुष्य मूढ रहे हे. क्योंके पुराणके जाने विना जगत्के बाहरके पदार्थको ज्ञान नहिं होय हे. याहीसों "श्रुति-स्मृति ये दोउ धर्मके नेत्र हें, पुराण धर्मको हृदय हे" (हारि.स्मृ.१।२५) इत्यादि अनेक वचन हें. वेदमें यज्ञादिक कहे हें उनके अभिप्रायको ज्ञान पुराणके द्वारा ही होत हे. वैदिक कर्म कब करनों, कब नहिं करनो; कर्म-अकर्म-विकर्म आदिको स्वरूपज्ञान तथा कर्म कहां तांई करनों इत्यादि बोध पुराण विना नहिं होय. जेसे ब्रह्माण्डपुराणमें अग्निहोत्रादिकन्को निषेध कलियुगमें हे ताकी व्यवस्था लिखी हे. "यावद् वर्णविभागोऽस्ति यावद् वेदः प्रवर्त्तते, सन्यासश्चाग्निहोत्रञ्च तावत् कुर्यात् कलौ युगे" (ब्रह्माण्डपुराण कलिवर्ज्यप्रकरण). अर्थः जहां तांई ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र ये चारों वर्ण न्यारे रहें, जहां तांई चारों वेद विद्यमान हें कलियुगमें सन्यास-अग्निहोत्र तहां तांई करनों. जेसे वेदमें लिखी हेः "अग्निहोत्रीकुं यज्ञपात्र सहित अग्निमें जलाय देनों" इत्यादि वचनसों सामान्य करके सबहि अग्निहोत्रीको श्रौताग्निसों दाह प्राप्त भयो. तहां "वैतानं प्रक्षिपेद् अप्सु आवसथ्यं चतुष्पथे, पात्राणि तु दहेद् अग्नौ यजमाने वृथा मृते" या पुराणवचनसों जो अग्निहोत्री पतित न होय वाहीको अग्निहोत्रकी अग्निसों दाह करनों, अग्निहोत्री यदि पतित होय तो वाके वैतान-अग्निकुं जलमें डारनों. आवसथ्य अग्निकुं चार रस्ताके मध्यमें धरनों, पात्रन्कुं अग्निमें डारने इत्यादि व्यवस्था होत हे. एसें ही कर्म कहां तक करनो ये सन्देह भयो तहां "तावत् कर्माणि

वेदे यज्ञादयः उक्ताः तेषाम् अभिप्रायज्ञानं पुराणादेव. कदाचित् कर्तव्यं कदाचित् न कर्तव्यम्. "कर्मणोह्यपि बोद्धव्यम्" (भग.गीता.४।१७) इतिवत्. भावस्य ज्ञानं पुराणात्।।४९।।

सर्वसृष्टिपदार्थानां याथार्थ्यज्ञापनं ततः।।

शाखाविभागवत् तस्य विभागः सोऽप्यनेकधा।।५०।।

किञ्च, सृष्टौ यावन्तः पदार्थाः तेषां याथार्थ्यं पुराणादेव अवगन्तव्यम्. यथा, "प्रह्लादो ह वै कायाधवः" (तैत्ति.ब्रा.१।५।९।१, १।५।१०।७) इति कयाधूप्रभृतीनां स्वरूपम्.

कुर्वीत न निर्विद्येत यावता" (भाग.पुरा.११।२०।९). अर्थः तहां ताईं कर्म करते रहनो जहां तांइ पूरो वैराग्य मनमें दृढ नहिं होय इत्यादि श्रीभागवतपुराणके वचन्सों व्यवस्था होत हे. तासों मीमांसा जेसे वेदके सन्देहको दूर करिवे वारो हे तेसें पुराण हु वेदके सन्देहकों दूर करिवे वारो हे।।४९।।

किञ्च सृष्टिमें जितने पदार्थ हें उनको यथार्थ स्वरूप पुराणसों ही जाननों एसें वेदमें लिखी हे. "प्रह्लादो ह वै कायाधवः" (पूर्ववत्). अर्थः प्रह्लाद हे सो कयाधुको पुत्र हे इतनों मात्र वेदमें लिख्यो हे. तहां 'कयाधु'नामवारी हिरण्यकशिपुकी स्त्री हे. वाके प्रह्लादजी पुत्र हें इत्यादि यथार्थ स्वरूप पुराणसों ही जान्यो जावे हे. जेसे सम्पूर्ण वेदको अध्ययन नहिं होतो देख्यो तब व्यासजीने वेदके विभाग करके ऋषिन्कुं वेद पढायो. जिन-जिन ऋषिन्नें जितनो वेद पढ्यो वो वेदभाग 'शाखा'नामसों प्रसिद्ध भयो. एसें ही एक पुराणके विभाग करके अष्टादश पुराण-उपपुराण रचे हें. मत्स्यपुराणमें मत्स्यभगवान् आज्ञा करे हें "कालेनाग्रहणम् दृष्ट्वा पुराणस्य ततो द्विजाः, व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे, चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा, तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रभाष्यते" मत्स्यावतार कहें हें: जब मनुष्यकी 'शतकोटी' सौक्रोडपुराण पढवेकी सामर्थ्य नहिं रही तब में व्यासजीको रूप धारण करकें पुराणको संहार करुं हुं. जब द्वापर आवे तब चारलाख ग्रन्थमें अष्टादशपुराण बनाऊं हुं. आगें मत्स्यपुराणमें लिखी हे: अबहु देवलोकमें

अष्टादशपुराणादिसमाख्यायाम् उपायम् आह शाखाविभागवद् इति।।५०।।

सो क्रोड पुराण हें वा पुराणको सङ्क्षेप करके अर्थ इन अष्टादशपुराणन्में हे.

१. ब्रह्माजीनें मरीचिऋषिके प्रति जो पुराण १०,००० श्लोकसङ्खचा वारो कह्यो हे वो **ब्राह्मपुराण** हे.

२. जब भगवान्की नाभीमेंसों कमल प्रकट भयो वाके वृतान्त जामें लिखे हें वो **पाद्मपुराण** हे. वाके ५५,००० श्लोक हे.

३. वाराहकल्पको जामें वृतान्त हे, जामें सब धर्मन्को वर्णन हे वो **वैष्णवपुराण** हे. वो २३,००० श्लोकसङ्खचा वारो हे.

४. श्वेतकल्पको प्रसङ्ग करकें वायुभगवान्नें जामें धर्म कहे हें, रुद्रको माहात्म्य लिख्यो हे वो **वायुपुराण** हे. वो २४,००० श्लोकसङ्खचा वारो हे.

५. जहां गायत्रीको अधिकार करके धर्मको विस्तार लिख्यो हे, वृत्रासुरको वध जामें हे वो १८,००० श्लोकसङ्खचा वारो **श्रीभागवत्पुराण** हे. वा पुराणमें सारस्वतकल्पमें जे मनुष्य देवता हते उनको वृत्तान्त हे.

६. जा पुराणमें नारदजीनें बृहत्कल्पको आश्रय लेकें धर्मको वर्णन कियो हे वो २५,००० श्लोककी सङ्खचा वारो **नारदीयपुराण** हे.

७. जा पुराणमें शकुनीन्को अधिकार करकें धर्म-अधर्म विचार कियो हे, जैमिनि ऋषिके प्रश्नके ऊपर धर्मचारी पक्षिन्नें जो वर्णन कियो हे वाको विस्तार मार्कण्डऋषिनें कियो हे वाको नाम **मार्कण्डेयपुराण** हे. वामें ईशानकल्पको वृत्तान्त हे. वो ९,००० श्लोकको हे.

८. जामें ईशान कल्पको वृत्तान्त वसिष्ठजीके प्रति **अग्निनें** वर्णन कियो हे वो अग्निपुराण हे. वो १६,००० श्लोककी सङ्खचा वारो हे.

९. जामें अघोरकल्पको वृत्तान्त हे, ब्रह्माजीनें मनुके प्रति सूर्यके माहात्म्यको वर्णन कियो हे तथा भूतग्रामको लक्षण वर्णन कियो हे. जामें रथन्तरकल्पको वृत्तान्त हे तथा जामें आगे होयवे वारे वृत्तान्तको वर्णन हे १४,५०० जामें श्लोकन्को पूर हे वो **भविष्यपुराण** हे.

१०.जामें ब्रह्मवराहके चरित्रन्को वर्णन हे, जामें कृष्णको माहत्म्य सावर्णिमनुने नारदजीके अर्थ वर्णन कियो हे वो **ब्रह्मवैवर्तपुराण** हे. वो १८००० श्लोककोहे.

११.ब्रह्मानें पृथ्वीके प्रति वर्णन कियो हे, २४,००० श्लोकको पूर हे, जामें प्रसङ्ग करिकें मानवकल्पको वर्णन कियो वो **वाराहपुराण** हे.

१२.ओर जामें ब्रह्माजीने माहेश्वरधर्मको वर्णन कियो हे वो **स्कान्दपुराण** हे. ८०,००० श्लोकसङ्खचा वारो हे.

१३.जा पुराणमें अग्निलिङ्गमें स्थित भये शिवजीने धर्मार्थकाममोक्षको वर्णन कियो हे वो **अग्निलिङ्गपुराण** हे.

१४.जामें वामनजीकी महिमाको वर्णन हे, जामें १०,००० श्लोक हें वो **वामनपुराण** हे.

१५.जामें कूर्भभगवान्नें लक्ष्मीकल्पके अनुसार इन्द्र तथा ऋषिन्के समक्ष शिवके प्रति वर्णन कियो हे, जाको १७,००० श्लोकको पूर हे सो **कौर्मपुराण** हे.

१६.जामें मत्स्यरूपी भगवान्नें मनुके अर्थ धर्मवर्णन तथा नरसिंहजीको वर्णन कियो हे, जाकी १४,००० श्लोककी संङ्खचा हे वाको नाम **मत्स्यपुराण** हे.

१७.जामें गरुड़जीसों ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति लिखी हे, गरुडकल्पको जामें वर्णन हे वो १८,००० श्लोककी सङ्खचा वारो **गरुड़पुराण** हे.

१८.जामें ब्रह्माण्डको माहात्म्य तथा आगें होयवे वारे कल्पन्को विस्तारसों ब्रह्माजीने वर्णन कियो हे वो १२,००० श्लोकसङ्खचा वारो **ब्रह्माण्डपुराण** हे.

विस्तारसों पुराणन्के लक्षण अन्य पुराणन्में हु लिखे हें. निबन्धस्थ 'आदि'शब्दसों उपपुराण-संहितान्को हु ग्रहण हे. कूर्मपुराणमें उपपुराणन्की गणना करी हे.

१.सनत्कुमारसंहिता	२.नारसिंहपुराण	३.नान्दीपुराण
४.शिवधर्मपुराण	५.आश्चर्यपुराण	६.नारदीयपुराण
७.मानवपुराण	८.बृहस्पतिपुराण	९.कपिलपुराण
१०.वारुणपुराण	११.साम्बपुराण	१२.कालिकापुराण
१३.माहेश्वरपुराण	१४.कल्कीपुराण	१६.दैवीपुराण
१७.मारीचपुराण	१८.भास्करपुराण.	

तत्र यज्ञस्य भगवत्वं सिद्धमिति न सन्देहः. प्रकृते कथम्? इति आशङ्क्य प्रकारम् आह शतं कल्पाः इति.

शतं कल्पास्ततोऽप्यन्ये सन्ति कृष्णेन निर्मिताः।।

सत्वेन रजसावापि तमसा वाऽप्यनेकधा।।५१।।

ब्रह्मणः एकस्मिन् वर्षे एको मुख्यः कल्पो ब्रह्मजन्मदिवसादिः. ततोऽपि अन्ये दैनन्दिनाः. दिनमध्येऽपि कल्पसमाप्तिं केचिद् आहुः. तथा युगान्ते. तत्र सर्वत्र भुवनात्मको वृक्षो भगवान् नानारूपो भवति.

सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊती, मन्वन्तरवर्णन, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति तथा आश्रय ये दशलक्षण वारो होय तासों 'पुराण' कहेनों.

सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरितह्न ये पांच लक्षण जामें होय तासों उपपुराण कहेनो.

''अष्टादशपुराणनि श्रुत्वा सत्यवतीसुतात्, अन्यान्युपपुराणानि मुनिभिः कीर्तितानि तु'' अर्थः सूतसंहितामें लिखी हे व्यासजीके मुखसों अष्टादशपुराण सुनिके मुनिन्नें अन्य उपपुराणन्कुं प्रकट किये हें. तथा मत्स्यपुराणमें लिखी हे के अष्टादशपुराणन्सों न्यारो पुराण दीखे तो वाकुं इन पुराणन्सों ही निकस्यो समुझनो।।५०।।

वेद ज्यों यज्ञरूपी भगवान्को वर्णन करें हें तेसें पुराण भुवनात्मक भगवान्को वर्णन करें हें. यज्ञरूपी भगवान् ज्यों अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमासादि भेदसों अनेकरूप हें तथा काठक, कौथुमी आदि शाखाभेदन्सों वर्णन किये जावें हें एसें ही भुवनरूप भगवान् ब्राह्म, पाद्म, वाराह आदि कल्पभेदन्सों अनेक रूप हें. ब्राह्मपुराण, मत्स्यपुराण आदि अष्टादश पुराणद्वारा वर्णन किये जाय हें. तहां विश्वात्मक भगवान्की अनेकरूपताको वर्णन हे. ब्रह्माजीके एक वर्षमें एक मुख्यकल्प पूरो होय हे. उन कल्पन्कों ब्रह्मकल्प, पद्मकल्प आदि नाम हे. एक वर्षकेह्नतीनसो

साठदिनके तीनसो साठ दैनन्दिन कल्प होंय हें. ब्रह्माजीके महीनाके ३० कल्प होंय हे. उनके नाम मत्स्यपुराणमें लिखे हें. १.श्वेतकल्प २.नीललोहितकल्प ३.वामदेवकल्प ४.रथन्तर ५.रौरव ६.प्राण ७.बृहत्कल्प ८.कन्दर्प ९.सह्य १०.ईशान ११.व्यान १२.सारस्वत १३.उदान १४.गारुड १५.पौर्णमासीके स्थानमें कौर्मकल्प १६.नारसिंह १७.समान १८.आग्नेय १९.सोनकल्प २०.मानवकल्प २१.उदानकल्प २२.वैड्कुठ २३.लक्ष्मीकल्प २४.सावित्रीकल्प २५.घोरकल्प २६.वाराहकल्प २७.वैराजकल्प २८.गौरीकल्प २९.माहेश्वरकल्प ३०.पितृकल्प. ये पितृकल्प अमावास्याके स्थानमें हे. इन तीस कल्पन्को ब्रह्माजीको एक महीना होय हे. जेसे वे ही तिथी दूसरे महिनेमें आवे हे एसें ये तीसकल्प बारह महीनामें बारह वार फिर-फिर आते रहे हें. ब्रह्माजीके प्रतिदिनके कल्पके अन्तरमें सब लोकन्को नाश नहिं होय हे किन्तु भूलोक, भूवर्लोक तथा स्वर्लोक इन तीन लोकन्को ही नाश होय हे. तासों प्रतिदिनके कल्पन्के सङ्ग तो तीन लोकन्की रचना बदलती रहे हे. क्योंकी ब्रह्माजी सत्यलोकमें शयन करें हें तब ये तीनो लोक बिगड़ जावें हें. जब जागें हें तब फिर इन तीन लोकन्कुं कछु विलक्षण रीतिसों बनाय देत हें. परन्तु प्रतिदिन ब्रह्माण्ड हु शीर्ण होतो जाय हे. जहां तांई ब्रह्माजीके वर्ष भरको अन्त आवे हे तहां तांई ब्रह्माण्ड हु बिखर जावे हे. जब वर्षके अन्त्तकी रात्रिमें ब्रह्माजी सोवें हें तब ब्रह्माण्डकों अपने स्वरूपमें लय करिकें आवरणात्मक जलमें सोवें हें. जब दूसरे दिन जागे हें वा दिन ब्रह्माजीको जन्मदिन आजावे हें. वा दिन ब्रह्माजी नयो ब्रह्माण्ड पूर्वसों विलक्षण प्रकट करें हें. वा ही दिन वर्षदिन रहिवेवारे मुख्य कल्पको प्रारम्भ होय हे. ब्रह्माजीके वर्षपर्यन्त वोही सृष्टि रहे हे. या प्रकार सोवर्षकी ब्रह्माकी आयुष्य होय हे. तामें सो मुख्यकल्प व्यतीत होय जात हें. यासों पृथ्विको कोई कल्पमें कमलरूप, कोई कल्पमें जघनरूप सों वर्णन पुराणमें कियो हे. मयूरकल्प,

वक्तुम् आह सत्वेन इति.

नाना सृष्टिप्रकारा हि नाना धर्मा ह्यनेकधा।।
सर्वस्वरूपी कृष्णस्तु कर्ता तेषु तथोदितः ।।५२।।

तामसकल्पेषु शिवात् सृष्टिः. राजसेषु ब्रह्मणः. सात्विकेषु विष्णोः.

मेघवाहनकल्प प्रभृति कितनेक कल्प दैनन्दिन कल्पसों हु छोटे हें. वे मध्याह्न-अपराह्न कालके समान ब्रह्माजीके दिनके मध्यमें मन्वन्तर समाप्ति तथा चारों युगन्की समाप्तिके साथ समाप्त हाते चले जावें हें. इन सब प्रकारके कल्पन्मे नानारूपवारे ब्रह्माण्डात्मक भगवान्को वर्णन हे. क्योंके "यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा यदा, स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः" (भाग.पुरा.१०।८२।४). इत्यादि वाक्यसों ब्रह्मवादमें भगवान् ही अनेकरूप होय जावें हें ये सिद्धान्त हे।।५१।।

तथा अनेक रूप होयवेके अर्थ अनेक कल्प श्रीकृष्णचन्द्रनें प्रकट किये हें. तहां तामस कल्पमें शिवसों सृष्टि हे, राजस कल्पमें ब्रह्मासों, सात्विक कल्पमें विष्णुसों सृष्टि होवे हे. गुणन्सों मिश्रित कल्पन्में सरस्वती, पितृगण आदि सृष्टि करें हें. याहीसों पद्मपुराणके उत्तरखण्डमें १.मात्स्य २.कौर्म ३.लैङ्ग ४.शैव ५.स्कान्द ६.आग्नेयह्न इन छे पुराणन्कुं तामस कहे हें. १.वैष्णव २.नारद ३.भागवत ४.गरुड ५.पाद्म ६.वाराहह्न इन छे पुराणन्कुं सात्विक गिने हें. १.ब्रह्माण्ड २.ब्रह्मवैवर्त ३.माकर्ण्डेय ४.भविष्य ५.वामन ६.ब्रह्मह्न ये छे पुराण राजस हें. जिन-जिन पुराणन्में जिन-जिन देवतान्सों सृष्टिकी उत्पत्ति लिखी हे उन-उन पुराणन्में उन-उन देवताको ही अधिक माहत्म्य तथा ईश्वरता लिखी हे. वस्तुतः तो उन-उन देवताको रूप श्रीकृष्ण ही धारण करें हें. कूर्मपुराणमें लिखी हे "अन्योऽन्यमनुरक्तास्ते ह्यन्योन्यमुपजीविनः, अन्योऽन्यं प्रणताश्चैव लीलया परमेश्वराः" अर्थः ब्रह्मा, विष्णु, शिवादिक देवता परस्पर अनुराग वारे हें. परस्पर एककुं एक बडो समुझिके प्रणाम करते रहत हें. लीलाकरकें परस्पर एक देवता एकको आश्रय करि लेत हे "ये परमेश्वर हे"" इत्यादि.

तत्र उच्च-नीचत्वम् अव्यवस्थितम् अतः समाधानम् आह सर्वस्वरूपी कृष्णः इति.।।५२।।

सर्वत्र मुक्तिः इति पक्षे न कोपि सन्देहः. सात्विकेष्वेव मोक्षः इति पक्षे विशेषम् आह **सात्विकेषु** इति.

सात्विकेषु तु कल्पेषु तत्प्रकारपुराणतः।।
आचारान् मुक्तिमाप्नोति भवस्त्वन्येषु केवलः।।

धर्महीनस्तत्सहितो राजसेषु सुखं ततः।।५३।।

तत्कल्पानुसारिपुराणोक्तधर्माचरणान् मुक्तिम् आप्नोति तादृशः अधिकारी न तु पाषण्डादिधर्मैः इति अर्थः.

अनेक शास्त्र देखिवेसों अमुक देवता बडो हे, अमुक देवता छोटो हे ये निश्चय नहिं होय हे. यदि सबहिन्कुं ईश्वर मानलें तो अनेक ईश्वर होंयगे तहां सामधान करें हें 'सर्वस्वरूपि' इति. शास्त्रार्थप्रकरणमें ये निश्चय कर आये हें. ब्रह्म ही अनेक आकार वारो तथा सबको कर्त्ता हे, अन्य कोई कर्त्ता नहिं होय सके हे. तासों ब्रह्मको ही पुराणन्में शिव, ब्रह्मादि रूपसों वर्णन कियो हे. वो परब्रह्म सदानन्दरूप हे. तासों 'कृष्ण'शब्दवाच्य हे. तामें ''परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते'' (गोपा.पू.ता.उप.१) इत्यादि श्रुति प्रमाण हें. श्रीभागवतमें हु कृष्णके प्रति अक्रूरकी स्तुति हे. ''त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम्, बह्वाचार्यविभेदेन भगवान् समुपासते'' (भाग.पुरा.१०।४०।८). अर्थः हे कृष्ण शिवादिरूप करकें अनेक मार्गद्वारा आपकी ही सब उपासना करें हें. तासों सर्वरूप श्रीकृष्ण ही उन पुराणन्में सृष्टिकर्ता शिव, ब्रह्मा आदि रूपन्सों वर्णन कियो हे।।५२।।

सब जीवन्को सब पुराणन्के बताये भये मोक्षके साधनसों मोक्ष हो जाय हे एसे पक्षमें तो सन्देह प्राप्त ही नहीं होय, परन्तु पद्मपुराणादिकके वचन देखिवेसों तो सात्विक जीवन्की ही सात्विक कल्पानुसारि पुराणोक्तधर्मके आचरण करिवेसों मुक्ति होय हे ऐसो प्रतीत होय हे तामें यदि अन्येषु तामसेषु जन्म दुःखं च भवति, न सुखं, नाऽपि मोक्षः. राजसेषु तु सुखं, न दुःखं, नाऽपि मोक्षो यथोक्तधर्मकर्तृणाम्।।५३।।

सर्वेषु कल्पेषु कल्पान्तरोक्ता धर्माः पुरुषार्था वा परिग्राह्याः यदि तत्कल्पानुसारिणो जीवा भविष्यन्ति. यथा तीर्थे नाना देशवासिनाम्. तद् आह **अपेक्षितम्** इति.

सन्देह होय तो वाको निराकरण करे हें 'सात्विकेषु' इति. वैसे अधिकारीकी पाषण्डादि धर्मसों मुक्ति नहीं होय हे. अर्थात् सात्विककल्पानुसारी पुराणोक्त धर्मन्को आचरण करिवे पर सात्विक जीन्की मुक्ति होय हे. सात्विक जीवहु यदि

अधर्म-पाषण्डादिको आचरण करे तो वाकी मुक्ति नहीं होय हे. "मुक्ति सात्विक जीवन्की ही होय हे" ये कहिवेको अभिप्राय एसो हे के राजस-तामस कल्पन्के जीवमें सात्विक कल्पके जीवन्की अपेक्षा मोक्षसाधक धर्माचरणको प्राय: अभाव होय हे तासों विनकी मुक्ति नहीं होय हे, ये तात्पर्य हे.

अधर्मकर्ता जीवन्को तामस कल्पन्में जन्म होय तथा दु:ख प्राप्त होय, सुख तथा मोक्ष नहिं होय. धर्मसहित जीवन्को राजस कल्पमें जन्म होय, न दु:ख होय न मोक्ष होय किन्तु सुखकी प्राप्ति होय. एसें सात्विक जीवन्को सात्विकपुराणोक्त धर्माचरणसों निर्गुणावस्था होय करकें मोक्ष होवे हे।।५३।।

जेसें नानादेशके निवासी एक तीर्थमें आवें हें तेसें सब कल्पन्में सब कल्पके जीव उत्पन्न होय हें, वे जीव अपने-अपने कल्पानुसारी धर्मकुं ही करें हें. सब कल्पन्में सब कल्पको धर्म ग्रहण कियो जाय हे. या श्वेतवाराह कल्पमें तीनों प्रकारके ही पुराण हें. क्योंके या कल्पमें हु तीनों प्रकारके जीव हें. राजसजीवके तामस-सात्विकपुराणोक्त धर्म हृदयमें नहिं आवे हें. उन जीवन्कुं राजसधर्म नहिं बताये जायेंगे तो वे जीव केवल लौकिक रहे आवेंगे. तो कल्पान्तरमें फेरि तामस

अपेक्षितन्तु सर्वत्र सर्वोक्तं गृह्यते क्वचित्।।
इदानीं त्रिविधा जीवा: तेन त्रियतमीर्यते।।५४।।

प्रकृते त्रिविधान्यपि पुराणानि सन्ति इति आह **इदानीम्** इति. राजसादीनां प्रकारान्तरेण पुराणं न हृदयारूढं भवति. अत: तेषां केवललौकिकत्वे कल्पान्तरे तेषां तामसत्वाद् राजसोच्छेद: स्यात्. राजसधर्मानुष्ठाने च उत्तरत्र सात्विकत्वं सम्पद्यते. तथा तामसेष्वपि ज्ञातव्यम्.

होई जायेंगें. तो राजसोच्छेद होयगो. तासों उन जीवन्के अर्थ ही राजसपुराण हें. उनमें लिखे भये धर्मको अनुष्ठान करिवेसों आगेके जीव सात्विक होय जायेंगे. एसें ही तामस जीवन्को अत्यन्त तामसपनों दूर होयकें उत्कर्ष होयवेके अर्थ तथा आगे जायके राजसता होयवेके अर्थ तामस पुराण हें.

शङ्का: उन-उन पुराणन्में उन-उन धर्मके आचरण करिवेसों मुक्तिकी प्राप्ति लिखी हे. मुक्ति सात्विक जीवन्की ही होय अन्यन्की नहीं होय ये व्यवस्था तो सात्विक कल्पकी ही होनी चहिये जेसे राजा प्रजाके ऊपर उन-उन अवसरन् पर अनुग्रह तथा दण्ड दोउ कार्यकुं करे हे, केवल दण्ड अथवा केवल अनुग्रह नहिं करे हे, एसें सब ही कल्पन्में तत्-तत् पुराणोक्त धर्मसों मोक्ष तथा अधर्मसों बन्ध होनो चहिये. तासों या कल्पमें हु तीनों प्रकारके जीवन्की मुक्तिके अर्थ तीनों प्रकारके पुराण हें.

उत्तर: मुक्तिकी अभिलाषा सब ही जीवन्कों हे. तासों सब जीवन्की धर्ममें प्रवृत्ति हायवेके अर्थ सब पुराणन्में मुक्तिफल बतायो हे. जेसे केश बढ़वेको लोभ देकें बालककुं दूध पिवायो जाय हे, कछु दूध पीते ही केश नहिं बढ़ जाय हें, एसें ही क्रम करकें निर्गुणावस्था भयेसों मुक्ति होयवेके अभिप्रायसों राजस-तामसपुराणोक्त राजस-तामसधर्मसों मुक्ति होनों लिख्यो हे. तासों राजस-तामसधर्मकुं

अतितामसत्वनिवृत्त्यर्थम् उत्कर्षार्थं च तामसानि पुराणानि इति अर्थ:।।५४।।

ननु तत्तत्पुराणेषु तत्तदाचारान् मुक्तिरेव निरूप्यते, किम् उत्कर्षेण ? सात्विकाएव मुच्यन्ते इतितु सात्विककल्पव्यवस्था, यथा राज्ञां तत्तदवसरे तेषाम् अनुग्रह-निग्रहौ. अत: इदानीं त्रिविधानां मुक्त्यर्थमेव कथनं त्रिविधानि पुराणानि इति आशङ्क्य आह **प्रवृत्त्यर्थम्** इति.

मुक्ति करिवेवारे नहिं समुझ लेने. क्योंके "मध्ये तिष्ठन्ति राजसा:" (भग.गीता१४।१८) इत्यादि भगवद्वाक्यन्के अनुसार राजस जीवकी मध्यलोकमें तथा तामस जीवकी नीचेके लोकमें ही स्थिति रहे हे.

साधन करिवेसों निर्गुण होय तब मोक्ष होय. यामें ''राजसस्तु तमः पश्चात् सत्वं यद् ब्रह्मदर्शनम्'' (भाग.पुरा.१।२।२४) इत्यादि भागवतवचन प्रमाण हें।।५४।।

[तत्तद् पुराणन्में उपदिष्ट आचारसों ही मुक्ति होय हे एसे कही. तब तामस-राजसादि गुणन्को त्याग करायके तत्तद् पुराणन्में उपदिष्टआचारसों जीवको उत्कर्ष सिद्ध होय हे एसो प्रतिपादन करिवेको क्या प्रयोजन हे? अपिच, सात्विक ही मुक्त होय हें अन्य नहीं ये तो सात्विक कल्पकी व्यवस्था हे. राजा जेसे तत्तद् अवसरन्में वाकी प्रजाके उपर कृपा तथा दण्ड करे हे तेसें सर्व कल्पन्में तत्तद् पुराणोक्त धर्मसों मोक्षकी प्राप्ति होनी चहिये. एसे ही अधर्माचरणसों बन्धन हु होनो चहिये. तासों या कल्पमें हु तीनों प्रकारके जीवन्की साक्षात् मुक्तिके अर्थ ही तीनों प्रकारके पुराण प्रकट भये हें एसे क्यों नहीं मान सकें? या शङ्काको आचार्यजी समाधान करे हें:सर्व जीवन्कुं मुक्तिकी]

प्रवृत्त्यर्थन्तु सर्वत्र मुक्तिः फलमुदीर्यते।।
तदवस्थापरित्यागाद् वचनं सत्यमेव हि।।५५।।

मुक्तिः सर्वेषाम् अभिलषिता. अतः तदर्थमेव सर्वोऽपि प्रवर्तते, न संसारार्थमिति सर्वेषां प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थं बालानुशासनन्यायेन मुक्तिः फलम् उदीर्यते. नतु राजसकर्मणा मुक्तिः भवति, ''मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः'' (भग.गीता१४।१८) इति भगवद्वाक्यात्, परमानन्दलक्षणस्य मोक्षस्य वैजात्याभावात्. सात्विकानां नैर्गुण्यं, तेन च मोक्षः. तत्र साधनता सर्वथा भगवत्सम्बन्धेनैव अवच्छिद्यते, नतु ज्ञानित्वेन भक्तत्वेन वा. ''मामेव ये प्रपद्यन्ते'' (भग.गीता७।१४) इति वाक्यात्. ''तमेव विदित्वातिमृत्युमेति'' (श्वेता.उप.६।१५) इत्यादिपरम्परया इति ज्ञातव्यम्. सर्वथा सम्बन्धे पुनः बहूनि कारणानि.

अभिलाषा होय ही हे. तासों सबन्की प्रवृत्ति मुक्तिके अर्थ ही होय हे. संसारार्थ कोउ प्रवृत्त नहीं होय हे. सबन्की प्रवृत्ति मुक्तिके साधनन्में होय वा प्रयोजनसुं बालानुशासनन्ययसों तामस-राजसादि पुराणन्में हु मुक्तिरूप फलको कथन हे. अतएव तामस-राजस पुराणोक्त धर्मन्के आचरणसों विन जीवन्कुं मुक्ति प्राप्त हो जाय हे एसो तात्पर्य उन पुराणन्को नहीं माननो.

निगुर्णता भयेसों भगवत्सम्बन्ध होय तब मुक्ति होय. राजस–तामसादि पुराणोक्त रूपान्तरकी भक्ति अथवा रूपान्तरके ज्ञान भयेसों मुक्त नहिं होय हे. ‘‘मामेव ये प्रपद्यन्ते’’ (भग.गीता७।१४) या वाक्यमें गीताजीमें भगवत्सम्बन्ध भयेसों ही मायाको तरनो लिख्यो हे. श्वेताश्वतरमें ‘‘तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति’’ (श्वेता.उप.६।१५) या वाक्यके पूर्व शिवको प्रतिपादन करिके उनके ज्ञानसों मोक्ष लिख्यो हे सो परम्परा करकें, पूर्वोक्त क्रमानुसार, निर्गुणता होयकें सर्वथा भगवत्सम्बन्ध होय तब मोक्ष होयहे.

सर्वथा भगवत्समबन्ध होयवेमें बहुत कारण हें. जेसे कंसराजकों तत्र अवान्तरजातिभेदेऽपि न कदाचित् क्षतिः, दण्डवत्. अतः सएव परमपुरुषार्थः. तत्साधनेष्वपि ‘मोक्ष’पदप्रयोगो, यथा लोके. न हि तादृशीम् अवस्थाम् आपन्नो मुच्यते. अतः तदवस्थापरित्यागो वक्तव्यएव. अतो मुक्तिप्रतिपादकं वाक्यं सत्यमेव इति आह तदवस्था इति।।५५।।

ननु एककल्पप्रतिपादकत्वं पुराणानाम् असङ्गतम्. यतः चतुर्युगवार्तामेव पुराणानि कथयन्ति, कलौ सर्वेषां पर्यवसानात्. अतः अष्टादशयुगवार्तैव पुराणानाम् अर्थः कुतो न भवेद्? इति आशङ्क्य आह चतुर्युगे इति.

भयके द्वारा सर्वथा भगवत्सम्बन्ध भयो. द्वेषके द्वारा शिशुपालको भगवत्सम्बन्ध होयके तन्मयता भई. भगवत्सम्बन्धमें अवान्तर जातिभेद अर्थात् पशु–पक्षी, मनुष्य, शैव–वैष्णव आदि भेद विघ्नकर्ता नहिं हें. जेसें चाहे जा काष्ठको दण्ड होय, वाके सम्बन्धसों घट बन जावे हे एसें ही काहु प्रकारसों भगवत्सम्बन्ध होनों चहिये, मुक्त होय जावे हे. अतएव विभीषण–प्रह्लादादिक असुर हु भगवत्पदकुं प्राप्त भये. तासों भगवत्सम्बन्ध होनो ही परमपुरुषार्थ हे.

पुराणन्में जो राजस–तामस देवतान्के स्वरूपज्ञानकुं मोक्षरूप लिख्यो हे सो तो वो ज्ञान मोक्षको साधन पूर्वोक्तपरम्परा करके हे तासों. एसे स्थलमें पहिलेकी अवस्थाको छूट जानों ही मुक्ति हे. ‘मुक्ति’नाम छूटिवेको हे. जेसे राजस देवताकी उपासनासों जहां मुक्ति लिखी हे तहां पहिलीकी तामसावस्थामेंसों छूटि जानों ही

मुक्ति हे. याहीसों ब्रह्मपुराणमें सूर्यके द्वारा शिवभक्ति, वाके द्वारा वासुदेवमें भक्ति, वासों कृतार्थता लिखी हे. तासों मुक्तिप्रतिपादक वाक्य हु सांचे हें।।५५।।

शङ्का: एक-एक पुराण एक-एक कल्पको प्रतिपादन करे हे ये बात केसे सम्भव सके, पुराणमें तो चतुर्युगकी वार्त्ता लिखी हे तासों अष्टादशचतुर्युगकी वार्त्ता ही अष्टादशपुराणन्को अर्थ क्यों नहिं होय सके?

चतुर्युगे तु व्यासानां नानात्वात् स्वस्वकालजम्।।
वृत्तान्तमाहुर् नान्यस्य कल्पान्तास्तेन कीर्तिताः।।५६।।

एकस्मिन् कल्पे सहस्रं व्यासा भवन्ति. तेषां द्वापरान्ते अधिकारः. ततः पुनः कृतौ सर्वविद्यानां पूर्णता. पुनः अन्यस्य व्यासार्थं द्वापरान्ते निवेशनम् इति. अतः ते स्वचतुर्युगवार्तामेव कथयन्तीति न दोषः।।५६।।

भारते भिन्नः प्रकारइति तत्रापि कल्पभेदम् आह **सर्वनिर्धारणार्थाय** इति.

सर्वनिर्धारणार्थाय व्यासो भारतमुक्तवान्।।
एकं कल्पमुपाश्रित्य स्त्रीशूद्राणां हिते रतः।।५७।।

एकं यं कञ्चन, यत्र कल्पे तथापदार्थाः. ततः स्त्रीशूद्राणां महत्त्वं सिद्ध्यति. यतः तत्र सर्वेषाम् आचारो निरूपितः "न शूद्राय मतिं दद्यात्"

उत्तर: एक कल्पमें हजार व्यास होवे हें, तथा उनको द्वापरान्तमें अधिकार होवे हे. ता पीछें सत्ययुगमें फेर विद्याकी पूर्णता होवे हे. फिर दूसरे जीवकों व्यास करिवेके अर्थ द्वापरके अन्तमें निवेश कियो जाय हे. तासों वे व्यास अपने-अपने चारों युगन्की वार्ता कहे हें. यासों न्यारे-न्यारे कल्पके प्रतिपादक न्यारे-न्यारे पुराण हें. या निर्णयमें कछु दोष नहिं आवे हे. क्योंके जा कल्पको प्रतिपादक जो पुराण होवे हे वा कल्पके सहस्र व्यास वा कल्पके ही सहस्र चतुर्युगन्के वृत्तान्त वा पुराणमें कहें हें।।५६।।

महाभारतको तो प्रकार भिन्न हे. अभी तीनों ही गुणन्के पुराण विद्यमान हें. सङ्कीर्ण [सात्विक, राजस तथा तामस गुणन्सों मिश्रित स्वभाव वारे] जीवन्कुं कोन पुराणके अनुसार व्यवहार करनों चहिये? [ताके समाधानार्थे] तथा वेदार्थविषयक

सर्व निर्धार करिवेके अर्थ महाभारत व्यासजीने बनायो. जा कल्पमें वेसे उत्तम धर्मोपयोगी पदार्थ हते एसे कोई एक कल्पको आश्रय करिके भारत बनायो हे. तहां भारतोक्त धर्म करिवेसों स्त्री-शूद्रादिकन्कुं हु महत्त्व सिद्ध होय हे. याहीसों भारतमें सबन्को धर्म वर्णन कियो हे. "न शूद्राय मतिं दद्यात्" (मनुस्मृति४।८०)या

इत्यादिनिषेधः तत्र न भवति. कृतयुगे मानवा धर्माः पराशरवाक्यात्।।५७।।

धर्मनिर्धारणं तत्र सर्वेषां समुदाहृतम्।।
प्रत्यद्वं वृक्षवत् कल्पा भुवनद्रुमरूपिणः।।५८।।

कल्पस्वरूपम् आह **प्रत्यब्दम्** इति.

मनुस्मृतिके वाक्यमें जो शूद्रन्कों ज्ञान देवेको निषेध हे सो भारतके ज्ञानदेवेको नहीं हे. क्योंके भारत तो सर्वहितार्थ ही बनायो हे. या प्रश्नको दूसरो उत्तर ये हे के मनुस्मृतिके धर्मन्कुं पराशरजीनें सत्ययुगमें मानिवे योग्य कहे हें. कलियुगमें तो पाराशरस्मृतिके धर्मन्कुं ही मानिवे योग्य कहे हें एसो पाराशरस्मृतिको वाक्य या श्लोकके आवरणभङ्गमें हे।।५७।।

प्रतिवर्ष जेसे वृक्षके पत्र-पुष्पादिक नानाभांतिके नये-नये आते जावें हें एसें भुवनरूप वृक्षके कल्पानुसार लोकन्की रचना तथा लौकिकधर्म नाना होते रहे हें.

शङ्काः श्रीकृष्णचन्द्र तो सबन्की मुक्तिके अर्थ प्रकट भये हें. उनको स्वरूपवर्णन करिवेकों भागवत प्रवृत्त भयो हे. वा भागवतकुं मत्स्यपुराणमें सारस्वतकल्पके अनुसारी बतायो हे. अभी श्वेतवाराहकल्प हे. अभीके जीवन्की भागवतके सेवनसों केसें मुक्ति होयगी? [अर्थात् सारस्वतकल्पानुसारी भागवतसों आभीके जीवन्की मुक्ति नहीं हो सकेहे.]

उत्तरः 'अन्यकल्पोक्त' इति. श्रीव्यासजीनें भागवतमें अन्य कल्पकी रीतिको ग्रहण करिके भगवान्को वर्णन कियो हे. सब पुराणमें एसो ही निर्णय हे. मत्स्यपुराणमें ही सात कल्पन्को वर्णन हे. भागवतमें हु "अयन्तु ब्रह्मणः कल्पः पाद्मकल्पमथो शृणु" (भाग.पुरा.२।१०।४६) इत्यादि स्थलमें ब्रह्म-पद्म-वाराहादि कल्पन्को हु वृत्तान्त हे. तासों या कल्पमें सबन्की स्वरूपद्वारा ही मुक्ति करिवेके अर्थ प्रकट

भये श्रीकृष्णचन्द्रभगवान्को भागवतमें सारस्वतकल्पकी रीतिके अनुसार हु वर्णन कियो हे.

ननु कृष्णः सर्वमुक्त्यर्थम् अवतीर्णः तस्य स्वरूपकथनार्थं भागवतं प्रवृत्तम्. तच्च सारस्वतकल्पानुसारि, मत्स्यपुराणे तथा प्रदर्शनात्. अयश्च श्वेतवाराहकल्पः अतः अत्रत्यानां कथं मुक्तिः? इति आशङ्क्य आह अन्यकल्प इति.

अन्यकल्पोक्तरीत्यापि कथितो भगवान् स्वयम्।।
कल्पेऽस्मिन् सर्वमुक्त्यर्थम् अवतीर्णस्तु सर्वतः।।
सर्वतत्त्वं सर्वगूढं प्रसङ्गादाह पाण्डवे।।५९।।

अन्यकल्पस्य रीतिरेव गृहीता, सर्वत्र पुराणे तथैव निर्णयात्. नतु राजसानामेव मोक्षदः. ननु स्वरूपेणैव सर्वमुक्तिं करिष्यतीति किं भागवतेनैव? इति आशङ्क्य भगवतोऽपि अभिप्रायकथनार्थम् आह **सर्वतत्त्वं सर्वगूढम्** इति. अर्जुनार्थं प्रसङ्गाद् गीताम् आह. अतो ज्ञायते शास्त्रद्वारैव मोचक इति. प्रवृत्तिं वा सम्पादयिष्यति इति।।५९।।

[उपरोक्त शङ्काको समाधान ये हे के भगवान् जेसे सारस्वतकल्पमें अवतीर्ण भये हते एसें ही श्वेतवाराहकल्पमें हु भगवान् अवतीर्ण भये हें. तथा अर्जनकुं गीतोपदेश करते समय जो जीव भगवान्में प्रीतीवारे होंयगे विनको वे अवश्य उद्धार करेंगे एसे आज्ञा करी हे. तासों सिद्ध होय हे के या अन्य कल्पन्के जीवन्कोहु उद्धार भगवान् करेहें]।।५८।।

शङ्काः स्वरूप करकें ही श्रीकृष्णचन्द्र सबन्की मुक्ति कर देंगे तब भागवत बनायवेको कहा प्रयोजन हे?

उत्तरः उनही श्रीकृष्णचन्द्रभगवान्नें प्रसङ्गसों अर्जुनके अर्थ गूढ सर्वतत्वको जामें वर्णन हे एसे गीताशास्त्रको वर्णन कियो. तासों मालुम पडे हे के अभीके जीवन्कुं शास्त्रद्वारा ही मुक्ति देहें. अवतारसमयमें तो भारतादिक शास्त्र विना ही स्वरूप करकें ही गोपी, पशु-पक्षी आदिकन्की मुक्ति होवे हे तासों अभी तो भागवत शास्त्रकी अवश्य अपेक्षा हे।।५९।।

ननु एवं सति कथं व्यासस्य अनिर्वृतिः तत्र आह शुकवद् इति.

शुकवत् तद् व्यासगीतं सत्वेनास्यावतारतः।।

ईशवाक्यन्तु तस्यापि दुर्बोधं भजनादृते।।६०।।

अभिप्रायाज्ञाने हेतुः **सत्वेनास्य** इति. सत्वांशव्यवधानेन अवतारो यतः.

ननु वाक्यस्य विद्यमानत्वाद् वाक्यार्थविचारकस्य कथं भ्रमः? तत्र आह **ईशवाक्यम्** इति. अनेन भजनव्यतिरेकेण भागवतार्थो न अवगम्यते इति सूचितम्।।६०।।

शङ्काः सर्वतत्व गीताजीमें वर्णन कियो होतो तो भारत बनायें पीछे हु व्यासजीको आत्मा क्यों नहिं प्रसन्न भयो? भागवत् बनाये पीछे ही क्यों भयो? क्योंके भारतमें तो गीता हु आय गई हे

उत्तरः व्यासजीनें भारतमें गीताजीको वर्णन कियो हे सो सुवा(तोता)के तुल्य अभिप्राय जानें विना भगवान्‌के वाक्यन्‌को वेसो-के-वेसो पुण्यपाठ कर दियो हतो. क्योंके सत्वगुणके व्यवधान करकें व्यासजीको अवतार भयो तासों गीतावाक्य विद्यमान हते तथापि भगवान्‌के भजन विना उनकुं अर्थको यथार्थज्ञान नहिं भयो [तथा, युद्धके प्रसङ्गमें कही भई गीतामें गूढतत्वन्‌को उपदेश भगवान्‌ने सङ्क्षेपमें कियो होयवेसुं आधुनिक जीवन्‌कुं दुर्बोध होयगो अतः महाभारत प्रकट करिवे पर हु व्यासजीके चित्तमें प्रसन्नता नहीं भई.]

तहां एसे व्यासजी जिनकुं गीतार्थज्ञान नहिं हे वे भागवतरूप तत्वको वर्णन केसें करेंगें? ये शङ्का नहिं करनी.

क्योंके [व्यासजीको अवतार सत्वगुणसों हे. तासों सत्वगुण विनकुं प्रतिबन्धक हतो.] भगवान्‌की भक्तिसों सत्वको व्यवधान दूर भयो तब भागवत वर्णन कियो हे।।६०।।

ननु एतादृशः अग्रे कथं तत्त्वं वक्ष्यति? इति आशङ्क्य आह **जीवाएव हि** इति.

जीवाएव हि सर्वत्र व्यासाः साम्प्रतमेव हि।।
स्वयं भूत्वा हरिः कृष्णः स्वांशं व्यासं चकार सः।।
स्वज्ञापनाय भक्तानां पदप्राप्त्यै ततः परम्।।६१।।

भगवदिच्छया तदर्थम् अंशावतरणात्. प्रयोजनम् आह **स्वज्ञापनाय** इति. ततः परं रूपलीलातिरोभावानन्तरं नामलीलया क्रीडां कर्तुं व्यासावतारः इति अर्थः।।६१।।

ननु अस्य अर्थस्य बुद्धिपरिकल्पितत्वे काव्यवद् असत्यत्वं स्यात्. वेदपुराणयोः विद्यमानत्वे जीवैरपि कर्तुं शक्यतइति किं व्यासावतारेण? इति आशङ्क्य आह **सत्वस्य** इति सार्द्धैः त्रिभिः.

सत्वस्य व्यवधानत्वाद् आत्मज्ञानात्तु योगतः।।
व्यासकार्यं समस्तञ्च कृतवान् अधिकं तथा।।
अनिर्वृतिस्ततो जाता तेन भागवतं कृतम्।।६२।।

[भगवद्भजन विना जिनकुं भगवत्प्रोक्त वाक्यन्को अर्थबोध नहीं भयो एसे व्यासजी भागवत तथा ब्रह्मसूत्रन्के तत्वको उपदेश केसे करि सके? या शङ्काको समाधान करत हें]

अन्य युगन्में तो साधारण जीव ही व्यास होय जावें हें, या द्वापरयुगमें तो स्वयं पूर्णरूप कृष्णचन्द्र प्रकट होयकें रूपलीला करते भये, रूपलीलाको तिरोभाव करे पीछें नामलीला करिकेंह्न शब्दात्मक भागवतको स्वरूप धारण करिकें क्रीडा करिवेके अर्थ [श्रीभागवत तथा ब्रह्मसूत्रन् को अर्थ प्रकट करिवेके अर्थ] पहिलेसों ही अपने अंशद्वरा व्यासजीकुं प्रकट किये.

वेद-पुराण विद्यमान ही हें, जीव हु धर्मनिर्णय करि सकते हते ये शङ्का नहिं करनी.

यत्र व्यासस्याऽपि अज्ञानं तत्र जीवानां का वार्ता? इति निरूपयितुम् अनिर्वृतिः भारतनिर्माणं च उक्तम्. ततो भगवदिच्छया व्यवधायके अपगते भागवतं कृतम् इति अर्थः।।६२।।

ननु उक्तं पूर्वसिद्धः अर्थो न वा? इति तत्र आह **सर्वगोप्यो हि** इति.

सर्वगोप्यो हि धर्मस्तु वेदे मुख्यतयोदितः।।
ब्रह्ममात्रप्रकाशस्तु कृपया सनकादिगः।।६३।।

जा विषयमें भगवदवतार एसे व्यासजीकुं हु अज्ञान हे तहां जीवन्की [जीवरूप अन्य व्यासन्की] कहा गति! ये बात व्यासजीनें भागवतमें कही हे के "मेंने भारतके मिषसों वेदको अर्थ दिखायो. जा भारतमें स्त्री-शूद्रादिकन्को हु वर्णन लिख्यो हे एसो भारत हु मेंने बनायो. परन्तु मेरो आत्मा सन्तुष्ट नहिं भयो". ता पीछें भगवद्भजनद्वारा जब भगवान् प्रसन्न भये तब भगवदिच्छासों व्यवधान करिवेवारो सत्वगुण दूर भयो तब श्रीभागवत प्रकट कियो. सो भागवत भगवान्को रूप जतायवेके अर्थ तथा भगवत्पदकी प्राप्ति करिवेके अर्थ प्रकट भयो हे।।६१।।

इन व्यासजीने अन्य व्यासको कार्य हु कियो तथा वासों अधिक हु कियो. अर्थात् महाभारत सत्यवतीसुत व्यासजीनें वर्णन कियो हे एसें मत्स्यपुराणमें लिखो हे. ये भारत बनानो अन्य व्यासन्की अपेक्षा इननें अधिक कार्य कियो।।६२।।

शङ्काः भागवत पहिलेसों ही चलो आवे हे अथवा नवीन ही प्रकट कियो हे? तथा भागवतको सिद्धान्त पहिलेसों ही सिद्ध हे अथवा नवीन हे?

उत्तरः वेदमें मुख्यधर्म अत्यन्त ही गुप्त हे. याको बोध ब्रह्माकु ही भयो. तथा भगवत्कृपा बलसों हंसरूपद्वारा सनकादिकन्के अर्थ हु

भगवति वेदार्थएव परं गुप्तः. भगवदिच्छया यदा पुनः सर्वोद्धारार्थं प्रयत्नं कृतवान् तदा परम्परायाः अभावात् न अन्यैः व्यासैः वक्तुं शक्यतइति व्यासावतारः।।६३।।

अभिप्रायज्ञापनार्थं गीतायां सएव प्रकटीकृतः. तर्हि तावन्मात्रएव वक्तव्यः स्याद् इत्यतः आह **तद्व्यासत्वाद्** इति.

स इदानीं तु गीतायां प्रकटो भगवत्कृतः।।
तद्व्यासत्वाद् भगवतं पूर्वं भगवतोदितम्।।६४।।

यथा भागवतं गीताविस्तारः तथा नामलीलारूपभगवद्विस्तारो व्यासः. परम्परान्तरमपि आह **पूर्वं भगवतोदितम्** इति।।६४।।

भगवान्नें वेदोक्त गुह्य धर्मको वर्णन कियो. फिर जब भगवान्नें इच्छा करकें सर्वोद्धारार्थ प्रयत्न कियो तब परम्परा न रहिवेके कारणसों अन्य व्यास गुप्त वेदार्थको वर्णन नहिं करि सके. तब भगवान्नें ही अंशद्वारा व्यासावतार धारण कियो।।६३।।

व्यासजीकुं अभिप्राय जतायवेके अर्थ वेदके गूढार्थकुं गीतामें प्रकट कियो. तहां जितनों गीतामें हतो वितनों ही वर्णन करते, व्यासजीनें अधिक क्यों वर्णन कियो ?

एसी शङ्का नहिं करनी. जेसे भागवत गीताको विस्तार हे तेसें नामलीलारूप भगवान्को विस्तार व्यासजी हें. तासों इननें गीताको विस्तार कियो. तथा भागवतकी अन्य हु परम्पार हे. भगवान्नें चार श्लोकन् करकें ब्रह्माजीसों कह्यो, ब्रह्माजीनें तीन अध्याय करकें नारदजीसों कह्यो तथा नारदजीकुं विस्तार करिवेकी आज्ञा दीनीं. नारदजीनें वेदव्यसजीसों कह्यो. वेदव्यासजीनें हु विस्तार कियो.

न्यारे-न्यारे अधिकारीन्के हृदयमें स्थिर करिवेके अर्थ एक ही सिद्धान्तकु अनेक रीतिसों वर्णन करिवेको नाम 'विस्तार' कहें हें।।६४।।

तर्हि पञ्चरात्रवत् स्वतन्त्रता भवतु इति आशङ्क्य आह **विश्वासार्थम्** इति.

विश्वासार्थं पुराणेषु पठितं भक्तिहेतुकम्।।
प्रतिपाद्येशलीलायाः पुराणार्थं त्वतः पुनः।।६५।।

आगमापेक्षयाऽपि लोकानां पुराणे विश्वासः. हेत्वन्तरम् आह **भक्तिहेतुकम्** इति. तद् हि उपासनाविधायकम्. अन्यमपि हेतुम् आह **प्रतिपाद्य** इति. ईशलीला सर्गादिरूपा. अन्यथा श्रोतुः तत्तद्भावापत्त्यभावे तत्तत्कर्मक्षयाभावात् न मोक्षः स्यात्. अतो दशलीलाः पुराणलक्षणरूपाइति पुराणेषु प्रवेशः।।६५।।

ननु पूर्वसिद्धं वेदत्वमेव कुतो न उक्तवान् तत्र आह **सर्वमुक्तिनिवृत्त्यर्थम** ्इति.

शङ्काः "पञ्चरात्रस्य सर्वस्य वक्ता नारायणः स्वयम्" इत्यादि वाक्यन् करकें नारदपञ्चरात्रके कर्ता नारायण हें, नारद प्रसिद्धकर्त्ता हें. तासों नारदपञ्चरात्र जेसें स्वतन्त्र ग्रन्थ हे तेसें भागवतके कर्ता हु नारायण हें. तासों भागवतकों हु स्वतन्त्रता ही होनी योग्य हे.

उत्तरः स्वतन्त्रता होयवेसों नारदपञ्चरात्रके तुल्य भागवत हु तन्त्रमें गिन्यो जायेगो. लोकको (आगम=) तन्त्रग्रन्थकी अपेक्षा पुराणन्में अधिक विश्वास हे. तासों पुराणन्में ही श्रीभागवतकी गणना हे. दूसरो कारण ये हु हे के नारदपञ्चरात्र उपासना विधायक हे. श्रीभागवत भक्ति विधायक हे. पुराणन्में गणनाको तृतीय हेतु ये हे के श्रीभागवतमें सर्ग-विसर्गादि दश प्रकारकी लीलाको प्रतिपादन हे. यदि दश प्रकारकी सर्गादिलीलाको वर्णन नहिं होय तो सुनिवे वारेको कर्म क्षय नहीं होय. कर्मनाश विना मोक्ष हु नहीं होय. तासों दशविधालीला पुराणको लक्षण हे. सो श्रीभागवतमें मिले हे. तासों याको पुराणमें प्रवेश हे।।६५।।

[यहां शङ्का होय हे जो व्यासजीनें श्रीमद्भागवतकं पुराण कह्यो. वद क्यों नहीं कह्यो?]

सर्वमुक्तिनिवृत्त्यर्थं वेदत्वं तस्य नोक्तवान्।।
वेदकर्तृवचस्त्वाद्धि सतां सर्वं भविष्यति।।६६।।

व्यासस्य एतावान् सङ्कोचः अग्रिमावतारकार्यसिद्ध्यर्थं विश्वासाभावाय वेदत्वाकथनम् पाक्षिकप्रयोजनसिद्ध्यर्थं वा, बुद्धावतारे वेदानां निराकरणात्. अतः

पुराणार्थत्वेन वा तिष्ठतु इति युक्तम् उत्पश्यामः. विश्वासस्तु भविष्यति इति आह **वेद** इति. सतां दैत्यावेशरहितानाम्।।६६।।

मर्यादाशास्त्रापेक्षया भागवतस्य उत्कर्षं वक्तुम् आह **स्वस्य** इति.

स्वस्यान्यस्य च निर्वाहं वेदः कर्तुं न हि क्षमः।।
अत्यन्तमलिना लोकाः ततो भागवतं कृतम्।।
एतदभ्यसनाल्लोको मुच्यतेऽनुपजीवनात्।।६७।।

उत्तरः वेदको साररूप श्रीभागवत हे तासों वेदरूप ही हे. परन्तु व्यासजी या विषयमें सङ्कोच कर गये हें. आसुरजीवन्को विश्वास नहीं करायवेके अर्थ वेदत्व भागवतकुं नहिं कह्यो. क्योंके आसुरन्कुं सन्मार्गसों निवृत्त करनों बुद्धावतारको कार्य हे. सो व्यासजीनें पहिलीसों ही कियो हे. दूसरो प्रयोजन ये हे जो भागवतकुं वेदरूप मानते तो बुद्धभगवान्नें वेदन्को खण्डन कियो तामें श्रीभागवतको खण्डन होय जातो; तथा श्रीभागवतकी वेदमें गणना होती तो वेदसों जेसे सबकी मुक्ति नहिं होत हे, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य इन तीन वर्णन्की ही मुक्ति होत हे, एसें भागवतसों हु सबन्की मुक्ति नहीं होती.

तहां भागवतकुं वेदरूप नहिं मानोगे तो दैवजीवन्को हु भागवतमें विश्वास नहिं रहेगो ये शङ्का नहिं करनी. क्योंके वेदके कर्ता जो भगवान् हें उनहीको वचन श्रीभागवत हे. तासों सज्जनन्कों तो श्रीभागवतसों ही सब सिद्ध होय जायेगो।।६६।।

मर्यादाशास्त्रकी अपेक्षा भागवतके उत्कर्षको आगेकी कारिकासुं वर्णन करे हें.

वेदार्थानुष्ठाने सिद्धे वेदः सफलो भवति, नतु स्वार्थानुष्ठानं सम्पादयितुं शक्तः. अतः स्वनिर्वाहे कुण्ठितः. तत्र हेतुः **अत्यन्तमलिना** इति. तर्हि भागवते कथं न दोषः? तत्र आह **एतदभ्यसनाद्** इति. अभ्यासमात्रेणैव तदर्थानुष्ठानाभावेऽपि लोको मुच्यते. परम् अत्र एको दोषः **तदुपजीवनम्** इति. अतः तदभावम् आह **अनुपजीवनाद्** इति. वृत्त्यर्थम् उपायो न कर्तव्यः।।६७।।

उभयोः वैलक्षण्ये युक्तिम् आह **कालादि** इति.

कालादिधर्महेतूनाम् अभावात् साम्प्रतं कलौ।।
वेदस्मृतिपुराणानाम् अर्थाः सर्वे हि बाधिताः।।६८।।

मर्यादाशास्त्रकी अपेक्षा भागवतेमें ये अधिकाई हे के वेदके अर्थको अनुष्ठान करेसों वेद फल दे सके हे परन्तु वेदकी ये सामर्थ्य नहिं हे के आचारहीन मनुष्यन्सों अपनो अनुष्ठान करवायके फल दे सके. तासों "आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" (वीशष्ठस्मृ.६।३) इत्यादि वाक्यसों आचरहीन होयवेसों अत्यन्त मलिन जो मनुष्य हें वे वेदके अधिकारी नहिं हे. उनकुं मुक्त करिवेमें वेद कुण्ठित अर्थात् समर्थ नहिं हे. ये दोष भागवतमें नहिं हे. क्योंके ये तो सबके उद्धार करिवेके अर्थ प्रकट हे. अर्थको अनुष्ठान नहिं होय सके तो श्रीभागवत पढिवे-सुनिवेके अभ्यास मात्रसों हु लोक मुक्त होय जाय हें. क्योंके "यस्यां वै श्रूयमाणायां" (भाग.पुरा.१।७।७) "शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्" (भाग.पुरा.१।१।२) इत्यादि भागवतके ही वचनन्में श्रवण करके भगवान्की तथा भक्तिकी प्राप्ति लिखे हें. परन्तु यामेंहु एक दोष हेः या (भागवत्) करकें जीविका करनों. तासों जो पुरुष श्रीभागवतकरकें मुक्त होनों चाहे वाकु श्रीभागवतको जीविकाके अर्थ उपयोग नहिं करनो चहिये।।६७।।

वेद-भागवतमें परस्पर विलक्षणता दिखावें हें. काल, देश, द्रव्य, कर्ता, मन्त्र तथा कर्म ये छ पदार्थ शुद्ध होंय तब फल सिद्ध करेंहें.

कालादयः षट् शुद्धाः फलं साधयन्ति. ते कलौ कथमपि न शुद्धा भवन्ति. वेदाद्यर्थाश्च कालादिसाधनसापेक्षाः।।६८।।

भागवतार्थस्तु न तान् अपेक्षते, नित्यत्वात् सर्वाधिकारत्वात् सुलभत्वात् च इति आह **कालादिसाधनापेक्षारहितः** इति.

कालादिसाधनापेक्षारहितः सर्वतोऽधिकः।।
फलतः सुगमश्चैव सर्वथा फलसाधकः।।६९।।

ओर वेद-स्मृति-पुराणार्थ इन छे पदार्थन्के आधीन हें. कलियुगमें ये छे पदार्थ कोई रीतिसों हु शुद्ध नहिं होय सकें. कलियुग अधर्मको काल हे. देश हे वे म्लेच्छन् करके आक्रान्त हे. द्रव्य जे यज्ञादिकके सोमलता आदि पदार्थ हें वे हु

नहिं मिलें हे. जे मिलें हें वेहु शुद्ध नहिं मिलें हें. कर्ता आचारहीन–मलिन हें. मन्त्रहु बहुत करकें स्वर–अर्थसों हीन हें. कर्म करिवेकी हु रीति परम्पराप्राप्त नहिं हे. तासों वेदार्थानुष्ठान अभी दुर्लभ हे।।६८।।

भागवतार्थ तो इनकी अपेक्षा नहिं करे हे. क्योंके ''हरिः सर्वत्र सर्वदा'' ''श्रोतव्यः'' इत्यादि वाक्यन्सों भागवत्को तो सब कालमें तथा सब देशमें सुननों कीर्तन करनो लिखें हें. तासों नित्य हे. तथा दैव–आसुर–मनुष्य कोई होय सब ही याके अधिकारी हें. ओर ये सुलभ हे. [ब्राह्म–पाद्मादि पुराणन्में यद्यपि परब्रह्मरूप भगवान्को प्रतिपादन तथा स्वतन्त्र रूपसों भगवद्यशको हु प्रतिपादन हे. तथापि वो प्रतिपादन शतकोटिविस्तीर्ण पुणान्के सात्विक भागको केवल समसन–सङ्क्षिप्त सङ्कलन रूप ही हे. एवञ्च, याके प्रतिपादन करिवेमें व्यासजीकुं श्रीमद्भागवतकी न्यांई समाधिमें अनुभव हु भयो नहीं हे.] अतएव सात्विक पुराण श्रीभागवतके अङ्ग हें. याहीसों भागवतको माहात्म्य अन्य पुराणमें हे, भागवतमें अन्य पुराणको माहात्म्य नहिं हे. वेदको पक्यो भयो रसमय फल श्रीभागवत हे. वेदादिकन्के सन्देह दूर करिवे वारो हे।।६९।।

ननु अन्योऽपि मार्गो योगः साङ्ख्यं च कालाद्यपेक्षारहितः. योगेनैव सर्वानर्थनिवृत्तिः ज्ञानेन च इति आशङ्क्य तद् द्वयं दूषयन्ति **योगसाङ्ख्ये** इति.

योगसाङ्ख्येतु ये मुख्ये तयोः सत्वे प्रयोजनम्।।
ज्ञानदुर्बलवादानां न मनोरथवार्तया।।
सिद्धिं यान्ति नरा दुष्टा व्यामोहस्तु ततः फलम्।।७०।।

किं मुख्ये योग–साङ्ख्ये तथाभूते आहोस्वित् यादृशे–तादृशे? तत्र आद्ये न, अस्मिन् युगे भवतः, तत्साधनानां कालाद्यपेक्षणात् साधनरहितयोस्तु अप्रयोजकत्वम्. सत्वे सत्यरूपत्वे ससाधने उत्कृष्टरूपे योग–साङ्ख्ये सफले इति अर्थः. अन्ये पुनः ज्ञानदुर्बलवादसिद्धे. अतः तेषां मनोरथकल्पितत्वात् न ताभ्यां फलं किन्तु व्यामोहएव ताभ्यां जन्यते।।७०।।

शङ्का: [1]योग-[2]साङ्ख्यच हु गीता तथा भागवतमें लिखे हें. तथा काल-देशादिकन्की हु अपेक्षा इनकुं नहिं हे. तथा [3]ज्ञान हु सर्व कर्मन्कुं भस्म करिवेवारो हे. तासों इन तीन साधन करके हु अनर्थ निवृत्ति हो जायेगी.

उत्तर: पौराणिक जे योग-साङ्ख्यच हें वे ही अनर्थकी निवृत्ति करिवेवारे हें. [1]योग-साङ्ख्यचन्में कितनेक तो मुख्य हें जिनको प्रतिपादन पुराणन्में हे. तथा कितनेक मन:कल्पित प्रकारसों निर्मित तथा वामादि मार्गन्में प्रचलित योग-साङ्ख्यच हें सो तो गौण हें. इनमें पुराणप्रतिपादित मुख्य योग-साङ्ख्यच तो देश-कालादि साधनन्की अपेक्षावारे होयवे सों तथा या कालमें विन साधनन्के दुर्लभ होयवेसों अपुनो प्रयोजन सिद्ध नहिं करी सकें हें. परन्तु जे योग-साङ्ख्यच सात्विक हें वे सफल हें.] तथा वाममार्गीन्के शास्त्रन्में कहे योग-साङ्ख्यच तो ज्ञानदुर्बल हें तासों सिद्ध नहिं हें. अर्थात् असङ्गत् हेमन्की कल्पनाके बने भये हें. तासों उन करकें फल सिद्ध नहिं होवे हे, वे केवल मोहके करिवेवारे हें।।७०।।

कथम् एवम् अवगम्यते? इति आकाङ्क्षायाम् आह ग्रन्थान् इति.

ग्रन्थान् पुराणवाक्यानि वेदरूपेण च क्वचित्।।
कृत्वा वृथा वेषधराः कृष्णं नोपासते परे।।७१।।

स्थूलान् मिथ्यार्थप्रतिपादकान् यथा बुद्धिः तत्रैव लग्ना भवति. पुराणवाक्यानि च कल्पयन्ति. क्वचिद् वेदरूपेणापि, यथा परमहंसोपनिषत्. एवं कृते यज्जातं तद् आह **वृथा वेषधरा** इति. मुण्डादिपारलौकिकवेषं धृत्वा मोहः सिद्धः इति. स्वयमपि कृष्णं न उपासते. तथा सति भजनं प्रवर्तेत इति. एवं भागवतेनैव सर्वनिस्तारः इति पुराणप्रकरणे निरूपितम्।।७१।।

ये बात केसे जानी जावे हे? तहां आज्ञा करें हें 'ग्रन्थान्' इति. मुण्डादि पारलौकिक वृथा वेषकुं धारण करकें मिथ्या अर्थके कहिवे वारे बडे-बडे ग्रन्थनकुं बनाय दे हें जामें मनुष्यकी बुद्धि शीघ्र लग जाय. एसें ही कितनेक पुराणन्के वाक्य हु मनसों ही बनाय लिये हें. जेसें आत्मपुराण कोई मायावादीनें बनाय लियो हे. वेदमें हु कितनेक उपनिषत् बनाय लिये हें, जेसे हंसोपनिषद् तथा माण्डूक्यके गौडपादके बनाये भये श्लोक उपनिषदन्में पढ दिये हें. तथा जेसे सर्वोपनिषद्.

प्राचीन मायावादके ग्रन्थनूमें हु इनके उपनिषद् होयवेकी सम्मति नहीं दीख पडे हे. या प्रकारसों अनेक मिथ्याशास्त्रके बनायवेवारे स्वयं हु कृष्णकी उपासना नहिं करें हें. क्योंके यदि वे करते होंय तो उनकुं देखिके अन्य हु कृष्णभजनमें प्रवृत्त होंय. तासों भागवतसों ही सब निस्तार होय सके हे ये ही बात पुराणप्रकरणमें निरूपण करी हे।।७१।।

इति पुराणप्रकरणम्

एवं श्रुति-स्मृति-पुराणानि निरूप्य षडङ्गानि निरूपयति **षडङ्गानि** इति.

षडङ्गानि तथा वेदे वेदरक्षाफलानि हि।।
स्वरूपतोऽर्थतश्चैव ह्यनुष्ठानात् त्रिधा हि तत्।।७२।।

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषम् इति. एतेषां सामान्यफलं वेदरक्षा. सा च त्रिविधा. वैदिकशब्दा विसदृशा इति "भद्रं कर्णेभिः" इत्यादौ पण्डितैः अन्यथाकरणं सम्भवति. तं निराकृत्य स्वरूपतो रक्षणीयः. अर्थतोऽपि रक्षणीयः. अन्यथा यागमेव न जानीयुः. अतएव साम्प्रतं दानमेव यागं मन्यन्ते. अनुष्ठानादपि रक्षा. अन्यथा अन्यथानुष्ठानं स्यात् कल्पाद्यभावे।।७२।।

तत्र द्वयोः उपयोगम् आह **शिक्षा** इति.

शिक्षा छन्दः स्वरूपे तु निरुक्तं व्याकृतिस्तथा।।
अर्थे ज्योतिस्तथा कल्पो ह्यनुष्ठाने प्रयोजकः।।

वेदके छे अङ्गन्‌को निरूपण करें हे. शिक्षा, कल्पसूत्र, व्याकरण, निरुक्त, छन्दोग्रन्थ तथा ज्योतिष ये छे शास्त्र वेदके अङ्ग हें. वेदकी रक्षा करनों इनको सामान्य फल हे. वेदकी रक्षा तीन प्रकारसों हेः [१]स्वरूपरक्षा; अर्थात् वेदके शब्द लोकके शब्दसों विलक्षण हें. स्वर-वर्णन्‌कुं जेसे-के-तेसे बनें राखने. या प्रकारकी रक्षा यदि नहिं कीनी जाय तो पण्डितलोग हु "भद्रङ्कर्णेभिः" या ठिकाने "भद्रं कर्णैः" एसो पाठ कर देंगे. तासों अन्यथा पाठ न होय यालिये वेदकी स्वरूपसों रक्षा करी. एसे ही वेदके [२]अर्थकी हु रक्षा करनी. अर्थकी रक्षा नहिं होयगी तो यज्ञपदार्थकुं हु लोग नहिं जानेंगे. जेसे अभी यज्ञकुं नहिं जानें हे वे लोग 'यज्'धातुको दान अर्थमात्र ग्रहण करके दानकुं ही यज्ञ मानें हे. एसें ही वेदके [३]अनुष्ठानकी हु रक्षा करनी योग्य हे. कल्पसूत्रकरकें कर्मकी रक्षा न करी जायगी तो यज्ञादिकन्‌को अनुष्ठान नहिं होय सकेगो. तासों दो-दो अङ्गन्‌को एक-एककी रक्षामें उपयोगहे।।७२।।

शिक्षा-छन्दोग्रन्थ वेदके स्वरूपकी रक्षा करिवेवारें हें. अर्थात्

विशेषतो हीदमुक्तं सर्वं सर्वत्र चैव हि।।७३।।

स्वरादिविधौ. शब्देऽपि व्याकरणोपयोगः इति व्यभिचारम् आशङ्क्य आह **विशेषतः** इति।।७३।।

कथं व्याकरणस्य अर्थोपयोगः? इति आशङ्क्य आह **ये धातुशब्दा** इति.

ये धातुशब्दा यत्रार्थे उपदेशे प्रकीर्तिताः।।
तथैवार्थो वेदराशेः कर्तव्यो नान्यथा क्वचित्।।७४।।

धातुपारायणे नामपारायणे च वैदिकनिघण्टौ. यत्रार्थे "यज देवपूजा-सङ्गतिकरण-दानेषु" "गौः ज्मा क्ष्मा" इत्यादिप्रकरणेन पृथिव्या इति प्रकीर्तिताः. तथैव वेदार्थो निर्णेतव्यः. यथा कैश्चिद् उक्तं "विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः" (ऋग्वेदसंहिता१।१५४।५) 'उत्स'शब्देन कूपवाचकेन 'उत्सुको' व्याख्यातः. तथाव्याख्याने स्वार्थात् प्रच्यवेत्. अतः तन् निषेधार्थम् आह **कर्तव्यो नान्यथा क्वचिद्** इति।।७४।।

स्वर-अक्षरनकुं यथार्थ राखिवे वारे हें. व्याकरण-निरुक्त शास्त्र वेदके अर्थकी रक्षा करिवेवारें हें. ज्योतिष-कल्पसूत्र वेदके अनुष्ठानकी रक्षा करिवेवारे हें. विशेष करके याही प्रकारसों रक्षा हे. सामान्य रीतिसों तो सब ही अङ्ग सब प्रकारकी रक्षा करें हें. जेसे व्याकरणकरके स्वर-वर्णनकी हु रक्षा होय हे।।७३।।

व्याकरणको वेदार्थमें उपयोग दिखावें हें "ये धातु" इत्यादि. उपदेश समयमें वेदनिघण्टुमें जे धातु-शब्द जा अर्थमें वर्णन किये होंय उनके अनुसार ही वेदको अर्थ करनों. अर्थमें व्याकरणको उपयोग जेसे 'यज्'धातु देवपूजा-सङ्गतिकरण-दान इन अर्थनमें हे. जेसे 'गौः' 'ज्मा' 'क्ष्मा' आदि नाम पृथ्वीके प्रकरणसों कहे हें वेसें ही वेदार्थको निर्णय करनो. जेसे "विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः" (पूर्ववत्) या मन्त्रमें कूप वाचक 'उत्स'शब्दको उत्सुकहनअर्थ कितनेक पण्डितजननें कियो हे. एसें करिवेमें वेदार्थकी हानी होय हे. तासों वेदको अन्यथा अर्थ कबहु नहिं करनो।।७४।।

ननु कल्पसूत्रे साङ्कर्यम्, अङ्गत्वं, स्मृतित्वं च इति आशङ्क्य आह **साक्षाद्** इति.

साक्षाद् धर्मप्रतीतेस्तु कल्पः स्मृतिषु चिन्तितः।।
दर्शादिकालनिर्धारो ज्योतिःशास्त्रफलं स्मृतम्।।७५।।

तत्र धर्मः प्रतीयतइति वेदत्वं च उक्तम्. वस्तुतस्तु अङ्गत्वमेव. ज्योतिष उपयोगम् आह **दर्शादि** इति।।७५।।

निरुक्तस्य विवरणरूपस्य कथम् अङ्गत्वम्? इति आशङ्क्य आह **पदनिर्वचनाद्** इति.

पदनिर्वचनाद् वेदे निघण्टु विवृतावपि।।
निरुक्तस्याङ्गता प्रोक्ता तथाऽल्पस्तस्य सञ्चरः।।७६।।

निघण्टौ यद्यपि कोशवच्छब्दाः उक्ताः तथापि निर्वचनाभावात् न अङ्गत्वम्. विवृतित्वेऽपि निर्वचनादेव निरुक्तस्य अङ्गत्वं व्याकरणापेक्षया तस्य अल्पो विषयः।।७६।।

कल्पसूत्रमें साक्षाद्धर्म यज्ञादिक प्रतीत होय हें. तासों वेदत्व-स्मृतित्व दोनें कहे हें. वस्तुतः अङ्गन्में ही कल्पसूत्रकी गणना हे. वेदमें दर्शादि कालमे यज्ञ करनो लिखें हें. तहां दर्श कोन समयको नाम हे इत्यादि कालनिर्धार करनो ज्योतिषको फल हे।।७५।।

निरुक्तमें मन्त्रकी व्याख्या लिखी हे वाकुं अङ्गपनो केसे सम्भव सके हे? ये शङ्का नहिं करनी. निघण्टुमें कोशके समान शब्द कहे हें परन्तु विनकी व्युत्पत्ति नहिं करी हे. तासों निघण्टु वेदको अङ्ग नहिं हे किन्तु निरुक्तको ही अङ्ग हे. निरुक्तमें तो शब्दन्को निर्वचन (व्युत्पत्ति) कीनो हे तासों वाको वेदव्याख्यारूपत्व हे तथापि अङ्गत्व हे. निरुक्त नहिं होय तो "सृण्येव जर्फरी तुर्फरी पर्फरी" इत्यादि पदन्के अर्थ नहिं जानें जावें. तथापि व्याकरणकी अपेक्षा निरुक्तको सञ्चार वेदमें अल्प हे।।७६।।

व्याकृतिः पाणिनीयं हि प्रातिशाख्यन्तु शब्दगम्।।
आदिमत्वात् लक्षणानां नाङ्गत्वं पूर्वचोदितम्।।७७।।

यद्यपि बहूनि व्याकरणानि सन्ति तथापि पाणिनीयमेव अङ्गम्. प्रातिशाख्यन्तु प्रतिशाखं भिन्नमिति न साधारणम् अङ्गम्. यद्यपि कल्पेऽपि अयं दोषः सम्भवति तथापि कल्पत्वेन अङ्गता. प्रातिशाख्येतु क्वापि न अर्थज्ञानं भवति. अतः शब्दोपयोगित्वात् पाणिनीयान्तर्भावेनैव अङ्गता. तथा लक्षणानाम्।।७७।।

तेषाम् अङ्गे प्रवेशप्रकारम् आह अनिङ्ग्यादि इति.

अनिङ्ग्यादि प्रातिशाख्ये विशेद् व्याकरणेतु तत्।।

छन्दसः पाठहेतुत्वं शब्दज्ञनोपयोगतः।।७८।।

सर्वाणि लक्षणानि प्रातिशाख्यं प्रविशन्ति. प्रातिशाख्यं व्याकरणे. छन्दसः अनुष्ठानेऽपि उपयोगो दृश्यतइति कथं पाठहेतुत्वम्? तत्र आह **शब्दज्ञानोपयोगतः** इति. अनुष्ठानेऽपि शब्दधर्मत्वेनैव तज्ज्ञानम् उपयुज्यते न अन्यन्यथा इति अर्थः।।७८।।

उपवेदानां प्रयोजनम् आह **आरोग्ये** इति.

आरोग्ये धर्मसिद्धिः स्यात् रक्षा च धनुषो भवेत्।।

एसें ही व्याकरण बहुत हें. तिनमें पाणिनीय व्याकरण ही वेदको अङ्ग हे. प्रातिशाख्य वेदभाष्य तो शाखा-शाखा प्रति न्यारो-न्यारो हे. तासों साधारण रीतिसों सर्व वेदको अङ्ग नहिं हे. शब्दको उपयोगी हे तासों व्याकरणमें याको अन्तर्भाव हे. लक्षणग्रन्थन्को प्रातिशाख्यमें अन्तर्भाव हे. प्रातिशाख्यको व्याकरणमें अन्तर्भाव हे।।७७।।

छन्दोग्रन्थको अनुष्ठानमें हु उपयोग हे. क्योंके जा मन्त्रके छन्द नहिं जानों वाके अनुष्ठानको हु फल नहिं होय. तथापि शब्दद्वारा ही अनुष्ठानमें उपयोग हे. तासों शब्दरक्षा ही छन्दोग्रन्थको प्रयोजनहे।।७८।।

उपवेदन्को प्रयोजन दिखावें हे. ऋग्वेदको उपवेद जो आयुर्वेद-वैद्यशास्त्र

उद्वेगहानिर्गान्धर्वे स्थापत्यं च स्रुगादिषु।।७९।।

ऋग्वेदस्य आयुर्वेदः उपवेदः. तस्य आरोग्यं फलम्. तेन धर्मः सिद्ध्यतीति आरोग्यद्वारा धर्मोपयोगः. एवं रक्षाद्वारा धनुर्वेदस्य. उद्वेगहानिद्वारा गान्धर्वस्य. स्थापत्यस्यतु स्रुगादिषु उपयोगः. एवम् अष्टादशविद्यानां धर्मोपयोगः उक्तः. अर्थशास्त्रस्य अर्थद्वारैव तदुपयोगः. तच्च न्याये प्रविशति. तथा वात्स्यायनादीनां कामोपयोगः. सच दृष्टान्तो मोक्षसुखे. अतो न अष्टादशविद्यासु निरूपितः. तच्छेषत्वमेव काव्यालङ्कार-नाटकादीनाम्. यथा अग्निमथनं योगे दृष्टान्तः तथा मोक्षे कामः इति सर्वम् अनवद्यम्।।७९।।

हे वाको आरोग्य फल हे. नैरोग्यसों धर्म सिद्ध होय हे तासों रोगनिवृत्तिद्वारा धर्ममें वैद्यशास्त्रको उपयोग हे. धर्ममें धनुर्वेदको रक्षाद्वारा उपयोग हे. गान्धर्ववेदको धर्ममें

उपयोग हे. स्थापत्यवेदको खातीके कामको स्रुग, स्रुवा, स्तम्भ, पात्रादि बनायवेमें उपयोग हे. तासों परम्परासों धर्मको उपयोगी हे. या प्रकार [१]पुराण, [२]न्याय, [३]मीमांसा [४]धर्मशास्त्र [५-१०]अङ्ग, [११-१४]वेद, [१५-१८]उपवेद इन अष्टादशविद्याको उपयोग हे. जा शास्त्रमें हाथी-घोडा, मणि आदिके लक्षण हें वा अर्थशास्त्रको अर्थसिद्धिद्वारा धर्ममें उपयोग हे. अर्थशास्त्रको न्यायशास्त्रमें अन्तर्भाव हे. वात्स्यायनादि कामशास्त्रको कामोपभोगमें उपयोग हे. कामसुख हे सो मोक्षसुखको दृष्टान्त हे. जेसे स्वर्गसुखको दृष्टान्त राज्यसुख हे. यद्यपि राज्यसुखसों क्रोडगुनो अधिक स्वर्गसुख हे तथापि अदृष्ट अर्थात् विना देखें स्वर्गसुखमें प्रवृत्ति होयवेके अर्थ राज्यसुखको दृष्टान्त दियो जाय हे तेसें ही विना देखें अनन्त-अचल मोक्षसुखमें प्रवृत्ति करायवेके अर्थ अल्प-नाशवारे कामसुखको दृष्टान्त हे. जा करकें तुच्छ-कामसुखकों छोडिके अनन्त-मोक्षसुखकी प्राप्तिके अर्थ प्रवृत्त होय. तासों अष्टादशाविद्यामें कामाशस्त्रकी गणना नहिं हे. काव्य-नाटकादिक कामशास्त्रके ही अङ्ग हें. काव्य-नाटक-अलङ्कारादिकन्को धर्ममें उपयोग नहिं हे. क्योंके मनकी उत्प्रेक्षा करकें बनाये जावे हें।।७९।।

काव्यादीनां धर्मे न उपयोगः इति आह काव्यादीनाम् इति.

कव्यादीनाम् असत्यत्वात् नोपयोगः कथञ्चन।।
धर्मे कर्तुः क्वचित् कीर्तिः नैपुण्यं पाठतः क्वचित्।।८०।।

असत्यत्वम् उत्प्रेक्षाजन्यत्वात्. कीर्तिः धर्मवत् फलसाधिकेति फलांशे काव्यादीनाम् उपयोगम् आह **कर्तुः क्वचित् कीर्तिः** इति. नैपुण्यं नीतिशास्त्रेषु युज्यते. तच्च पाठात्।।८०।।

रामायणञ्च काव्यमिति सर्गबन्धनात् तस्य धर्मोपयोगो न भविष्यति इति आशङ्क्य आह **रामायणम्** इति.

रामायणमनन्तं हि पुराणमिव सम्मतम्।।
व्यासः पूर्वम् अनेकोक्तो वाल्मीकिः साम्प्रतं किल।।
समाधिभाषया प्राह प्रमाणं सर्वथैव तत्।।८१।।

"चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्, एकैकम् अक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्" (रामरक्षास्तोत्र१) इति वाक्याद् धर्मजनकमेव. **अनन्तम्** अपरिमितम्. प्रतिकल्पं प्रतियुगं रामावताराः भवन्ति.

परन्तु काव्यादिकन्सों काव्य बनायवेवारेकी कीर्ति होवे हे. ओर जेसे धर्मसों स्वर्ग प्राप्त होवे हे तेसे मनुष्यको कीर्ति हु स्वर्गादिफलकी देवेवारी हे. तासों स्वर्गादि फलप्राप्तिमें काव्यादिको हु उपयोग हे, मोक्षमें उपयोग नहिं हे. ये अच्छे काव्यादि बनायवेको फल हे. काव्यादिकन्के पाठ करिवेसों तो निपुणता होय हे. निपुणताको नीतिशास्त्रमें उपयोग हे।।८०।।

तहां काव्यादिकमें ही रामायण हे. तासों रामायणको हु धर्ममें उपयोग नहिं होयेगो? एसी शङ्का नहिं करनी. रामायण अनन्त हे. आपस्तम्बादि ऋषिन्नें हु बनाई हे सो दक्षिणमें प्रसिद्ध हे. "श्रीमान् राजाधिराज चक्रवर्ति चूडामणि श्रीरघुनाथजीके चरित्रको सो क्रोड श्लोकमें विस्तार हे. याको एक-एक अक्षर महापातकको नाश करे हे" रामरक्षास्तोत्र१. तासों धर्मको उत्पन्न करिवेवारो हे. प्रतिकल्पमें प्रतियुगमें रामावतार होवे हे.

तत्र अन्यपदार्थेष्विव रामचरित्रस्य स्वरूपं न भवति, उत्तरेण पूर्वोपचरितार्थरूपम्. अतः पूर्वरामकथायाः उत्तरया सह कथनाद् अनन्तत्वम्. क्वचित् पुनः उक्तेऽपि धर्मो भवति इति 'हि'शब्देन आह. आख्यायिकायाः प्रामाण्यार्थं पुराणमिव सतां मतम्. अस्य व्यासो विस्तारः पूर्वम् अनेकैः उक्तः. साम्प्रतं वाल्मीकिः समाधौ उपलभ्य सर्वम् उक्तवान्. अतः सुतराम् इदानीन्तनं प्रमाणम्।।८१।।

वाशिष्ठरामायणादेः न तथात्वम् इति आह वाशिष्ठादेः इति.

वाशिष्ठादेस्तु संवादात् प्रामाण्यं नान्यथा क्वचित्।।
न्यायस्तु नीतिशास्त्रं हि तर्को मीमांसया युतः।।८२।।

संवादात् प्रामाण्यम्. संवादः प्रमाणेन. पुराण-न्याय इति अत्र साम्प्रतम् अक्षपादविरचितं धर्मोपयोगि भविष्यति इति आशङ्क्य समानशब्दत्वमेव तत्र इति आह **न्यायस्तु** इति. पुराण-न्याय इति अत्र नीतिशास्त्रमेव 'न्याय'शब्देन उच्यते, नतु लोके प्रसिद्धम्. 'यस्तर्केणानुसन्धत्ते' इति अत्र 'तर्क'शब्दो वेदानुकूलतर्कवाचकमीमांसापरः।।८२।।

अन्य पदार्थके समान श्रीरामचरित्रको स्वरूप नहिं हे. अतः पहिलेको चरित्र आगेके कल्पके चरित्रमें गतार्थ नहिं होय सकें तासों आगेके कल्पकी रामचरित्रकी कथाके

सङ्ग पीछेके कल्पकी कथा हु वर्णन कीनी हे. तासों अनन्त हे. वर्णन करे भयेको हु फेरि वर्णन कहुं-कहुं धर्मसिद्धिके अर्थ कियो हे तासों याकुं पुराणके समान प्रमाण माननो. रामचरित्रको विस्तार पहिले बहुत ऋषिन्नें कियो हे. परन्तु अभी वाल्मीकि ऋषिनें समाधिमें देखिकें रामायण कही हे तासों ये रामायण प्रमाण हे. अन्य ऋषीन्नें तो सुन करके रामचरित्रको वर्णन कियो हे. तासों वाल्मीकि रामायणसों मिलती भई अन्य रामायणकी कथा प्रमाण हे।।८१।।

अठारह विद्यामें अक्षपादको बनायो न्यायशास्त्र नहिं हे तासों बृहस्पति आदिको बनायो नीतिशास्त्र ही 'न्यायशास्त्र' नामसों ग्रहण करनों. वाहीकी अष्टादश विद्यामें गणना हे. ''यस्तर्केणानुसन्धत्ते'' इत्यादि

मोहार्थान्यन्यशास्त्राणि बुद्धे कृष्णे तदिच्छया।।
देवांशैः कल्पितान्येव तदुक्तं सर्वथा मृषा।।८३।।

अन्यानि काणादादिशास्त्राणि मोहार्थान्येव अतः तत् न आदरणीयम् इति अर्थः।।८३।।

स्थलमें तर्कशास्त्रद्वारा विचार करनो लिख्यो हे. तहां 'तर्कशास्त्र'सों मीमांसाशास्त्रलेनों ।।८२।।

ओर काणाद आदिकन्के बनाये भये शास्त्र जीवकी बुद्धिकुं मोह करायवेके अर्थ हें. क्योंके कृष्णकी इच्छासों देवांश प्रकट होयके उनने जे शास्त्र बनाये हें वे सब शास्त्र मिथ्या हें. पद्मपुराणमें गुणविवरणाध्यायमें शिवनें आज्ञा करी हे ''श्रृणु देवि प्रवक्ष्यामि तामसानि यथाक्रमम्, येषां श्रवणमात्रेण पातित्यं ज्ञानिनामपि, ... काणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत्, गौत्तमेन तथा न्यायं साङ्ख्यचन्तु कपिलेन वै, धिषणेन तु सम्प्रोक्तं चार्वाकमतिगर्हितम्.'' इत्यादि प्रमाण आवरणभङ्गमें लिखे हें।।८३।।

इति प्रमाणप्रकरणम्

एवं प्रमाणं निरूप्य तत्सन्देहं निराकृत्य प्रमेयं निरूपयति प्रमेयमिति.

प्रमेयं हरिरेवैकः सगुणो निर्गुणश्च सः।।
गुणाः कार्यं तथा धर्मः क्रियोत्पत्त्यादयश्च सः।।८४।।

यथा शब्दएव प्रमाणं, तत्राऽपि वेदादिभावापन्नं, तथा हरिरेव प्रमेयं सर्वभावापन्नम् इति. सर्वमेव गणयति "**सगुणः...**" इत्यादिना. क्रिया उत्पत्त्यादयः च. स हिरेव।।८४।।

एवम् उक्ते सम्यग् ज्ञानं न भवतीति विशेषं वक्तुम् आह **बुद्धि** इति.

बुद्धिसौकर्यसिद्ध्यर्थं त्रिरूपेणोपवर्ण्यते।।
कारणेन च कार्येण स्वरूपेण विशेषतः।।८५।।

यथा बुद्धिः सर्वं प्रमेयजातं क्रोडीकरोति तदर्थं त्रिरूपेण उपवर्ण्यते. तदैव तरतमभावो भवति।।८५।।

जेसें शब्द प्रमाण हे, तामें हु वेदादिभावकुं प्राप्त भये शब्द ही प्रमाण हें एसें ही सर्व जगद्भावकुं प्राप्त होय रहे एसे हरि–भगवान् ही एक प्रमेय हें. सगुण अपररूप, निर्गुण पररूप तथा सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण रूप तथा महत्तत्वसों लेकें परमाणु पर्यन्त कार्यरूप तथा जाति–गुण–विशेष–समवायादि धर्मरूप; लौकिक–वैदिक क्रियारूप तथा [१]उत्पन्न होनो [२]बढनो [३]परिणामकों प्राप्त होनो [४]क्षीणहोनों [५]नाशकुं प्राप्त होनो इत्यादि [६]भावरूप एक भगवान् ही हें. यासों अन्य शास्त्रमें कहे जे पदार्थ हें उन सबन्को भगवान्में ही अन्तर्भाव हे. तासों शुद्धाद्वैत मत सिद्धभयो।।८४।।

भगवान् ही सर्वरूप हें एसे कहिवेसों अच्छे प्रकार ज्ञान नहिं होय हे. तासों बुद्धिमें जमायवेके अर्थ तीन रूपसों भगवान्को वर्णन करें हे. एक तो मूलस्वरूप, द्वितीय कारणरूप तथा तृतीय कार्यरूप. इन तीन रूपन्सों भगवान्कुं जानिवेसों ही पुराणमें जाको विस्तार कियो एसो जो वेदोक्त, बहुतरूप करकें प्रगट होयवेकी इच्छाको कियो भयो उच्च–नीच भाव हृदयमें जम जावे हे. यासों ब्रह्मवादकी दृष्टिमें सब भगवद्रुप हे तथापि भजन मूलस्वरूपको ही करनों ये बात सिद्ध भई।।८५।।

अष्टाविंशतिभेदास्तु कारणे तत्वभेदतः।।

भगवत्त्वं यतस्तेषां तस्मात् तत्वानि तानि तु।।८६।।

प्रथमे अष्टाविंशतिभेदाः. तेषां च कारणत्वात् 'तत्व'पदवाच्यत्वं च समर्थयति **भगवत्त्वम्** इति।।८६।।

अण्डसृष्टेः पूर्वभावात् कारणत्वं न चान्यथा।।

कारणत्वं न चैवास्ति चिदानन्दांशयोः स्वतः।।८७।।

सच्चिदानन्दभेदेषु सद्भेदाएव एते, चिदानन्दयोः कारणत्वाभावात्. एकस्य फलत्वम् अपरस्य स्वरूपत्वम् इति आह **कारणत्वं न चैवास्ति** इति।।८७।।

आनन्त्यमेव भेदानां तयोः कार्ये तथैव च।।

अतस्तेषान्तु ये भेदा नोक्तास्ते हि विशेषतः।।८८।।

तयोः भेदाः अनन्ताः. तेन विशेषतो न वक्तव्या इति भावः.

कारणरूप भगवान्को स्वरूपवर्णन करें हें. कारण अष्टाविंशति भेदवारो हे. १.प्रकृति २.पुरुष ३.महत्तत्व ४.अहङ्कार ५.रूप ६.रस ७.गन्ध ८.स्पर्श ९.शब्द १०.नेत्र ११.जिह्वा १२.नासिका १३.त्वचा १४.कर्ण १५.मन १६.वाणी १७.हस्त १८.चरण १९.उपस्थ २०.गुदा २१.पृथ्वी २२.जल २३.तेज २४.वायु २५.आकाश २६.सत्वगुण २७.रजोगुण २८.तमोगुणह्न ये अट्ठाईस कारणके भेद हें. इनसों ही तत्व कहें हें. "तस्य भगवतो भावः सामान्यकारणता तत्वम्". भगवान्को कारणरूपसों प्रकट होनों 'तत्व' कहावे हे।।८६।।

ये तत्व ब्रह्माण्डके पहिले प्रकट भये तासों 'कारण' कहावें हें. भगवान् सच्चिदानन्द हें. २८ तत्व भगवान्के कारणरूपके भेद हें. चिद्-आनन्द ये दोनों कोईके भी कारण नहिं हें. अर्थात् तत्वन्सों न्यारे होयकें कोई पदार्थके निमित्तकारण अथवा समवायिकारण नहिंहें।।८७।।

चित्के अनन्त भेद हें. जितनें अनन्तजीव हें वे सब चित्के भेद हें. चित् फलरूप हे. एसें ही आनन्दके हु अनेक भेद हें.

कार्येऽपि भेदानाम् आनन्त्यं, घटादौ तथा दर्शनात्. ननु स्वस्य असामर्थ्याद् एतद् उच्यते, न, इति आह **अतः तेषाम्** इति. अतएव भागवतादौ तेषां सङ्ख्या न उक्ता।।८८।।

तत्वसहभावात् चिदानन्दयोः स्वरूपभूतयोरपि प्रथमपक्षएव निवेशनम् उक्त्वा तृतीयभेदान् आह **स्वरूपे तु** इति.

स्वरूपेततु त्रयो भेदाः क्रिया-ज्ञानविभेदतः।।
विशिष्टेन स्वरूपेण क्रिया-ज्ञानवतो हरेः।।८९।।

क्रियारूपे धर्मे प्रविष्टो धर्मी ब्रह्म द्वितीयः. ज्ञान-क्रियोभययुतः कृष्णः तृतीयइति त्रयो भेदाः. यतः क्रिया-ज्ञानवान् हरिः।।८९।।

अस्य प्रमेयत्वसिद्ध्यर्थं प्रमेयबलविचारेण प्रमाणम् आह

जितने अन्तर्यामी हें वे सब आनन्दके भेद हें. आनन्द हे सो स्वरूपभूत हे. अन्तर्यामीमें ब्रह्मधर्म प्रकट हें तासों अन्तर्यामी स्वरूपात्क ही समुझे जावे हें. वृक्षादि घट-पटादिरूप कार्य हु अनन्त हें. तासों कार्यके भेद नहिं कहे हें।।८८।।

चिद-आनन्दको हु तत्वन्के साथ सहभाव हे यासों इनको शरीरमें प्रवेश हे. तासों तत्वसहित चिद्-आनन्दको कारणकोटिमें ही प्रवेश कहिकें स्वरूपके भेदन्को वर्णन करे हें. स्वरूपके तीन भेद हें. १.वैदिक क्रियारूप धर्ममें प्रविष्टभयो धर्मी स्वरूप 'यज्ञ' शब्दसों प्रसिद्ध हे, २.ज्ञानरूप धर्ममें प्रविष्ट भयो धर्मीस्वरूप 'ब्रह्म' नाम सों प्रसिद्ध हे तथा ३.ज्ञान-क्रिया इन दोनों सहित श्रीकृष्ण तृतीय स्वरूप हे. अर्थात् यज्ञनारायण क्रियावान् परन्तु क्रियामें प्रविष्ट होयके गुप्त रीतिसों विराजे हें. तासों 'क्रिया'शब्दसों ही व्यवहारमें आवे हें. ब्रह्म केवल ज्ञानवारो हे परन्तु ज्ञानमें गुप्तरीत्या प्रविष्ट हे तासों 'ज्ञान'शब्दसों ही व्यवहारमें आवे हे. श्रीकृष्ण तो पूर्णक्रिया तथा पूर्णज्ञानवारेहें।।८९।।

उन क्रिया-ज्ञान विशिष्ट श्रीकृष्णचन्द्रको वर्णन करिवे वारे

विशिष्टे वाचकं गीता श्रीभागवतमेव च।।

केवले काण्डद्वितयं वेदो धर्मः प्रवेशतः।।९०।।

विशिष्टे वाचकम् इति. ननु काण्डद्वयेऽपि क्रिया-ज्ञानं प्रतिपाद्यते, नतु क्रियावान् ज्ञानवान्, तत् कथम् उच्यते एकैकस्मिन् अंशे एकैकं काण्डम् इति? तत्र आह **धर्मप्रवेशतः** इति. क्रियावान् क्रियायां प्रविष्टः अतः क्रियैव प्रतीयते. वस्तुतस्तु क्रियावान्, "यज्ञो वै विष्णुः" (तैत्ति.ब्रा.१।२।५।१) इति श्रुतेः।।९०।।

तत्र हेतुः **तस्यैवोद्भूतहेतुत्वाद्** इति.

तस्यैवोद्भूतरूपत्वात् क्रिया-ज्ञाने अपि स्वतः।।

अविकार्ये विकार्ये तु ह्यध्रुवे कार्यवन् मते।।९१।।

गीता-भागवत हें. तथा केवल क्रियावान् यज्ञात्मक विष्णुको वर्णन करिवेवारो वेदको पूर्वकाण्ड हे. तहां पूर्वकाण्डमें तो क्रियाको वर्णन हे, क्रियावान्को वर्णन नहिं हे एसी शङ्का नहिं करनी. क्योंके आप क्रियामें प्रविष्ट होय रहे हें तासों क्रिया ही प्रतीत होवे हे. वस्तुतः आप क्रियावान् हें. याहीसों "यज्ञो वै विष्णुः" या श्रुतिमें यज्ञभगवान्की विष्णुरूपता लिखी हे. एसें ही उत्तरकाण्ड-वेदान्तमें हु ज्ञानवारे ब्रह्मको ही प्रतिपादन हे. परन्तु ज्ञानरूप धर्ममें प्रविष्ट भयो स्वरूप तो प्रकट नहिं हे, ज्ञान ही प्रकट रहे हे तासों वाकुं ही ब्रह्मरूप मानिकें वर्णन कियो हे. वस्तुतः उत्तरकाण्डमें ज्ञानवान् ब्रह्मस्वरूपको ही वर्णन हे।।९०।।

तहां, लौकिक क्रियासों यज्ञ उत्पन्न होय हे तथा वृत्तिरूप ज्ञानसों ब्रह्मज्ञान होय हे ताकों भगवद्रूपता केसे सम्भव सके? एसो सन्देह नहिं करनो. जेसें वस्त्रकुं दूर करिवेसों ढकी भई वस्तु प्रकट हो जावे हे एसे लौकिक क्रियासों आवरण मात्र दूर होवे हे. तब सर्वदा विद्यमान यज्ञ स्वरूप प्रकट हो जाय हे. एसें ही वृत्तिरूप ज्ञानसों जब आवरण दूर होत हे तब सर्वदा विद्यमान् ब्रह्मस्वरूप प्रकट होत हे. अर्थात् छिपे भये यज्ञरूप तथा ब्रह्मरूप को साधनसों प्रकट होनो

धर्मएव उद्भूतो नतु धर्मी. ननु जन्यत्वात् न तद् भगवत्स्वरूपम् इति आशङ्क्य आह **क्रियाज्ञाने अपि स्वतः** इति. लौकिकक्रियया वृत्त्या च अभिव्यज्येते एव, नतु जन्येते इति अर्थः. तत्र हेतुः **अविकार्ये** इति. तर्हि लोकेऽपि क्रिया-ज्ञानयोः नित्यता स्याद् अत आह **विकार्ये** तु इति. किञ्च कार्यमपि अस्मन् मते अभिव्यक्तमेव. अतो न इदं दूषणम् इति अर्थः।।९१।।

तर्हि लोकतुल्यत्वात् क्रियाज्ञानप्रतिपादनार्थं किं महता वेदेन? इति आशङ्क्य आह **वेदवाच्येतु ये रूपे** इति.

वेदवाच्येतु ये रूपे तदभिव्यक्तितः फलम्।।
अनुष्ठानाद् गुरोर्वापि लौकिके लौकिकं फलम्।।
प्रेमसेवातएव स्याद् विशिष्टव्यक्तिरुत्तमा।।९२।।

तयोः अभिव्यक्तिमात्रेणैव उक्तं फलं भवति. अतः फलार्थं कीर्तनम् इति अर्थः. अभिव्यक्तिहेतुम् आह **अनुष्ठानाद् गुरोर्वापि** इति.

मात्र हे, उत्पन्न होनों नहिं हे. याहीसों वेदको ज्ञान अविकार्य अर्थात् नित्य हे. लौकिक क्रिया-ज्ञान विकार्य अर्थात् अध्रुव हे. यदि वेदके क्रिया-ज्ञानके दृष्टान्तसों इनकों हु नित्य मानें तथापि दूषण नहिं हे. क्योंके हमारे सिद्धान्तमें कार्य हु कारण रूपसों सर्वदा रहे हे. छिपे भये कार्यके प्रकट होयवेकुं ही लोकमें 'उत्पत्ति' कहें हें।।९१।।

तहां, लौकिक क्रिया-ज्ञान तथा वैदिक क्रिया-ज्ञान दोउ ही नित्य हें, तब वेदसों कहा प्रयोजन हे? एसी शङ्का नहिं करनी.

लौकिक क्रिया-ज्ञानसों तो लौकिक कार्यकी सिद्धि होय हे. वेदोक्त क्रिया-ज्ञानसों यज्ञ तथा ब्रह्म को प्रकट होनो फल हे. तासों वेदकी आवश्यकता हे. पूर्वकाण्डमें क्रियाके अनुष्ठानसों क्रियाविशिष्ट यज्ञस्वरूपको प्रादुर्भाव होत हे, उत्तरकाण्ड-वेदान्तमें परिचर्या करके प्रसन्न भये गुरुके अनुग्रहसों ज्ञानविशिष्ट ब्रह्मस्वरूपको प्रादुर्भाव होय हे.

गुरोः उत्तरकाण्डे लौकिकेऽपि क्रिया-ज्ञानयोः सफलत्वात् को विशेषः? इति आशङ्क्य आह **लौकिकं फलम्** इति. अन्यतः फलसिद्धिः इति अर्थः. विशिष्टाभिव्यक्तौ हेतुम् आह **प्रेमसेवात** इति. 'भक्ति'शब्दस्य प्रत्ययार्थः प्रेम, धात्वर्थः सेवा, "भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति" इति वाक्यात् "पश्यन्ति ते मे" (भाग. पुरा.३।२५।३५) इति च. विशिष्टस्य कृष्णस्य कृतार्थत्वज्ञापनाय अभिव्यक्तिः उत्तमा, नतु दैत्यवधार्थमिव।।९२।।

ननु क्वचित् षोडश पदार्थाः, क्वचित् सप्त, तथा त्वयाऽपि कार्येषु कथं न भेदाः कल्प्यन्ते इति आशङ्क्य आह **कार्यभेद** इति.

कार्यभेदविभेदान् हि कल्पयित्वा विभागशः।।

वृथा शास्त्रप्रवृत्तिर्हि यस्मात् कार्यमतिर्वृथा।।९३।।

"मुख्यमेकं पृथक्कृत्य साधनानां न्निरूपणम्, युक्तं न तुल्यसङ्ख्या हि फल-कारणयोः क्वचित्". अतः अत्र हरिं पृथक्कृत्य तत्वान्येव कारणत्वेन

पूर्ण क्रिया-ज्ञान विशिष्ट श्रीकृष्णचन्द्रको प्रादुर्भाव तो प्रेम सहित देहेन्द्रियादिकन् करकें सेवा करिवेसों ही होय हे. प्रेम सेवासों जो श्रीकृष्णको प्रादुर्भाव होय हे सो भक्तकुं कृतार्थ करिवेके अर्थ ही होय हे, वो प्रादुर्भाव दैत्यवधार्थ नहिं हे. प्रेमसवाको ही नाम 'भक्ति' हे. तथा देह इन्द्रियन् सों जो भगवान्की परिचर्या करनों वाहीसों 'सेवा' कहें हें. या विषयको 'आवरणभङ्ग'में विस्तार लिख्यो हे सो अवश्य जानिवे योग्य हे।।९२।।

शङ्काः कहुं षोडश पदार्थ तो कहुं सप्तदश पदार्थ मानें हें. या प्रकार भगवान्सों अतिरिक्त सब पदार्थकों कार्य मानिकें कार्यके अनेक भेद बताये हें. आपनें वा रीतिसों क्यों नहिं वर्णन कियो?

उत्तरः कार्यकुं ब्रह्मसों अतिरिक्त मानिके वामें सात पदार्थकी कल्पना करके उन सात पदार्थन्मेंसो एक-एकके अनेक पृथिव्यादिक तथा शब्दादिकके भेद कहिकें उनमें नित्यानित्य विचार करिकें

कथितानि. नतु एकीकृत्य शास्त्रान्तरवत् निरूपितानि।।९३।।

तत्वानि गणयति **सत्वम्** इति **मनः षड्** इति अन्तेन.

सत्वं रजस्तमश्चैव पुरुषः प्रकृतिर्महान्।।
अहङ्कारः पञ्चमात्रा शब्द-स्पर्शाकृती रसः।।९४।।
गन्धो भूतानि पञ्चैव खं वायुर्-ज्योति-रप्क्षितिः।।
क्रियामयानीन्द्रियाणि वाग्दोर्मेण्ढ्राङ्घ्रिपायवः।।
श्रोत्रं त्वग्-घ्राण-दृग्-जिह्वा मनःषडितिभेदतः।।९५।।

मनसः क्रियामयत्वं ज्ञानमयत्वं च आह **भेदत** इति. मनसा सह क्रियायां षड् इति।।९४-५।।

देवतावर्गेण अधिकसङ्ख्याम् आशङ्क्य परिहरति **आध्यात्मिकस्तु** इति.

आध्यात्मिकस्तु यः प्रोक्तः सोऽसावेवाधिदैविकः।।

''इतनें ही पदार्थ हें, इनके ज्ञानसों मोक्ष होय हे'' या प्रकारकी जो शास्त्रकी रचना हे सो वृथा हे. क्योंके 'वाचारम्भण' श्रुतिमें कार्यबुद्धि फलजनक नहिं हे ये बात सूचित करी हे. कार्यकी सत्यता हु कारणरूपता करके ही कही हे. तासों या ग्रन्थमें भगवत्स्वरूपको पृथक् वर्णन करके तत्वन्कुं ही जगत्के कारण बताये हें, अन्य शास्त्रकी तरह तत्वन्मेंही मूलस्वरूप सम्मिलित नहिं राख्यो हे।।९३।।

अब भगवान्के सिद्धान्तके अनुसार तत्वन्की गणना करें हें: १.सत्वगुण २.रजोगुण ३.तमोगुण ४.पुरुष ५.प्रकृति ६.महत्तत्व ७.अहङ्कार ८.शब्द ९.स्पर्श १०.आकृति ११.गन्ध १२.रस १३.आकाश १४.वायु १५.तेज १६.जल १७.पृथ्वी १८.वाणी १९.हस्त २०.मेंढ्र २१.पाद २२.पायु २३.कर्ण २४.त्वचा २५.घ्राण २६.दृष्टि २७.जिह्वा तथा २८.मन ये अट्ठाईस तत्व हें।।९४-५।।

पुरुषादि पच्चीस तत्वके लक्षण तृतीयस्कन्धमें लिखे हें. तीनों गुणन्के लक्षण ''तत्र सत्वं निर्मलत्वात्'' (भग.गीता.१४।७) इत्यादि गीतावाक्यमें

अतो हि देवतावर्ग इन्द्रियेभ्यो न भिद्यते।।९६।।

माय भिन्ना इति आशङ्क्य आह **मायातु** इति.

मायातु गुणरूपा हि कालस्तु भगवान् परः।।

सूत्रं महांस्तथा प्राणो बुद्धिश्चाहमभेदतः।।९७।।

कालस्तु भगवति अन्तर्भूतः. सूत्रन्तु महत्तत्वमेव. तथा प्राणो बुद्धिश्च अहङ्कारएव तस्मात् अष्टाविंशतिसङ्ख्यकान्येव।।९७।।

अक्षर-काल-कर्म-स्वभावान् निरूपयन् प्रथमम् अक्षरम् आह **प्रकृतिः पुरुषश्च** इति.

लिखे हें. मन क्रियामय हे तथा ज्ञानमय हु हे. दिशा, वायु, सूर्य, प्रचेता, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र तथा मित्र ये दश इन्द्रियन्के देवता हें. ‘‘वह्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्’’ इत्यादि श्रुतिमें देवताको ही इन्द्रियरूप हो जानों लिखे हें. तासों आध्यात्मिकके साथ आधिदैविकको अभेद मानके इन्द्रियन्में ही इन्द्रियन्के देवतान्को अन्तर्भाव होवे हे।।९६।।

‘‘दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया’’ (भग.गीता७।१४) इत्यादि वाक्यसों मायाको तीनों गुणन्में अन्तर्भाव हे. ‘‘सत्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः, स्थिति-सर्ग-निरोधेषु गृहीता मायया विभोः’’ (भाग.पुरा.२।५।१८) इत्यादि वाक्यानुसार जब भगवान् सृष्टिकी इच्छा करें हें तब अपनी सामर्थ्यरूप मायाकों अपने गुणन्में डारदें हें. तासों वो माया ‘गुणमयी’ कहावे हे. ‘‘स भगवान् काल इत्युपलक्ष्यते’’(तत्रैव३।२६।१७) इत्यादि वाक्यन्सों काल भगवद्रुप हे. तासों कालकी तत्वन्में गणना नहिं हे. सूत्रात्मक प्राणको महत्तत्वमें अन्तर्भाव हे. प्राण तथा बुद्धि को अहङ्कारमें अन्तर्भाव हे।।९७।।

अक्षर-काल-कर्म-स्वभाव इन चारकी हु तत्वन्में गणना होनी चहिये क्योंके तत्वन्के समान येहु ब्रह्माण्डके पूर्व प्रकट भये हें तथा इनके कार्यहु परिणामादिक प्रत्यक्ष हें. या शङ्काको दूर करिवेके अर्थ इनके स्वरूपको वर्णन करते भये प्रथम अक्षरको वर्णन करें हें‘प्रकृतिः’इति.

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्माऽभवत् पुरा।।
यद् रूपं समधिष्ठाय तदक्षरम् उदीर्यते।।९८।।

भगवान् यदा येन रूपेण कार्यं कर्तुम् इच्छति तद्रूपमेव व्यापारयति. तत्र ज्ञानेन मोक्षो देय इति यदा विचारयति तदा अक्षरमेव ब्रह्मस्वरूपं पुरुषोत्तमस्य आधारभागः चरणस्थानीयः, तम् आदौ चतुर्मूर्तिकरोति. अक्षररूपं, ब्रह्मरूपं, कालरूपम्, स्वभावरूपं च. तत्र यस्य रूपस्य द्वैरूप्यं भवति प्रकृति-पुरुषभेदेन तद् अक्षरम्।।९८।।

ननु पुरुषोत्तमस्वरूपात् तत्र को विशेषः? इति चेत्, तत्र आह **आनन्दांशतिरोभाव** इति.

आनन्दांशतिरोभावः सत्वमात्रेण तत्र हि।।
मुख्यजीवस्ततः प्रोक्तः सृष्टीच्छावशगो हरिः।।९९।।

"अग्रे अहम् एवं भविष्यामि" इति इच्छामात्रेण अन्तःसमुत्थितसत्वेन आनन्दांशः तिरोहितइव भवति. तेन सृष्टीच्छया व्यापृतो भगवान् 'मुख्यजीव'शब्दवाच्योऽपि भवति. अतएव औडुलोमिमते जीवानां चिद्रूपाणां चिद्रूपे स्वयोग्ये ब्रह्मणि प्रवेशः।।९९।।

भगवान् जा स्वरूप करकें कार्य करनो चाहें हें वा रूपकुं ही व्यापृत अर्थात् विस्तारयुक्त करें हें. जब भगवान् ज्ञानसों मोक्ष देनो चाहे हें तब पुरुषोत्तम भगवान् अपने चरणस्थानीय आधारभागके चार स्वरूप करें हें. १.अक्षरस्वरूप २.कालरूप ३.कर्मरूप तथा ४.स्वभावरूप. इन चार मूर्तिन्में अक्षर दो रूपवारो हेः १.प्रकृति तथा २.पुरुष. ये दोनों अक्षरके रूप हें. पुरुषोत्तमके स्वरूपसों इनमें इतनी विलक्षणता हे. आगे "में जगद्रूप होऊंगो" एसी इच्छामात्रसों बढ्यो भयो जो सत्व ता करकें आनन्दांश "तिरोहित इव" छिपे भयेके समान गुप्त हो जाय हे. तासों सृष्टि उत्पन्न करिवेकी इच्छासों व्यापारवारे भगवान् 'मुख्यजीव' शब्दवाच्य होवे हें. याहीसों औडुलोमिके मतमें चिद्रूप जीवन्को चिद्रूप ब्रह्ममें ही प्रवेश लिख्यो हे. अर्थात् सृष्टी करकें व्यापरवारे ब्रह्मको आनन्द तिरोहित होय रह्यो हे तासों चिद्रूप ब्रह्ममें ही लय लिख्यो हे।।९९।।

ननु आनन्दांशतिरोभावे जीवत्वमेव स्यात्. यथा महदादीनाम् इति आशङ्क्य आह इच्छामात्राद् इति.

इच्छामात्रस्तिरोभावस् तस्यायमुपचर्यते।।

ब्रह्मकूटस्थाव्यक्तादिशब्दैर्वाच्यो निरन्तरम्।।१००।।

इच्छायां प्रविष्टायां कार्यव्यापृत्या तिरोभावइव उच्यते. वस्तुतस्तु आनन्दमयएव. अतएव पुरुषः अवतारो भविष्यति. इच्छारूपायाः प्रकृतेः भिन्नत्वे वाचकैरपि तस्य न जीवत्वम् इति अभिप्रायेण आह ब्रह्म इति. 'आदि'शब्देन 'असत्–तमः'शब्दादयो गृह्यन्ते. तथापि न पुरुषोत्तमाद् भिन्नतया व्यवस्थितिः, किन्तु निरन्तरमेव।।१००।।

तस्यैव कारणत्वं ज्ञापयितुं तत्रैव कार्यस्थितिम् आह**सर्वावरणयुक्तानि** इति.

सर्वावरणयुक्तानि तस्मिन् अण्डानि कोटिशः।।

मूलाविच्छेदरूपेण तदाधारतया स्थितः।।१०१।।

"तदाहुः अक्षरं ब्रह्म" (भाग.पुरा.३।११।४१) इतिवाक्यात्. एतस्य अक्षरस्य पुरुषोत्तमे अभेदेन यथा निवेशः तथा प्रकाराः उच्यन्ते. तद् आह **मूलाविच्छेद** इति.

आनन्दांशको सर्वथा तिरोभाव नहिं होय हे किन्तु तिरोहितके समान होत हे. वस्तुतः आनन्दमय ही हे. ताहीसों आगे अक्षरसों पुरुषावतार होय हे. सर्वथा ही जो आनन्दको तिरोभाव होय तो महत्तत्वाहङ्कारके समान अक्षर हु जड़ ही होय जाय. बहुरूप होयवेकी इच्छा सघन होयकें पृथक् स्थित होय हे वाको ही नाम 'प्रकृति' हे. अक्षरब्रह्म जीव नहिं कहावे हे. ब्रह्म कूटस्थ, अव्यक्त आदि शब्दन्सों कह्यो जाय हे. सृष्टिकी आदिमें "सदेवेदमग्र आसीत्. असदेवेदमग्र आसीत्. तमेवेदमग्र आसीत्" (छान्दो.उप.३।१९।१, ६।२।१) इत्यादिकन्में 'असत्' 'सत्' 'तम' आदि शब्दन्सों हु अक्षरहीको ग्रहण करनो।।१००।।

अक्षर हे सो पुरुषोत्तमसों न्यारो होयके स्थित रहे हे. वो अक्षरब्रह्म ही जगत्को कारण हे. वामें ही कार्य रहे हे. अर्थात् पृथ्वी–जलादिकन्के मूलेन पुरुषोत्तमेन सह अविच्छिन्नतया तिष्ठति, नतु कार्यत्वेन इति आह **तदाधारतया** इति. एषा स्थितिः सर्वदा।।१०१।।

कदाचित् पुनः पुरुषोत्तमः चेद् आविर्भवति तदा अक्षरमपि बहुधा भवति इति आह **प्रभुत्वेन** इति.

प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ लोकत्वेन तदुद्भवः।।

अन्तर्याम्यवतारादिरूपे पादत्वमस्य हि।।१०२।।

प्रभुः वैकुण्ठवासी, लोको वैकुण्ठः. जीव-जड़ाकारेण प्रादुर्भवति इति अर्थः. अतएव वैकुण्ठवासिनो मुक्ताः. ततोऽपि पुरुषोत्तमो महान्. अतएव अभेदश्च अस्मदादीनाम् इति वाक्यं सङ्गच्छते. अन्तरुपासनायाम् अन्तर्यामिरूपेण प्रकटो भवति. तदा सद्योमुक्तौ ज्ञानिनः तच्चरणारविन्दमेव प्रविशन्तीति अक्षरस्य पादत्वम्. तथा अवतारेऽपि. "चैद्ये च सात्वतपतेश्चरणं प्रविष्टः"(भाग.पुरा.१०।७५।८) इति. 'आदि'शब्देन आधिदैवादिरूपेष्वपि।।१०२।।

आवरण सहित क्रोडन् ब्रह्माण्ड वा अक्षर ब्रह्ममें स्थित रहे हें. वो अक्षरब्रह्म मूल पुरुषोंत्तममें अभेद सम्बन्धसों रहे हे।।१०१।।

वामें प्रकार दिखावें हें. पुरुषोत्तमको सर्वदा आधारकरकें अक्षर स्थित रहे हे. जब पुरुषोत्तम प्रकट होवे हें तब अक्षरब्रह्म हु बहुत प्रकारको होवे हे. अर्थात् प्रभु वैकुण्ठमें निवास करें हें तब अक्षरब्रह्म वैकुण्ठलोकरूप तथा वैकुण्ठके जड-जीवरूप होयकें प्रकट होय हे. याहीसों वैकुण्ठवासी जीव मुक्त कहे जावे हें. पुरुषोत्तम तो अक्षरसों हु बडे हे. याहीसों "अभेदश्चास्मदादीनाम्" इत्यादि वाक्य सङ्गत होय हे. उपासना करिवेसों जब अन्तर्यामीरूपसों प्रकट होय हें तब ज्ञानीको आपके चरणारविन्दमें प्रवेश होवे हे.

अक्षरब्रह्म आपके चरणरूप हे एसें ही अवतार धारण करे हे तबहु अक्षरब्रह्म आपके चरणरूप ही रहे हे. आधिदैविकरूपन्में हु अक्षरब्रह्म पादरूप रहे हे।।१०२।।

हंसाकृतित्वकथने पुच्छत्वं परमात्मनः।।

तदुपासनाया ज्ञानत् परमात्मत्वमस्य हि।।१०३।।

आनन्दमयनिरूपणे हंसाकृतित्वकथनम्. तत्र "ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा" (तैत्ति.उप.२।५) इति ब्रह्माक्षरम् आनन्दमयस्य पुच्छम् इति निस्सन्देहाय 'परमात्म'पदम्. एवम् अनेकभावापन्नमपि ज्ञानमार्गे अक्षरत्वेनैव सेव्यम् इति आह **तदुपासनया** इति. प्रथमतः तस्यैव निदिध्यासनेन यत् ज्ञानम् उत्पद्यते तेन अस्य अधिकारिणः परमात्मत्वमेव, नतु अक्षरमात्रता इति भगवद्वचनाद् अवगम्यते. "ते

प्राप्नुवन्ति मामेव'' (भग.गीता) इति 'हि'शब्दार्थः. भक्तिमार्गेतु आरम्भतएव परमानन्दः. ज्ञानमार्गेतु अन्ततः इति विशेषः।।१०३।।

ज्ञानमार्गे त्वेतदेव सेव्यं कृष्णस्ततोऽधिकः।।
रूपान्तरन्तु तस्यैव सर्व सामर्थ्यसंयुतम्।।१०४।।

तथापि ज्ञानमार्गे अक्षरमेव सेव्यम्. एवम् अभेदेऽपि वैलक्षण्यं निरूप्य यदर्थम् एतन् निरूपितं तद् आह **कृष्णः ततोऽधिकः** इति. ''अक्षरादपि चोत्तमः'' (भग.गीता१५।१८) इत्यादिवाक्यं समर्थितं भवति. तस्यैव रूपान्तरं

वेद हु आनन्दमय परब्रह्मको जहां हंसरूपसों वर्णन करें हें तहां ''ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा'' (पूर्ववत्) या श्रुतिमें आनन्दमय परब्रह्मरूप हंसकी पूंछकुं अक्षरब्रह्मरूप बतायो हे. एसें अक्षरब्रह्म अनेकरूप हे तथापि ज्ञानमार्गमें तो अचिन्त्य अर्थात् जाको विचार करिवेमें नहिं आय सकेंह्नजाको वर्णन नहिं कर सकें एसें रूपसों ही अक्षरब्रह्मकी उपासना करें हें. उनकुं क्लेश अत्यन्त होत हे. जब उपासनासों ज्ञान होय हे तब परमात्माकुं प्राप्त होवे हे. भक्तिमार्गमें तो आरम्भ दशासों ही परमानन्द हे, ज्ञानमार्गमें अन्तमें हे।।१०३।।

ज्ञानमार्गमें अक्षरकी उपासना हे. भक्तिमार्गमें अक्षरसों उत्तम पुरुषोत्तमकी सेवा हे. ''अक्षरादपि चोत्तमः'' (भग.गीता१५।१८) या गीताके वाक्यमें अक्षर ब्रह्मसों हु पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रकुं अधिक बताये हें. अक्षरके स्वरूपको निरूपण करिके कालको स्वरूप बतावें हें 'रूपान्तरम्' इति.

कालः इति आह **रूपान्तरम्** इति. तस्य रूपान्तरत्वे हेतुम् आह **सर्वसामर्थ्यसंयुतम्** इति. सर्वाकारेण भवनातिरिक्तं यावत् किञ्चित् सामर्थ्यं मायाया विशेषः तत्संयुतम्. तेन अस्य सर्वाधिकारित्वं निरूपितम्।।१०२-४।।

तस्य रूपम् आह **चिदानन्दतिरोभावः** इति.

चिदानन्दतिरोभावः तदनुद्गमएव च।।
ईषत्सत्वांशप्राकट्यं बहिरन्तस्तु सर्वतः।।१०५।।
चिदानन्दावपि तथा स कालः सकलोद्भवः।।

क्रियाशक्तिप्रधानत्वान्नित्यगः सकलाश्रयः।।१०६।।

सच्चिदानन्दरूपेषु द्वयः अस्तु स्वेच्छया तिरोभावः. उपासनायाम् अन्यथाकरणाभावाय आनन्दांशस्य सर्वथा अनुद्गमः. सजातीयत्वेन जीवसङ्कोचाभावाय चिदंशस्यापि अनुद्गमः. जडादपि वैलक्षण्यम् आह **ईषत्सत्वांशप्राकट्यम्** इति. व्यवहारे सर्वानुभवसम्भवेऽपि सर्वाप्रत्यक्षत्वात्. तर्हि आकाशतुल्यता स्याद्? इति आशङ्क्य आह **अन्तस्तु सर्वतः** इति. स बहिर्मुखाणां बहिर्व्यवहारे पूर्वोक्तप्रकारएव. ज्ञानिनान्तु सच्चिदानन्दरूपो भगवानपि कदाचित् तद्रूपो भवति इति. अतः सच्चिदानन्दरूपः अन्तःप्रकटः.

काल हे सो अक्षरब्रह्मको ही एक रूप हे. सर्वरूप होयवेकी तो सामर्थ्य नहिं हे. तथा ब्रह्मकी सब सामर्थ्य कालमें हे यासों ब्रह्मके सब प्रकारके अधिकारवारो काल हे ये बात सिद्ध भई।।१०४।।

परन्तु कालमें ईश्वरेच्छासों चैतन्य-आनन्दको तिरोभाव हे. जड पदार्थसों हु काल विलक्षण हे. जडमें सत् प्रकट रहे हे, यामें सत् हु थोडो प्रकट रहे हे. तासों महीना, वर्ष, दिन, प्रहर, घड़ी, पल आदि रूपन्सों काल व्यवहारमें हु आवे हे परन्तु कोई पुरुषके प्रत्यक्ष नहीं होय हे. ''योन्तर्धावति जन्तुषु'' (भाग.पुरा.३।३२।३७)इत्याद्यनुसार जो सबके भीतर रहे हे. बाहिर जिनकी इन्द्रियन्की वृत्ति हे उनकुं बाहिर कालको अनुभव होय हे परन्तु प्रत्यक्ष नहिं होय हे. सच्चिदानन्दरूप भगवान् हि कालरूप होवें हें तासों ज्ञानिन्कुं तो कालके भीतर सत्-चित्-आनन्द तीनों प्रकटदीखेहें.

तस्य प्रयोजनम् आह सकलोद्भवः इति. सकलस्य उद्भवो यस्मात्. तस्य परमार्थदर्शने कार्यसिद्धिः न भविष्यतीति भगवान् तं क्रियाशक्तिप्रधानमेव कृतवान्. अतः **सकलोद्भवहेतुः**. नित्यगश्च चलनैकस्वभावः. तथा सति सर्वनियामकं न भविष्यतीति विशेषम् आह सकलाश्रयः इति. सर्वं जगत् स्वस्मिन् स्थापयित्वा निरन्तरं गच्छति. अतएव नित्यप्रलयसिद्धिः।।१०५-६।।

कृष्णस्य इदं सामर्थ्यम्. तच्च पुरुषोत्तमः अक्षरातिरिक्तएव इति आह **विकृतावेव** इति.

विकृतावेव तच्छक्तिः सर्वोत्पत्त्यन्तभावनः।।
ऐश्वर्यं भगवद्दत्तं तत्रैव प्रतितिष्ठति।।१०७।।

विकृतौ किं करोति? इति आकाङ्क्षायाम् आह सर्वोत्पत्त्यन्तभावनः इति. केचिद् अस्यैव ईश्वरत्वम् आहुः, केचिद् अन्तर्यामिणः. तत्र अस्य ईश्वरत्वे हेतुम् आह **ऐश्वर्यं भगवद्दत्तम्** इति. मुख्यः अयम् अधिकारी.

ये काल क्यों बनायो? उत्तरः काल पुरुषोत्तमकी क्रियाशक्तिरूप हे. ताहीसों भागवतमें कालकुं पुरुषोत्तमकी चेष्टारूप लिख्यो हे. समस्त जगत्के उत्पन्न होयवेमें ये काल निमित्तकारण हे. याके देखिवेसों कछु सिद्ध नहिं होय हे. किन्तु अर्जुनके तुल्य कालरूप देखिवेसों भय मात्र ही होय. तासों क्रियाशक्ति मात्र यामें प्रधान राखी हे. ताहीसों सबको निमित्तकारण हे. ओर 'नित्यगः'=चलवेको याको स्वभाव हे. सदा चलतो ही रहे हे. तथा सबको नियामक हे. सर्व जगत्कुं अपने भीतर धरके आप सदा चलतो रहे हे. ताहीसों नित्यप्रलयकी हु सिद्धि हे. सबको लय करे हे।।१०५-६।।

ये कालमें कृष्णकी सामर्थ हे. विकार जितनो हे सो सब कालशक्तिको कियो हे. सब पदार्थके उत्पत्ति-नाशमें निमित्त काल हे. कितनेक तो कालकुं ही ईश्वर मानें हे, कितनेक अन्तर्यामीकुं ईश्वर माने हें. तहां, काल ईश्वर केसे होय सके? ये शङ्का नहिं करनी. भगवान्ने कालकुं ईश्वरता दीनीं हे सो सर्वदा कालमें ही रहे हे।।१०७।।

अतएवेश्वरः प्रोक्तः सर्वान्तर उदीरितः।।
आसुरादिमतेतस्मान्नान्यः सेव्यः कथञ्चन।।१०८।।

तेन सर्वापेक्षया भगवत्सेवकेषु अयम् अन्तरङ्गः. अस्य महत्त्वाय सेवकान् उपासनाप्रकारं च आह **आसुरादिमते तस्माद्** इति।।१०८।।

मुख्याधिकारी कृष्णस्य प्रभुवत् फलसाधकः।।
सूर्यगत्या तु तद्भेदाः सूर्यस्तस्याधिभौतिकम्।।
आध्यात्मिकन्तु तद्भेदाः क्वचिदिच्छाऽपि भेदिका।।१०९।।

तस्य अन्यथाकरणं व्यावर्तयति **प्रभुवत् फलसाधकः** इति. तस्य परिज्ञानार्थं तद्भेदान् आह **सूर्यगत्या** इति. तस्याऽपि आध्यात्मिकादिरूपम् अस्ति इति आह सूर्यः इति. आधिभौतिकं रूपं तस्य **सूर्यः**. आध्यात्मिकं युगादिः. रात्रौ युगाद्यभावात् भेदसिद्ध्यर्थम् आह **क्वचिद् इच्छापि** इति।।१०९।।

एवं कालं निरूप्य कर्म निरूपयति **विधिषेधप्रकारेण** इति.

विधिषेधप्रकारेण यः क्रियाशक्तिरुद्गतः।।
तत्कर्म प्रगटं तावत् यावत् फलसमापनम्।।११०।।

जेसें राजा मुख्य अमात्यकुं छत्र-चमर-गजादि देवे हें एसें ही भगवान्को मुख्य अधिकारी काल हे. जितने अधिकारी देवता हें उन सबन्की अपेक्षा ये अन्तरङ्ग हे. असुरलोग कालकुं ही ईश्वर माने हें. ईश्वरके तुल्य काल उनकुं कृष्णेच्छाके अनुसार फल हु देत हे।।१०८।।

कालके ज्ञान होयवेके अर्थ कालके भेदन्कुं कहे हें. 'सूर्यगत्यादि' इति. सूर्यकी गतिसों याके भेद ज्ञात होय हे. कालको आधिभौतिक रूप सूर्य हे. कालको आध्यात्मिक रूप सत्ययुग, त्रेता, द्वापर आदि युग; परमाणुसों लेयके घड़ी, प्रहर, महिना, वर्ष तथा ब्रह्माकी आयुष्य तक हे. कहुं-कहुं भगवान्की इच्छा हु कालको भेद करदे हे. जेसें रात्रिको विभाग इच्छाकृत हे।।१०९।।

कर्मको निरूपण करें हें 'विधिषेध' इति. कर्म हु अक्षरको ही

''रूपान्तरन्तु तस्यैव'' इति अनुवर्तते. यथा कालो रूपम् अक्षरस्य तथा कर्माऽपि. परम् एतावान् विशेषः. कालः स्वतएव प्रकटः, अयन्तु पुरुषैः विधि-निषेधप्रकारेण प्रकटीक्रियते. अतः कालापेक्षया लोकानां हिताहितप्रदाने विशिष्यते. अयञ्च क्रियारूपः, धर्मिणो धर्मे प्रवेशात्. कालवत् न स नित्यप्रकटः, किन्तु फलदानपर्यन्तमेव इति आह यावत् फलसमापनम् इति।।११०।।

तस्य प्रतिपुरुषं भेदो भविष्यति इति आशङ्क्य आह **तदेकं भगवद्रूपम्** इति.

तदेकं भगवद्रूपं साधारण्येन सर्वगम्।।

अग्र-पश्चाद्भावभेदा द्विधा प्रकटमुच्यते।।१११।।

व्यापकं तद्रूपं तथापि येन यावद्रूपं विधिप्रकारेण निषेधप्रकारेण वा प्रकटीक्रियते तस्य तावत् फलं दत्वा तदंशेन तिरोभवतीति साधारण्येनापि सर्वसम्भवात् न प्रतिकर्मव्यवस्था इति अर्थः.

एक रूपान्तर हे. जेसें काल हे तेसें ही हे. परन्तु इतनों भेद हेः काल स्वतः प्रकट होवे हे, कर्मकुं विधि-निषेधके प्रकारसों पुरुष प्रकट करे हे. कालकी अपेक्षा लोकन्कें हित-अहित करिवेमें कर्मकी विशेषता हे. करिवे वारे पुरुषकुं खोटो कर्म दुःख देत हे, अच्छो कर्म सुख देत हे. कर्म हु क्रियारूप हे।।११०।।

यामें धर्मरूप भगवान्को प्रवेश होय तब कर्मफल देय हे. कालके समान कर्म सदा प्रकट नहिं रहे हे. करिवेवारेकुं फल नहिं मिले तहां तांई कर्म प्रकट रहे हे फिर लुप्त हो जाय हे. कर्म व्यापक हे तथा एक हे. विधिके द्वारा अथवा निषेधसों जा पुरुषसों कर्मको जितनो अंश प्रकट कियो जाय हे वितनो अंश प्रकट होयके वाकुं वितनो ही फल देके लुप्त हो जाय हे. तासों साधारण रीतिसों एक ही कर्मसों सब कार्य होय हे. जीव-जीवके साथ न्यारे-न्यारे कर्म नहिं माननें.

तर्हि एकः कथं युगपत् सुख-दुःखे प्रयच्छति ? इति आशङ्क्य आह **अग्रपश्चाद् भावभेदाद्** इति.।।१११।।

तस्य एकत्वे प्रमाणम् आह **सृष्टौ साधारणम्** इति.

सृष्टौ साधारणं तद्धि स्वांशेन प्रकटं यथा।।

कालवत् सकलं रूपम् अङ्गं तद्वशगं तथा।।११२।।

"कालं कर्म स्वभावं च" (भाग.पुरा.२।५।२१) इति वाक्यात् सृष्टिकाले यादृशं रूपं तेन परिच्छेद्यं सएव अंशः प्रकटः. अस्यापि चिदानन्दतिरोभावादिः कालवदेव इति आह **कालवद्** इति. विशेषम् आह **तद्वशगम्** इति. यत्र यः कालवशे भवति तमेव व्याप्नोति, नतु अन्यम् इति अर्थः।।११२।।

कर्म एक हे तो एक साथ कोई प्राणिकुं दुःख तथा कोईकुं सुख केसे दे सके हे? एसी शङ्का नहीं करनी. जा कालमें कोई पुरुषनें सुकर्म प्रकट कियो वाही

कालमें दूसरे पुरुषनें निषिद्ध कर्म कियो, तासों प्रकारमें अग्र-पश्चाद्भावको भेद हे. फेरि एक ही कालमें प्रकट भयो कर्म पुरुषभेदसों सुख-दुःख दे हे. तहां सृष्टिप्रारम्भमें तो विधि-निषेधको प्रकार हतो ही नहीं तासों कर्म हु वा समय प्रकट नहिं भयो होयगो फिर विना कर्म महत्ततत्वादिकन्की उत्पत्ति केसे भई? ये शङ्का नहिं करनी. क्योंके वा समय साधारण कर्म विद्यमान हतो. अर्थात् जेसें काल हे सो भगवान्की इच्छासों तीनों गुणन्की समताकों मेट करके सृष्टिके प्रारम्भ समयमें रजो गुणकुं बढाय देत हे एसें साधारण कर्म हु भगवान्की इच्छा करकें महत्तत्त्वादिकन्को परिच्छेद करिवेकुं वितने अंश करके प्रकट होय हे।।१११।।

कालके समान कर्ममें हु चित्, आनन्द आदिको तिरोभाव हे. कालके समान ही एक होयके व्यापक हे. ओर कालके जो वश होय रह्यो होय वाकुंही कर्म व्याप्त कर सके हे, अन्यकुं नहिं व्याप्त कर सके हे।।११२।।

एवं कर्म निरूप्य स्वभावं निरूपयति इच्छामात्र इति.

इच्छामात्रप्रकटनं सर्वथा तत् तिरोहितम्।।
सर्ववस्त्वाश्रितं पश्चात् स्वभावोऽयं हरेस्तनुः।।११३।।

भगवदिच्छारूपेण प्रकटो भवति, न सच्चिदानन्दरूपेण. तस्य स्वरूपं व्यवहारोपयोगि आह **सर्ववस्त्वाश्रितम्** इति. तद्रूपं जगदाधारं स्वांशभेदेन तत्र तिष्ठतीति तत्रापि न लीनः. नापि वस्तुनः पश्चाद्भागे तिष्ठति किन्तु पश्चाद्भागे सर्वं स्थापयित्वा स्वयमेव प्रकटो भवति. यथा स्वभावदुष्टानां ज्ञानादिकं तिरस्कृत्य स्वरूपेण प्रकटः. तद् आह **पश्चाद्** इति. एतस्य कार्यवत् स्वरूपं मा भवतु इति आह **हरेस्तनुः** इति।।११३।।

[या प्रकारसों कर्मको निरूपण करिके अब] स्वभावको वर्णन करें हें 'इच्छामात्रण' इति. स्वभाव हे सो सच्चिदानन्दरूप करकें नहिं प्रकट होय हे किन्तु भगवान्की इच्छारूप करकें प्रकट होय हे. स्वभावमें सत्-चित्-आनन्दको सर्वथा तिरोभाव हे. अर्थात् पदार्थन्कुं (परिणाम) बदलवेवारी जो भगवदिच्छा वाहीसों 'स्वभाव' कहे हें. वो स्वभाव सब पदार्थन्में रहे हे. दूधको दधि बन जावे हे, दूधको तेल नहिं बन जावे. तथा मृत्तिकासों पट नहिं बने, घटही बने हे. डोरान्सों

घडा नहिं बने, कपडा ही बने हे. यामें भगवान्की इच्छा ही कारण हे. मयूरमें चित्र विचित्र रङ्ग हो जावे हें, हंस सपेत हो जावे हे इत्यादि परिणामको कारण स्वाभाव ही हे. स्वभाव इच्छारूप करकें प्रकट होय जावे हें. जेसें बुद्धि विज्ञानरूप करके प्रकट होय जावे हे, काल निराधार हो करकें भूत-भविष्यत्-वर्तमानादि व्यवहारको उपयोगी हे, कर्म चेतनको आधार होयके व्यवहारको उपयोगी हे एसे स्वभाव हे सो चेतन-अचेतन सब पदार्थन्को आधार हे. अंशन् करके एक-एक वस्तुको हु आधार हे. ओर स्वभाव हे सो वस्तुके पीछे अथवा वस्तुमें लीन नहिं रहे हे किन्तु वस्तुकुं अपनें भीतर स्थित करकें स्वभाव आगें प्रकट हो जाय हे. जेसें दुष्ट पुरुषको स्वभाव वाके ज्ञानकुं दबाय करके स्वरूपसों प्रकट हो जावे हे।।११३।।

अस्य आविर्भाव-तिरोभावयोः उपपत्तिम् आह **वस्तूद्गम** इति.

वस्तूद्गमतिरोभावैस् तथा सत्वादिभिः पुनः।।
परिणामस्तु तत्कार्यं सर्वानुभवसाक्षिकम्।।११४।।

अस्य उद्गम-तिरोभावयोः वस्तु नियामकं, तथा सत्वादिगुणाः, ज्ञानं, कर्म च. अतो बहुधा उद्गमः. तस्य द्रव्याविर्भावेणाऽपि आविर्भावः. विरोधिगुणप्रादुर्भावे पूर्वस्वभावो निवर्तते अन्यश्च उदेति. तथा मन्त्रशास्त्रादिभिरपि. अतो बहुधा उद्गम-तिरोभावौ. तस्य सद्भावे अर्थापत्तिं प्रमाणयति परिणामस्तु इति. स्वभावस्य **परिणामएव** कार्यम्।।११४।।

सामान्यतो विशेषेण न प्रकाशः कदाचन।।
एवं कालस्तथा कर्म स्वभावो हरिरेव सः।।११५।।

अतः स्वभावः सर्वदा अनुमानगम्यो, न कदाचिदपि प्रत्यक्ष इति आह **सामान्यतः** इति. उपसंहरति **एवम्** इति. तत्त्वाधिक्यपरिहाराय आह **हरिरेव सः** इति. स कालादिः हरिरेव।।११५।।

तत्र उपपत्तिम् आह **अतस्ततुद्गमः** इति.

अतस्तदुद्गमः शास्त्रे न कदाचिदुदाहृतः।।
सर्वसाधारणत्वेन न तत् तत्वं तदेव तत्।।११६।।

शास्त्रे भागवते. तथापि कारणत्वात् तत्वता भविष्यति इति आशङ्क्य

तथा पदार्थके सङ्ग ही स्वभाव प्रकट होवे हे, पदार्थके सङ्ग ही याको तिरोभाव होवे हे. तथा सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, ज्ञान, कर्म, मन्त्र आदिक हु पूर्व स्वभावको तिरोभाव करके दूसरे प्रकारके स्वभावकों प्रकट करदें हें. परिणामरूप कार्यके द्वारा ही स्वभाव जान्यो जाय हे. स्वभावको प्रत्यक्षज्ञान कोईकुं कबहु नहिं होय हे. या प्रकार काल, कर्म तथा स्वभाव भगवान् हरि आपही हें. याहीसों भागवतादिकमें पृथ्वी-जलादिकन्के समान इनको बननों नहिं लिख्यो हे.

तहां काल-कर्म-स्वभाव इनकी उत्पत्ति नहिं होयवेसों कार्यमें गणना नहिं करो हो तो कारणमें गणना होनी चहिये ये शङ्का नहीं करनी.

आह सर्वसाधारणत्वेन इति. यथा भगवान् **सर्वसाधारणत्वात्** न तत्वकोटौ प्रविशति तथा कालादिरपि. भगवत्त्वेनैव उपपत्तौ न पृथक्त्वम्।।११६।।

प्रागभावस्य कारणत्वात् तत्वता भविष्यति इति आशङ्क्य आह **अभावःकारणश्चात्र** इति.

अभावः कारणं चात्र ध्वंसश्चाऽपि तदुच्यते।।
कार्यादिशब्दवत् तस्मिन् सापेक्षा वृत्तिरेतयोः।।
अपृथग्विद्यमानत्वात् न धर्मैरधिको गणः।।११७।।

प्रागभावः कारणावस्थातो न अतिरिच्यते, तस्य भिन्नकारणत्वकल्पनायां प्रमाणाभावात्. अग्रिमजननज्ञानेनैव तस्य अनुभवः. अन्यथा अत्यन्ताभावएव स्यात्. तस्मात् पूर्वम् अभावस्य न कारणम्. नहि तेन कोऽपि व्यापारः क्रियते. कार्येण परं निवर्त्यते. प्रसङ्गाद् ध्वंसादीनामपि कारणत्वं निराकर्त्तुम् आह **ध्वंसश्चापि** इति. ध्वंसोऽपि दण्डादिस्वरूपमेव, तिरोभावशक्त्यतिरिक्तस्य

जेसें भगवान् सर्वसाधारण हें तासुं तत्वकोटीमें भगवान्की गणना नहीं हे एसें ही काल-कर्म-स्वभाव हु सर्वसाधारण हें तासुं कारणभूत तत्वन्में इनकी गणना नहीं हे किन्तु इन तीनोन्कीभगवदात्मकताहे।।११७।।

नैयायिकन्के मतमें प्रागभावकुं कारण मानें हें. वाकी हु तत्वन्में गणना होनी चहिये ये शङ्का नहिं करनी. क्योंके कार्यके उत्पन्न भये पूर्व जो वा कार्यको कारणमें अभाव हे वासों 'प्रागभाव' कहे हें. वो प्रागभाव कारणसों न्यारो नहिं हे

तासों वाकुं इन कारण-तत्वन्सों अलग मान करके तत्वकी अधिक सङ्खचा बढायवेमें प्रमाण नहिं हे. क्योंके आगें होयवेवारी कार्यकी उत्पत्ति देखिकें वाको अनुभव होय हेह्नये ही अत्यन्ताभाव तथा प्रागभावमें भेद हे. तासों कार्यके पूर्व जो कार्यको अभाव हे वो कारण नहिं हे. वो अभाव कार्यके उत्पन्न होयवेमें कछु हु व्यापार नहिं करे हे. कार्य उत्पन्न होते ही वा प्रागभावकी निवृत्ति करदें हे. एसें ही प्रध्वंसाभाव हु दण्डादिरूप ही हे. तिरोभाव-शक्तिसों अलग ध्वंसाभावको स्वरूप नहिं बताय सकेंहे.

ध्वंसस्य निरूपयितुम् अशक्यत्वात्. तेन रूपान्तरं पश्यन् पूर्वरूपस्य तिरोभावं मन्यते ध्वस्त इति.

ननु कारणातिरिक्तरूपाभावे प्रागभावादिशब्दप्रयोगः कथम्? इति चेत्, तत्र आह **कार्यादिशब्दवद्** इति. नहि घटरूपाद् अतिरिक्ता कार्यता. तथा दण्डरूपादपि न अतिरिक्ता कारणता. तथापि तयोः यथा कार्य-कारणप्रयोगः तथा प्रागभावादिप्रयोगोऽपि.

ननु सङ्खचादयो गुणाः सामान्यादयश्च सन्ति, ततः कथम् अष्टाविंशतितत्वानि? तत्र आह **अपृथग्विद्यमानत्वाद्** इति।।११७।।

तासों पदार्थके दूसरे रूपनकुं देखतो भयो पुरुष पूर्व रूपके तिरोभावकों देखिकें ‘‘कार्य ध्वस्त भयो’’ एसें माने हे।।

शङ्काः कारणसों अलग प्रागभाव नहिं होय तो ‘‘अभी घटको प्रागभाव हे’’ इत्यादि वाक्यन्में ‘प्रागभाव’ शब्दको क्यों उच्चारण होनों चहिये?

उत्तरः जेसें घटादिकन्सों अतिरिक्त कार्य नहिं हे तेसें दण्डादिसों अतिरिक्त कारणता नहिं हे तथापि लोकमें ‘‘दण्डादिकन्सों घटादि बनें हें’’ तथा ‘‘कारणसों कार्य बने हे’’ एसें हु बोले हें. एसें ही अवस्थान्तर प्राप्त कारणमें ‘प्रागभाव’शब्दको हु प्रयोग होय हे.

शङ्काः सङ्खचा, परिमाण, परत्व, अपरत्व, जाति आदि धर्मनकुं तत्वन्में गिननों योग्य हे. आप तत्वनकुं २८ अष्टाविंशति हि क्यों बतावो हो?

उत्तरः सङ्खच्या आदि जे गुण हें वे इन तत्वन्सों न्यारे होय करकें नहिं रहें हें तासों इन तत्वन्में ही उन गुणन्को अन्तर्भाव हे।।११७।।

एवं कारणं निरूप्य कार्यज्ञानार्थं तस्य अवान्तरभेदान् आह आनन्त्येऽपिइति.

आनन्त्येऽपि हि कार्याणां गणभेदो द्विधा मतः।।
समष्टि-व्यष्टिभेदेन केवले जड-जीवता।।११८।।

यद्यपि घटपटादिप्रकारेण ज्ञातुम् अशक्यं तथापि सर्वं कार्यं राशिद्वयात्मकम्, समष्टिरूपं व्यष्टिरूपं च. तच्च जीव-जडात्मकम्. न आनन्दांशः तत्र प्रविशति. अतः केवलप्रकारेण विभागे क्रियमाणे जडो जीवश्च भवति, नतु ततः अतिरिक्तं किञ्चित्।।११८।।

कार्ये त्रैविध्यं निरूपयितुम् आह **सर्वेषाम्** इति.

सर्वेषां त्रिगुणत्त्वाद्धि त्रयो भेदाः पृथङ्मताः।।
आधिदैविकमध्यात्मम् अधिभूतमिति स्मृताः।।११९।।

गुणानामपि त्रैविध्ये हेतुः अग्रे वक्तव्यः. भेदान् आह **आधिदैविकम्** इति. अधिष्ठाता स्वतन्त्रो देव इति उच्यते. अभिमन्ता आत्मा. अनयोः मध्ये अभिसम्भवति सः अधिभूतः।।११९।।

एसें कारणको वर्णन करिके कार्यके स्वरूपको ज्ञान होयवेके अर्थ वाके अवान्तर भेदन्को वर्णन करें हें. यद्यपि कार्य अनन्त प्रकारको हे तासों "ये घट हे" "ये पट हे" "ये कुण्डल हे" या रीतिसों नहिं जान्यो जाय हे. तथापि सब कार्यकी दो राशि हेः १.समष्टिरूप ब्रह्माण्डन्की राशि अक्षरब्रह्ममें हे तथा २.व्यष्टिरूप देहादिकन्की राशी ब्रह्माण्डमें हे. जितनो कार्य हे सब जड-जीवरूप हे. यद्यपि जीव कार्य नहिं हे तथापि आनन्दके अर्थ देहमें अभिमान राखे हे तासों कार्यकोटिमें गिन्यो जाय हे. अन्तर्यामी देहमें रहे हे परन्तु देहमें अभिमान नहिं राखे हे तासों कार्यकोटिमें नहिं गिन्यो जाय हे।।११८।।

गुण तीन प्रकारके हें तासों कार्य हु आधिदैविक, आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक एसें तीन प्रकारको हे. स्वतन्त्र जो अधिष्ठाता हे वो 'देव' कहावे हे. आत्मा-

अभिमन्ता इन दोनोंन्के बीचमें जो सदंश देहादिक हें, जासों इन दोनोंन्को ''व्यवच्छेद'' होय हे वो आधिभौतिकहे।।११९।।

त्रयाणाम् अभेदाय आह **सच्चिदानन्दरूपेण** इति.

सच्चिदानन्दरूपेण दे हजीवेशरूपिणः।।

व्यष्टिः समष्टिः पुरुषो जीवभेदास्त्रयो मताः।।१२०।।

सद् अधिभूतम्, चिद् अध्यात्मम्, आनन्दः अधिदैवम् इति. उदाहरणम् आह **देहजीवेशरूपिणः** इति. देहः अधिभूतम्, जीवः अध्यात्मा, इशः अन्तर्यामी अधिदैवःह्नएवं स्वरूपभेदम् उपपाद्य समुदायेन प्रवृत्तौ कुत्र कस्य प्राधान्यम्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **व्यष्टिः** इति. यद्यपि एते त्रयोऽपि पुरुषावताराः तथापि देहाभिमानिनइति जीवभेदा उच्यन्ते।।१२०।।

आधिदैविकादि तीनों पदार्थन्के न्यारे-न्यारे कार्य दीखें हें तासों परस्पर भेद मालूम पडे हे. परन्तु ब्रह्मस्वरूपमें भेद नहिं हे. जेसें एक ही पुरुष जब रसोई बनावे हे तब 'पाचक'; जब पढावे लगे हे तब 'अध्यापक' तथा जब रक्षा करे हे तब 'पालक' कहावे हे याही प्रकार सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म अपने धर्मरूप सदंशको कार्य प्रकट करे हे तब वो 'अधिभूत' कहावे हे; चिद्धर्मको कार्य प्रकट करे तब 'अध्यात्म' कहावे हे तथा धर्मरूप आनन्दांशको कार्य प्रकट करे हे तब 'अधिदेव' कहावे हे. स्वरूपमें भेद नहिं हे. ब्रह्मके सदंशसों सत्वगुण, चिदंशसों रजोगुण तथा आनन्दसों तमोगुण प्रकट होवे हे. सत् अधिभूत हे, चित् अध्यात्म हे तथा आनन्द अधिदैव हे. जीवके तीन भेद हें: १.समष्टिरूप ब्रह्माण्डाभिमानी जीव २.व्यष्टिरूप अस्मदादि देहाभिमानी जीव तथा ३.आवरणपुरुष. व्यष्टिरूप अस्मदादि शरीर सत्प्रधान हे, समष्टिरूप ब्रह्माण्डशरीर चित्प्रधान हे, पुरुषशरीर आनन्दप्रधान हे. उदाहरण कहे हें : देह अधिभूत हे, जीव अध्यात्म हे तथा अन्तर्यामी अधिदैव हे. यद्यपि समष्टि-व्यष्टि-आवरणपुरुष ये तीनों तत्वमें जो गिन्यो गयो क्षरपुरुष वाके अवतार हें तामें ''यस्यांशांशेन सृज्यन्ते'' ये प्रमाण हे. तथापि देहके अभिमान राखिवेवारे हें तासों जीवन्में गणना हे. वा ही एक देहमें रहिवेवारो अन्तर्यामी शरीराभिमान नहिं राखे हे तासों ब्रह्मरूपन्में गिन्यो जाय हे. या प्रकार तीन भेदन्को जो ज्ञान हे सो स्वरूपके तारतम्यको निश्चय करायके मूलरूपके उत्कर्षकुंजतावेहे।।१२०।।

तत्रैव विद्यमानोऽपि अनभिमानित्वाद् ब्रह्म इति एकत्रैव त्रिप्रकारेण वर्ततइति प्रकारान् गणयति **अन्तर्याम्यक्षरं कृष्णः** इति.

अन्तर्याम्यक्षरं कृष्णो ब्रह्मभेदास्तथा परे।।
स्वभाव-कर्म-कालाश्च रुद्रो ब्रह्मा हरिस्तथा।।१२१।।

यथा सारथी रथी तदन्तस्थितश्च तथा अन्तर्याम्यक्षरं कृष्णः. एवं सति पुरुषोत्तमत्वेन सर्वत्र दर्शनं भवति. परं ब्रह्मैव त्रिप्रकारेण वर्ततइति त्रयो भेदाः.

त्रयाणां प्रत्येकं बहून् भेदान् आह **स्वभाव** इति. अक्षरस्य स्वभाव-कर्म-काला भेदा, रुद्रादयः कृष्णस्य. अन्तर्यामिणः सर्वत्र भिन्नतयैव स्थित्वात् न भेदान् आहः।।१२१।।

एक ठिकाने ही ब्रह्म तीन प्रकारसों रहे हे. उन प्रकारनकुं गिनावें हें 'अन्तर्यामि' इति. १.अन्तर्यामी २.अक्षरब्रह्म ३.परब्रह्म कृष्णह्न ये तीन ब्रह्मके भेद हें. जेसें एक रथमें रथ चलायवेवारो, रथमें बैठवेवारो तथा बैठवेवारेको जीवात्मा ये तीन पदार्थ हें. जेसें रथ चलायवेवारो रथको नियामक रहे हे एसें व्यष्टिरूप देहवारे जीवन्को नियामक अन्तर्यामी हे. जेसें रथ चलायवेवारेको नियामक रथमें बैठवेवारो हे एसे अन्तर्यामीको नियामक अक्षरब्रह्म हे. ये वार्ता प्रशासनश्रुतिसों सिद्ध हे "एतस्यैव अक्षरस्य प्रशासने द्यावापृथिवी विधृते" (बृहदा.उप.३।८।९) इत्यादि. जेसें रथमें बैठवेवारेको नियामक वाको अत्मा हे एसें अक्षरब्रह्मके नियामक परब्रह्म कृष्ण हें. यामें "अक्षरादपि चोत्तमः" (भग.गीता१५।१८) इत्यादि प्रमाण हे. या प्रकार सर्व पदार्थन्में भगवान् विराजमान हें तथा सर्वके नियामक हेंह्नएसें ज्ञान होय तब सर्वत्र पुरुषोत्तमत्व करकें दर्शन होय हे.

या प्रकार परब्रह्म ही तीन प्रकारसों विहार करे हे. एसें ब्रह्म विषयक तीन भेद वर्णन किये. इनमेंसों एक-एकके बहुतसे प्रकार हें. जेसें अक्षरके स्वभाव, कर्म, काल आदि प्रकार हें. तथा ब्रह्मा, रुद्र, विष्णु आदि तीन प्रकारके भेद परब्रह्म श्रीकृष्णके हें, अन्तर्यामीके भेद नहिं हे, सर्वत्र भिन्न होयके स्थित रहे हें तासों।।१२१।।

त्रयाणां शक्तिभेदान् आह **अविद्या** इति.

अविद्या प्रकृतिर्माया निद्रा चिन्तेन्द्रजालता।।
महत्तत्वं ब्रह्मरूपम् अस्मच्चितं तथैव च।।१२२।।

अविद्या जीवस्य, प्रकृतिः अक्षरस्य, माया कृष्णस्य. उपलक्षणविधया विद्याया भेदान् आह **निद्रा** इति. एवं प्रकृति-पुरुषपर्यन्तम् उपरिस्थितानां भेदान् उक्त्वा महदादीनाम् आह "**महत्तत्त्वम्**..." इत्यादिना. महत्तत्वम् आधिदैविकस्थानीयम्. द्वितीयं ब्रह्मशरीरम्. तृतीयम् अस्मदादीनां चित्तम्. अनेन "अन्येषां() (इतरेषां) चानुपलब्धेः" (ब्रह्मसूत्र२।१।२()) इति भगवत्सिद्धान्ते दोषः परिहृतः।।१२२।।

अहङ्कारे भेदान् आह **अहङ्कारः** इत्यादिना.

अहङ्कारो रुद्ररूपम् अहङ्कारोऽस्मदादिषु।।
मनश्चन्द्रशरीरञ्च मनोऽस्माकं तथैव च।।१२३।।
चक्षुः सूर्यशरीरं च चक्षुरस्माकमेव च।।
मूलेन्द्रियाणि ब्रह्माण्डं देवदेहास्तथैव च।।१२४।।

इन तीनोंन्‌की शक्तिको निरूपण करें हें. जीवकी अविद्या शक्ति हे, प्रकृति अक्षरब्रह्मकी शक्ति हे, माया कृष्णकी शक्ति हे. अविद्या, प्रकृति, माया आदिकन्‌के हु अधिदैविकादि तीन-तीन भेद हें. द्वादश शक्तिमें जाकी गणना हे वो आधिदैविकी अविद्या हे, पञ्चपर्वात्मिका आध्यात्मिकी अविद्या हे, छीपमें चान्दिको भ्रम तथा रस्सीमें सांपको भ्रम करायवेवारी आधिभौतिकी अविद्या हेह्न या प्रकार प्रकृति मायाके हु भेद समझने. निद्रा, तन्द्रा, इन्द्रजाल आदि अविद्याके अवान्तरभेद हें. महत्तत्व हु तीन प्रकारको हे. महत्तत्व आधिदैविक रूप हे, ब्रह्मशरीर आध्यात्मिकरूप हे तथा अस्मदादिकन्‌को चित्त आधिभौतिकरूप हे।।१२२।।

अहङ्कार आधिदैविकरूप हे, रुद्र आध्यात्मिक रूप हे तथा अस्मदादिकन्‌के अहङ्कार आधिभौतिकरूप हें. पुरुषचक्षु आधिदैविक हे, सूर्यको शरीर आध्यात्मिक हे तथा अस्मादादिकन्‌के चक्षु आधिभौतिक हे. पुरुषमन आधिदैविक हे, चन्द्रमाको शरीर आध्यात्मिक हे तथा अस्मदादिकन्‌को मन

चक्षुः इत्यादि इन्द्रियाणां भेदाः सामान्येन आह **मूलेन्द्रियाणि** इति।।१२४।।

अस्मदिन्द्रियवर्गश्च रूपत्रयमुदीरितम्।।
चन्द्रश्चन्द्राभिमानी च मनःप्रेरकएव नः।।१२५।।
सूर्यो मण्डलमानी च चक्षुःप्रेरक एव नः।।
एवं सर्वत्र तद्भेदाः स्वयमूह्या विभागशः।।१२६।।

त्रयाणाम् अवान्तरभेदाः सन्ति इति ज्ञापनार्थम् आह **चन्द्रश्चन्द्राभिमानी** च इति. अतिदिशति **एवम्** इति।।१२५-२६।।

आधिभौतिक हे. एसें ही मूलेन्द्रिय आधिदैविक हे, देवतान्की देह आध्यात्मिक हे तथा अस्मादादिकन्की इन्द्रिय आधिभौतिक हें।।१२४।।

इन तीन-तीन रूपन्में हु एक-एकके तीन-तीन भेद हें. जेसें चन्द्रमण्डल आधिभौतिक, चन्द्राभिमानी आधिदैविक तथा मनःप्रेरक आध्यात्मिक हे.

जेसें सूर्यमण्डल आधिभौतिक, सूर्यमण्डलाभिमानी आधिदैविक तथा अस्मदादिकन्के चक्षुःप्रेरक आध्यात्मिकह्न या प्रकार सब पदार्थन्में तीन-तीन भेद स्वयं बुद्धिसों समुझ लेने. अर्थात् आनन्दप्रधान आधिदैविक हे, चित्प्रधान आध्यात्मिक हे तथा सत्प्रधान आधिभौतिक हे. सब ठिकानें मूलकारण आधिदैविक होय हे, अवान्तरकारण आध्यात्मिक होय हे, कार्यस्थ रूप आधिभौतिक होय हे. एसेंही कालके स्वरूपको विचार कियो जाय तो कालको आधिभौतिकरूप सूर्य हे, सूर्यके स्वरूपको विचार कियो जाय तो सूर्य आधिदैविक हे. जेसें साम्बपुराणमें सूर्यकी अधिक महिमा लिखि हे. वहां मूलेन्द्रियात्मा आधिदैविक सूर्य समुझनों. एसे ही जहां विष्णुको अपकर्ष लिख्यो हे तहां "विष्णुर्गत्यैव चरणौ" इत्यादिकन्में अस्मदादिकन्के चरण प्रेरक आधिभौतिक विष्णुको वर्णन समुझनो. या प्रकार घट-पटादि पदार्थ हु तीन प्रकारके हें. वैदिकसृष्टिके जे घटादिक हें वे आधिदैविक हें, सत्सृष्टिके घटादिक आध्यात्मिक हें, गुणजसृष्टिस्थित घट-पटादिक आधिभौतिक हें।।१२६।।

एवम् इन्द्रियाणाम् उक्त्वा तन्मात्राणाम् **आह तन्मात्राणि च** इति.

तन्मात्राणि च भूतानां गुणाः कार्यगतास्तथा।।
महाभूतान्यावरणं मध्यभूतानि च क्रमात्।।१२७।।
अहङ्कारमहत्तत्वप्रकृतीनां पुनस्तथा।।
मूलमावरणं चैव ब्रह्मान्तःकरणं तथा।।१२८।।

ब्रह्माण्डस्य च देहत्वात् परिच्छेदं वारयति अहङ्कार-महत्तत्व-प्रकृतीनामपि भूतादिन्यायेन आह **पुनस्तथा** इति. 'पुनः'शब्देन सिंहावलोकनम् उक्तम्. सामान्यतो वदन् उपसंहरति **मूलम्** इति. मूलं तत्वानि. आवरणस्थानीयानि द्वितीयानि. ब्रह्माण्डान्तःस्थितानि तृतीयानि. ब्रह्मणा अन्तःकरणं येषाम् इति।।१२८।।

परिच्छेदं वारयति **अन्येऽपि** इति.

अन्येऽप्यवान्तरा भेदाः शतशः सन्ति सर्वशः।।
लोकपालास्तु ते त्वत्र स्वर्गस्थस्तु पुरन्दरः।।१२९।।

तन्मात्रान्के भेद वर्णन करें हें. पञ्चतत्वन्के कारण जे मात्रात्मक रूप रस गन्ध स्पर्श तथा शब्द हें वे आधिदैविक हें, पञ्चतत्व आध्यात्मिक हें तथा कार्यके गुणरूप जे रूप रस गन्ध स्पर्श तथा शब्द हें वे आधिभौतिक हें.

एसें ही आध्यात्मिक महाभूत हु तीन प्रकारके हें. कारणरूप महाभूत आधिदैविक हें, ब्रह्माण्डके परितः आवृत्त महाभूत आध्यात्मिक हें तथा ब्रह्माण्डके भीतरके जो महाभूत हें वे आधिभौतिक हें. एसें ही अहङ्कार आधिभौतिक हे, महत्तत्व आध्यात्मिक हे तथा प्रकृति आधिदैविक हे.

या ही प्रकार अट्ठाईस तत्वन्के हु तीन भेद हें. मूलकारणरूप अष्टाविंशति तत्व आधिदैविक हें. ब्रह्माण्ड जिनसों घिर रह्यो हे वे आध्यात्मिक हें. तथा ब्रह्माण्डके भीतर जे तत्व हें वे आधिभौतिक हें।।१२८।।

परिच्छेदको वारण करे हें. एसे ही एक-एक तत्व हु तीन प्रकारकोहे.

अस्मदाद्यधिष्ठिता पृथिवी. भाराक्रान्ता गोरूपा द्वितीया. भगवतः पार्श्वे वर्तमाना तृतीया इति. एवं जलादावपि ज्ञातव्यम्. ये दशेन्द्रियाणां देवा उक्ताः, अहङ्काराद् उत्पन्नाः, तएव लोकपाला इन्द्रादयो नामसाम्यात् ब्रह्माण्डस्य च देहत्वात्. अतः पिण्डपालाइव लोकपाला इति अभिप्रायेण आह लोकपालास्तु इति. मित्रो निर्ऋतिः. अश्विनौ उत्तरतः. दिशो यमस्थानीया इति. तत्र पुरन्दरस्य मध्यस्वर्गे स्थितिः उपरिभागद्योतकः।।१२९।।

तेषां यथेच्छां स्थितिं वारयितुम् आह **दशदिक्षुतु** इति.

दशदिक्षुतु ते त्वत्र मध्यस्थस्तु पुरन्दरः।।

जेसें पृथ्वीके तीन स्वरूप हें. जाके ऊपर मनुष्यादिक रहें हें वो आधिभौतिक पृथ्वी हे, दैत्यसों दुःखित भई गोरूपवारी जो ब्रह्माजीसों प्रार्थना करिवे गई हती वो आध्यात्मिक पृथ्वी हे तथा भगवान्की पत्नी हे वो आधिदैविक पृथ्वी हे. एसें ही जलादिकन्के हु तीन भेद समुझ लेनें. एसें ही लोकपाल हु तीन प्रकारके हें. सात्विक अहङ्कारसों उत्पन्न भये जे दश इन्द्रियन्के देवता हें वेही लोकपाल हें. क्योंके उनके इनके एक ही नाम हें. जेसें आपनो देह हे तेसें ब्रह्माण्डाभिमानी पुरुषको ब्रह्माण्ड देह हे. जेसें अपने पिण्डके हाथ, पांव आदि अवयवन्के रक्षाकरिवेवारे इन्द्र, वायु आदि देवता हें एसें ब्रह्माण्डरूप देहके स्वर्गादिलोकरूप अवयवन्के रक्षा करिवेवारे वे ही देवता हें. लोकालोकमें रहिवेवारे देवता उनके आधिदैविकरूप हें, मानसोत्तर पर्वतपे रहिवेवारे उनके आध्यात्मिकरूप हें तथा मेरु पर्वतके ऊपर रहिवेवारे देवता आधिभौतिक रूप हें. एसे ही इनके स्थानमें हु तीन भेद हें. मेरु आधिभौतिक स्थान हे, मानसोत्तर आध्यात्मिक स्थान हे तथा लोकालोक आधिदैविक स्थान हे. ये देवता साथ ही प्रकट होवे हें तथा साथ ही तिरोहित होय जावें हें. मन्वन्तर-मन्वन्तरमें ब्रह्माण्डके देवतान्के अंशरूप देवता न्यारे-न्यारे होय जावे हें. जेसें अपने कर्णन्की दिशा देवता हें एसें ब्रह्माण्डाभिमानी पूर्वाभिमुख पुरुषके कर्णन्की देवता हु दिशा हे. एसें सब इन्द्रियन्केजानने.

ये देवता पृथ्वीमें तो दश दिशान्के पालक होयके अपनी दिशान्में

तादृशैरपरैर् देवैः प्रतिमन्वन्तरं पृथक्।।१३०।।

चन्द्रमसो मध्यपाते पुरन्दरो मध्यस्थः. एवं सति तत्वाधिक्यं न भवति. एते सर्वे सहोत्पन्नाः सहैव तिरोहिता भवन्तीति प्रतिमन्वन्तरं तदंशाः तन्नामानो भिन्नाः इति आह **तादृशैर् अपरैः** इति।।१३०।।

तेषाम् अवान्तरभेदान् आह लोकपालाः इति.

लोकपालास्तथा भिन्नाः स्थानैः सह विभागशः।।
लोकालोके मानसे च मेरोर्मूर्ध्नि तथैव च।।१३१।।

सर्वेषां देवानां लोकालोकस्थानम् एकम्, तथा मानसोत्तरे, तथा मेरोः मूर्ध्नि।।१३१।।

ब्रह्मणोऽपि आह **ब्रह्मणः** इति.

ब्रह्मणोऽपि तथा सत्ये विराड्जीवस्तु भोगभुक्।।

रहे हें. तहां १हस्ताभिमानी देवता इन्द्र पूर्वदिशाको पाल हे. २वाणीकी देवता अग्नि अग्निकोणको स्वामी हे, ३कर्णन्की देवता दिशा हे सो अपने आधिभौतिक यमराजके रूपसों दक्षिणदिशामें रहे हे, ४पायु इन्द्रियको देवता मित्र हे सो अपने आधिभौतिक निर्ऋति देवताके रूपसों नैर्ऋत्यकोणमें रहे हे, ५जिह्वाको देवता वरुण हे सो पश्चिमदिशामें रहे हे, ६त्वचा इन्द्रियको देवता वायु वायुकोणमें रहे हे, ७नासा इन्द्रियको देवता अश्विनीकुमार अपने आधिभौतिक कुबेररूपसों उत्तरदिशामें रहे हे, ८अभिमानाधिष्ठाता रुद्र इशानकोणके स्वामी हें, ९गुह्यके देवता ब्रह्मा ऊपरकी दिशामें रहे हें, १०चरणके देवता आधिभौतिक विष्णु नीचेकी दिशामें रहे हें.

ये देवता इन्द्रियन् सहित अपने-अपने गोलकन्में रहें हें परन्तु हस्तको देवता इन्द्र तो मध्यभाग जो स्वर्ग हे वामें स्थित हे. क्योंके हस्त जेसें सर्व शरीरको स्पर्श कर सकें हें एसें इन्द्रहु सर्व लोकन्में विचरतो भयो तीनो लोकन्में ऊपर जो स्वर्गलोक हे वामें स्थित रहत हे. स्वर्ग विराट्के मध्यभागमें हे।।१३०।।

ब्रह्मादिकन्के हु त्रिविध भेदन्को वर्णन करें हें.

गुणावतारस्त्वन्यः स्याद् एवमन्यत्र सर्वशः।।१३२।।

मेरोः मूर्ध्नि स्पष्टएव. पुष्करद्वीपेऽपि स्पष्टम्. अतो लोकालोकेऽपि ज्ञातव्यम्. सत्यलोके आधिदैविकः. विराड्देहाभिमानी द्वितीयः. मेरोः मूर्ध्नि तृतीयः. मध्यमएव भोगभोक्ता. गुणावतारस्तु तेभ्यो भिन्न इति आह **गुणावतारस्तु** इति. यो नाभिकमले जातः।।१३२।।

कैलासादिविभेदश्च तथा वैकुण्ठवासिनः।।
कृत्रिमं च ध्रुवस्थानं श्वेतद्वीपं तथैव च।।
एवम् एकप्रकारेण गुणतस् त्रिविधं मतम्।।१३३।।

एवं रुद्रादीनामपि कैलासादिविभेदा वक्तव्या वैकुण्ठास्यापि भेदाः. तान् गणयति **कृत्रिमम्** इति. ''वैकुण्ठः कल्पितो येन'' ( ) इति वाक्यात्. तद् आधिदैविकस्थानीयम्. चकारात् तद् अकृत्रिममपि भगवदिच्छामात्रेण प्राकट्यात्. ध्रुवस्थानं ज्योतिश्चक्रस्थम्. अथवा **ध्रुवं** निश्चलं स्थानम्. लोकत्रयोपरि महर्लोकाद् अर्वाक्. प्रकारान्तरं वक्तुं पूर्वोक्तम् उपसंहरति **एवम्** इति।।१३३।।

सत्यलोकमें आधिभौतिक ब्रह्मा हे, ब्रह्माण्डदेहके सुखको भोक्ता विराटदेहमें अभिमान रखवेवारो आध्यात्मिकब्रह्मा हे तथा सुमेरु पर्वतपें जाकी पुरी हे वो आधिभौतिक ब्रह्मा हे. भगवान्के चिदंशसों प्रकट भये रजो गुणमें अवतार लेवेवारे नाभि-कमलसों जो प्रकट भये हें वे ब्रह्माजी इन तीनोंन्सुं न्यारे हें. एसें शिवलोकके हु तीन भेद हें. कैलासमें एक शिवलोक हे, दूसरो शिवलोक सत्यलोकके ऊपर हे. या प्रकार अन्य पुराणन्के अनुसार तीसरो शिवलोक हु जान लेनो. एसें ही वैकुण्ठके हु तीन भेद हें. लक्ष्मीजीकी प्रार्थनासों प्रकट कियो आधिदैविक वैकुण्ठ हे, ध्रुवजी जा वैकुण्ठमें रहे हें वो आध्यात्मिक वैकुण्ठ हे तथा श्वेतद्वीपमें आधिभौतिक वैकुण्ठ हे.

पहिले प्रकारमें आनन्दप्रधान पदार्थकुं आधिदैविक, चित्प्रधानकुं आध्यात्मिक तथा सत्प्रधानकुं आधिभौतिक कहि आये हें, या द्वितीय प्रकारमें आनन्दादिक धर्मन्कुं ग्रहण करके तथा व्याकरणादिद्वारा आधिदैविकादि शब्दन्को जेसें अर्थ होय हे वाकुं हु लेयकें तीन प्रकार वर्णन करेंहें।।१३३।।

द्वितीयं प्रकारम् आह **सूर्य** इति.

सूर्यश्चक्षुस्तथा रूपं गोलकं चेति वा भिदा।।
बुद्धिः खानि तथा मात्राः क्वचिदेवं भिदा त्रयम्।।१३४।।

यत्रैव आधिदैविकव्यवहारः स प्रथमः. आध्यात्मिके द्वितीयः. तृतीये प्रकारद्वयम्. रूपं, गोलकं च इति. पुनः अन्यं प्रकारम् आह **बुद्धिःखानि** इति. इन्द्रियजन्या बुद्धिः आधिदैविकी।।१३४।।

एवं प्रकारत्रयं निरूप्य सर्वेषां स्वरूपं निरूपयितुं भगवत्वे जन्मादिभावा न युक्ताइति ज्ञानेन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च वैयर्थ्यम् आशङ्क्य त्रैविध्यसमर्थनार्थं

सूर्य आधिदैविक हे, चक्षु आध्यात्मिक हे तथा गोलक आधिभौतिक हे. या क्रममें आधिदैविक पदार्थकुं प्रथम, आध्यात्मिककुं द्वितीय तथा आधिभौतिककुं तृतीय समुझ लेनों. तृतीयके दो भेद हें : १.गोलक तथा २.रूप.

व्याकरणके द्वारा आधिदैविकादि पदन्को जेसो अर्थ होवे हे वाकुं लेके तृतीय प्रकारको वर्णन करे हें. अस्मदादिकन्के इन्द्रियन्को प्रेरक "भीष्मो हि देवः" इत्यादि श्रुतिसिद्ध मनरूप देवनिष्ठ जो बुद्धि हे वो आधिदैविकी हे, शरीरमें रहिवेवारी इन्द्रियें आध्यात्मिक हें तथा पञ्चभूतन्में रहिवेवारी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द मात्रा आधिभौतिक हें. एसें अन्य पदार्थन्में हु भेद जानने. ये प्रकार द्वादशस्कन्ध चतुर्थाध्यायमें "दीपश्चक्षुश्चरूपञ्च, एवं धीः खानि मात्राश्च न स्युरन्यतमादृतात्" (भाग.पुरा.१२।४।२४) इत्यादि स्थलमें प्रसिद्ध हे. ये प्रकार व्यवहारके उपयोगार्थ वर्णन कियो हे।।१३४।।

या रीतिसों तीनों प्रकारन्को निरूपण करके सम्पूर्ण पदार्थन्को यथार्थ स्वरूप भगवान् ही हें ये निरूपण करे हें. तहां लौकिक सत्-चिद्-आनन्द सब पदार्थ तथा इनके नाम-रूप ये सब पदार्थन्कुं यदि भगवत्स्वरूप मानें तब उनके जन्म-नाशादि क्यों होवे हें? एसी शङ्का होय हे.

ज्ञान-क्रिययोः उत्पतिं समर्थयते भगवद्व्यतिरिक्तानाम् इति.

भगवद्व्यतिरिक्तानां घटादीनां यथोद्भवः।।

व्यवहारे तथा ज्ञानक्रिययोरपि निश्चयः।।१३५।।

भगवतोऽपि आविर्भाव-तिरोभावौ प्रायेण वैदिकानां सम्मतौ. तदतिरिक्ते सन्देहः. अतः तत्र विचारः कर्तव्यइति घटादिनिर्णयएव ज्ञान-क्रिययोरपि निर्णयो भविष्यतीति न इन्द्रियाणां वैयर्थ्यम् इति अर्थः।।१३५।।

यदि उन पदार्थन्के जन्म-नाशादि नहिं मानें हें तो इनकी उत्पत्ति-नाशादि करिवेके अर्थ क्रियाकी आवश्यक्ता नहीं होयगी, तब क्रियाके अर्थ हस्त-पादादिक कर्मेन्द्रिय हु वृथा ही होयगी

एसें ही ज्ञान हु सर्वपदार्थन्को विद्यामान ही हे, इनकी उत्पत्ति-नाशादि करिवेके अर्थ क्रियाकी आवश्यक्ता नहीं होयगी, तब क्रियाके अर्थ हस्तपादादिक कर्मेन्द्रिय हु वृथा ही होयगी एसें ही ज्ञान हु सर्वपदार्थन्को विद्यमान ही हे तब पदार्थन्के ज्ञान करायवेवारे नेत्र-श्रवणादिक ज्ञानेन्द्रिय हु वृथा ही होयगी याअनिष्टापत्तिके परिहारके अर्थ व्यवहारमें आयवेवारे ज्ञान-क्रियान्की उत्पत्ति-नाशादिकन्को यथार्थस्वरूप युक्तिद्वारा वर्णन करे हें. तासों कहे भये आधिदैविकादि तीन भेदन्को हु समर्थन होय जायगो.

तहां भगवान्के आविर्भाव-तिरोभाव तो वैदिकन्नें मानें हें. उनमें सन्देह नहिं हे किन्तु लौकिक पदार्थन्में सन्देह हे. क्योंके मायावादि उनकुं उत्पत्ति-नाशवारे माने हें, साङ्खच्यवादि आविर्भाव-तिरोभाववारे माने हें. तासों घटादिपदार्थन्के उत्पत्ति-नाशको निर्णय करनो आवश्यक हे. वामें ही ज्ञान-क्रियाके उत्पत्ति-नाशको हु निर्णय होय जायगो तासों इन्द्रियके व्यर्थताकी शङ्का हु दूर होय जायगी।।१३५।।

ननु ज्ञाने प्रतिबिम्बएव भवतु, स्वरूपस्य नित्यवाद् इति आशङ्क्य तथा पक्षपातः त्रिष्वपि कर्तव्यः इति वक्तुं ज्ञाने प्रतिबिम्बपक्षं दूषयति **न प्रतिस्फुरणम्** इति.

न प्रतिस्फुरणम् रूपरहितस्य कदाचन।।
अविद्यायास्तथा बुद्धेः न शुद्धत्वं कदाचन।।१३६।।

तत्र हेतुः **रूपरहितस्य** इति. कालान्तरे देशान्तरेऽपि तथात्वं वारयति **कदाचन** इति. दोषान्तरम् आह **अविद्याया** इति. अविद्यायां प्रतिबिम्बे जीवत्वं, बुद्धौ प्रतिबिम्बे व्यावहारिकज्ञानत्वम् इति स्यादेवं यदि अविद्याबुद्धिः वा शुद्धा स्यात्. तथासति सदंशानामिति भावात् सर्वेषां सर्वज्ञता स्यात्.

मायावादिके मतमें कार्यरूप ज्ञानकी उत्पत्ति नहिं मानें हे किन्तु ज्ञानके स्वरूपकुं नित्य मानें हें. तासों नित्य ज्ञानको जो बुद्धिवृत्तिमें प्रतिबिम्ब हे वाकुं "कार्यरूपज्ञान" कहे हें. तहां उनसों ये पूछनों योग्य हे जो तुम केवल ज्ञानरूप चित्कुं नित्य कहो हो तेसें सत्कुं तथा आनन्दकुं हु नित्य माननो चहिये, क्योंके "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति.उप.२।१।१) या श्रुतिमें सत्-ज्ञान-आनन्दरूप ब्रह्म कह्यो हे. तासो जेसें ज्ञान ब्रह्मस्वरूप हे तेसें सत्-आनन्द हु ब्रह्मस्वरूप हे. नित्य मानो हो तो इन तीनो पदार्थनकुं हीं नित्य माननों योग्य हे. किञ्च, ज्ञान रूपरहित वस्तु हे, याको कोई कालमेंह्नकोई देशमें प्रतिबिम्ब नहिं होय सके हे.

दूषणान्तर आज्ञा करे हें. अविद्यामें ब्रह्मरूप ज्ञानको प्रतिबिम्ब 'जीव' कहावे हे. बुद्धिमें ब्रह्मात्मक ज्ञानको प्रतिबिम्ब लौकिक व्यवहारमें आयवेवारो ज्ञान कहावे हे, ये कथन मायावादीको तब बन सके जब विद्या-बुद्धि ये दोउ शुद्ध होंय. ये तो दोउ मलिन हें. मलिन वस्तुमें प्रतिबिम्ब नहिं बन सके हे. यदि विद्या-बुद्धिकुं शुद्ध मानके इनमें अरूप ज्ञानको हु प्रतिबिम्ब मानोगे तो रूपवारे शरीरके भीतरके अन्त्रन्को तथा बाहिरके घटादि सदंशन्को अविद्या बुद्धिमें प्रतिबिम्ब होयवेमें कछु बाध कह्यो नहिं, तब तो जा अविद्यामें व्यापक जीव

सर्वेषां प्रतिबिम्बाभावे हेत्वभावात्. इन्द्रियाणाञ्च वैयर्थ्यम् अतः इदं ज्ञानं कार्यरूपं भिन्नमेव, चिदादिभिः सह बुद्धेः कोशादिषु ऐकार्थ्यात्।।१३६।।

बुद्धेर्वृत्तिः स्थितिर्नाम गुणतः सा त्रिधा मता।।
अतो जागरणादीनि जीवस्तद्वशगो यतः।।१३७।।

प्रतिबिम्बित हे वा अविद्यामें ही घटादि सब पदार्थ प्रतिबिम्बित हें. सबके साथ तादात्म्य सम्बन्धवारे ब्रह्मके समान जीव हु सब पदार्थके साथ संसर्गवारो होयवेसों स्वरूपचैतन्यकरकें सब पदार्थन्को प्रकाशक होय सके हे. तब तो सब जीवन्कुं सर्वज्ञता होनी चहिये

कदाचित् कहोगे : अन्तःकरण अलग-अलग हें तथा प्रमाताह्मजानवेवारे हु न्यारे-न्यारे हें तासों सब जीव सर्वज्ञ नहिं हें.

ये बात तो नहिं बन सके हे. जीवकुं व्यापक मानो हो तासों सब जीवन्को सबन्के अन्तःकरणन्के साथ सम्बन्ध हे, फिर जानिवे वारेन्को भेद नहिं होय सके हे. अन्तःकरणको सम्बन्ध सब जीवन्के साथ समान ही हे फिर एक जीव अन्तःकरणविशिष्ट हे दूसरो जीव वा अन्तःकरणविशिष्ट नहिं हे यामें कोई कारण नहिं हो सके हे. अदृष्टकी कारणताको तो पूर्वप्रकरणमें खण्डन कर आये हें. जीवन्को ही अविद्यामें प्रतिबिम्ब होय हे घटादिकन्को प्रतिबिम्ब नहिं होय सके हे यामें हु कोई हेतु नहिं हे. किञ्च, जीव प्रकाशक प्रतिबिम्बरूप होयवेसों स्वप्नमें जेसें इन्द्रिय बिना ही प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाये हे तेसें पूर्वसंस्कारवशात् बिना ही इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान होय जायगो, इन्द्रियन्की उत्पत्ति व्यर्थ हो जायेगी. अतः प्रतिबिम्बपक्ष नहिं बन सके हे. तासों पदार्थप्रकाशक ज्ञान हे सो कार्यरूप ज्ञान हे. वो ज्ञान नित्यज्ञानसों भिन्न हे. तासों ही कोश तथा व्याकरणमें बुद्धिके साथ 'चित्त' आदि शब्दन्की एकार्थता लिखी हे।।१३६।।

नेत्रमीलन करे पश्चात्त बाहिरके पदार्थको आकार भीतर दीखेहे

बुद्धिवृत्तिः जन्यत इत्यत्र वृत्तिः बुद्धेः पदार्थान्तरं न भवति किन्तु स्थितिरेव सत्वादिभिः. अतएव भ्रमादीनामपि सङ्ग्रहः. यदि इन्द्रियैः जन्या न स्याद् घटे क्वापि तदा भ्रमो न स्यात्. जीवस्य च गुणतः अवस्थात्रयं भिन्नहेतुकं स्यात्. अतो

गुणवशाद् यथा बुद्धिः भवति तथैव मन्तव्यम् इति. अतएव जीवस्यापि न स्वातन्त्र्यं, गुणाधीनत्वात्।।१३७।।

एवं ज्ञानस्य उत्पत्तिं निरूप्य सुख-दुःखयोरपि ज्ञानफलयोः उत्पत्तिं निरूपयति **सुखदुःखसमुत्पत्तिः** इति.

वाको नाम 'वृत्ति' हे. वो वृत्ति बुद्धिसों अलग नहिं हे. किन्तु सत्व-रजस्-तमस् करकें बुद्धिकी अवस्थामें परिवर्तन होय हे वाहीसों 'वृत्ति' कहें हें. वृत्ति गुणजन्य हे. तासों ही तम आदि जन्य वृत्तिमें भ्रमादिकन्को हु सङ्ग्रह हे. वो वृत्ति इन्द्रियन्सों जन्य हे. भ्रमते भये घटके ग्रहणमें भ्रमण हे सो वा देशमें अनुभूयमान् वृत्तिमें ही हे, घटमें तथा आत्मामें नहीं हे. वृत्तिकुं इन्द्रियजन्य नहिं मानोगे तो घटमें कहुं हु भ्रम नहिं होनो चहिये. किञ्च, बुद्धिवृत्तिन्कुं गुणजन्य नहिं मानोगे तो स्वप्न-जाग्रत्-सुषुप्ति इन जीवकी तीन अवस्थान्को कारण अन्य माननो पड़ेगो, तो "सत्वाज्जागरणम्" इत्यादि भागवतवाक्यको विरोध आवेगो. तासों सत्वादिगुणवशसों निश्चय, संशयादि रूप बुद्धिवृत्तिन्कुं जेसें इन्द्रियें प्रकट करे हें तेसें ही तत्समानाकार विशिष्टज्ञान हु गुणवशसों ही होवे हे. तासों बुद्धि इन्द्रियजन्य नहिं हे तथापि बुद्धिकी अवस्थारूप वृत्ति तो इन्द्रियजन्य ही हे. जीव बुद्धिके आधीन हे तासों ज्ञानकी उत्पत्तिमें जीव स्वतन्त्र कर्ता नहिं हे. सत्व अधिक होवेसों इन्द्रियसों निश्चयरूप वृत्ति होय हे. सत्व-रजस् समान होयवेसों सन्देह होवे हे. तम अधिक होवेसों अज्ञानरूप बुद्धिवृत्ति इन्द्रिय करकें प्रकट होवे हे।।१३७।।

या प्रकार ज्ञानकी उत्पत्ति निरूपण करकें प्रतिकूल ज्ञानसों जान्यो जाय एसो जो विषयदुःख तथा अनुकूल ज्ञानसों जान्यो जाय एसो जो विषयसुख इन दोनोंन्की उत्पत्तिको निरूपण करे हें.

सुखदुःखसमुत्पत्तिर् नित्या ब्रह्मसुखात् पृथक्।।
अन्धन्तमःप्रवेशाच्च ह्रीच्छादीनां च सर्वशः।।१३८।।

नित्या, न विवादास्पदम् इति अर्थः. ब्रह्मसुखमपि तथा भविष्यति इति आशङ्क्य आह **ब्रह्मसुखाद्** इति. दुःखार्थम् आह **अन्धन्तमः प्रवेशाद्** इति. अन्धन्तमो

नित्यम् असुराणां फलम्. तथा ह्रीच्छादीनामपि भगवद्धर्मव्यतिरिक्तानाम् उद्भवएव।।१३८।।

अनुक्तसमुच्चयार्थम् आह **मनोधर्माः** इति.

मनोधर्माश्च ये चान्ये भगवत्सङ्गवर्जिताः।।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते घटादिरिव नान्यथा।।१३९।।

'सुखदुःखसमुत्पत्तिः' इति. सत्वगुणके बढवे-घटवेसों जाको तर-तमभाव अर्थात् बढनों-घटनों होवे एसी जो अन्तःकरणकी वृत्ति वासों 'लौकिकसुख' कहे हें. एसें ही तमोगुणके बढवे-घटवेसों तर-तमभाववारी अन्तःकरणकी वृत्ति 'लौकिकदुःख' कहावे हे. इन वृत्तिरूप सुख-दुःखन्की उत्पत्ति तो परमतवारे हु माने हें तासों यामें विवाद नहीं हे. नैयायिकादिक ब्रह्ममें सुख नहीं मानें हें. तासों ब्रह्मसुखकी हु कोई उत्पत्ति मानले ताको निरास करे हें ''ब्रह्मसुखात् पृथग्'' इति. ब्रह्मसुखसों लौकिकसुख न्यारो हे. ब्रह्मसुख उत्पत्तिवारो नहिं हे. एसें ही अविद्याके उपासक जे असुर हें उनको अन्धतममें प्रवेश होवे हे. नित्य जो ब्रह्मानन्द हे वाके तिरोभावकों ही 'अन्धतम' कहे हें. नित्यानन्द तिरोभावरूप हे. ताहीसों उत्पत्तिरहित होयवेके कारण वो नित्य हे. अर्थात् असुरन्कुं अन्धतमप्रवेश सदा ही रह्यो आवे हे. एसें ही लज्जा, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, प्रीति आदि जे भगवद्धर्मसों जुदे मनके धर्म हें उनकी उत्पत्ति होवे हे।।१३८।।

यद्यपि भगवान्के धर्म इच्छादिक तथा मनके धर्म इच्छादिक तुल्य ही प्रतीत होय हें तथापि उनको समान नहिं समुझनो. कपूर तथा कपास दोउ एकसे सफेद हें तथापि बुद्धिवान् पुरुष विनकुं एक

भगवद्धर्माः मनोधर्माश्च तुल्या भवन्ति, नतु एकविधाः. नित्या भगवद्रूपा भगवद्धर्माः. अनित्याः कार्यरूपा मनोधर्माः इति. अनेन ''सोऽकामयत'' (तैत्ति.उप.१।२।६) इत्यत्र दोषः परिहृतः।।१३९।।

एवं सर्वेषां तुल्यताम् उपपाद्य घटादीनामपि ब्रह्मत्वात् नित्यता इति वक्तुं युक्तिम् आह **आविर्भाव-तिरोभावौ** इति.

नहिं माने हे एसें ही भगवान्के धर्म जे इच्छा आदि हें वे नित्य हें, भगवद्रूप हें. मनके धर्म जे इच्छा-द्वेषादिक हें वे कार्यरूप हें, अनित्य हें.

तहां कितनेक एसी शङ्का करें हें "सोऽकामयत" (पूर्वत्) या श्रुतिमें बहुतरूप होयवेके अर्थ भगवान् इच्छा करते भये एसो लिख्यो हे सो केसे बन सके? इच्छा तो विकार हे तथा अनित्य पदार्थ हे? भगवान् यदि इच्छा करते होंय तो भगवान् हु इच्छावारे होयवेसों विकारी भये इत्यादि शङ्का करे हें.

ताको हु ये ही समाधान हे. अर्थात् भगवान्के धर्म इच्छा आदिक हें वे लौकिक कार्यरूप अनित्य धर्मन्सों न्यारे हें, तथा नित्य हें, भगवद्रूप हें. या प्रकार ही अवतारादिकमें हु इच्छा, प्रीति, लज्जा आदि धर्म हें वे हु नित्य अविकारी आविर्भाव-तिरोभाववारे नित्य हीहें।।१३९।।

या प्रकार सब पदार्थन्की उत्पत्ति-लयवारे होयवेके कारण तुल्यता बतायके घट-पटादि सब पदार्थ ब्रह्मरूप हें तासों नित्य हें ये बात सिद्ध करिवेके अर्थ उत्पत्ति-नाशादिकन्के स्वरूपको निर्णय करिवेवारी युक्तिकुं आज्ञा करें हें 'आविर्भाव-तिरोभावौ' इति.

करणस्थित जो कार्य ताकुं कारणसों बाहिर प्रकट करिवेवारी

भक्त्या त्वाद्यो द्वितीयस्तु तदभावाद् हरौ सदा।।१४०।।

आविः प्रकटं भावयति इति आविर्भावः. आविर्भवनं वा धर्मः. तथा तिरोभवनम्. एते भगवतः शक्ती, अनन्तशक्तित्वाद् भगवतः. अन्यथा बीजादिपरिणामानां देहादिभावे को हेतुः स्यात्? तस्माद् भगवच्छक्तिरेव कारणत्वेन वक्तव्या धर्माद् धर्मिसिद्धौ कारणं भवति.

(अत्र इदं प्रतिभाति. द्वितीयपक्षे आविर्भावनरूपाद् धर्मादेव घटादेः आविर्भावरूपधर्मसिद्धौ सत्याम् आविर्भावरूपधर्मएव कारणम्. ननु अस्य धर्मरूपत्वाद् धर्म्याश्रयो वाच्यः.

निमित्तकारण तथा उपादान कारणमें रहिवेवारी शक्तिसों 'आविर्भाव' कहे हें. एसें ही तिरोभाव करिवेवारी जे शक्ति सो 'तिरोभावशक्ति' कहावे हे. अथवा कार्यमें जो प्रकट होयवेकी सामर्थ्य हे वो 'आविर्भाव' कहावे हे तथा कार्यमें जो तिरोभूत होयवेकी सामर्थ्य हे वो 'तिरोभाव' कहावे हे. ये दोउ भगवान्‌की शक्ति हें. ''परास्य शक्तिः'' (श्वेता.उप.६।८) इत्यादि श्रुतिन्‌में भगवान्‌कुं अनन्त शक्तिवारे वर्णन किये हें. यदि कारणमें आविर्भाव शक्ति नहिं होय तो बीज वृक्षरूप केसे हो जाय हे? तथा वीर्य देहरूप केसे हो जाय हे? तासों उन-उन बीज-वीर्यादि कारणमें रहिवेवारी अपनें-अपनें कारणके ही आकारके कार्यकुं प्रगट करिवेवारी भगवान्‌की आविर्भावशक्ति अवश्य माननी. वो ही शक्ति वीर्यादिकन्‌कुं देहादि रूप करके परिणाम करिवेमें कारण हे. यामें श्रीभागवत एकादशस्कन्धमें ''शक्तिभिर्दुर्विभाव्यभीर् रचितावयवा हरेः'' (भाग.पुरा.११।७।५८) इत्यादि वचन हु प्रमाण हें.

दूसरे पक्षमें : प्रगट होनो तथा तिरोहित होनो 'आविर्भाव'-'तिरोभाव' शब्दन्‌को अर्थ होय हे. ये दोउ धर्म घटादि कार्यमें रहे हें. घटादिकन्‌के प्रति आविर्भावधर्म ही कारण हे. ये दोउ भगवच्छक्ति हें तासों नित्य हें. तथा घटादि पदार्थ हु नित्य ही हें. उनके आश्रय ही ये दोउ धर्म रहे आवे हें.

तथा सति घटादेरपि पूर्वसत्वाद् आविर्भाव-तिरोभावयोरपि भगवच्छक्तित्वेन नित्यत्वात् सदैव आविर्भाव-तिरोभावापत्तेः नैवं पक्षः साधीयान्. तत्र आह अन्यथा इति. इच्छाशक्तिसहकारेण अनुपपत्तिपरिहारः, स्वमते उक्तन्यायेन सर्वेषां हरिरूपत्वाद्. अद्वैतश्रुतिः अत्र साधिका). अन्यथा उत्पत्तिपक्षेऽपि दोषः तुल्यः.

उत्पत्तिः नाम कश्चन धर्मः. सः कस्मिन् धर्मिणि भवेद्? इति. अनवस्था च स्यात्. कालसम्बन्धोऽपि धर्मः. अतो यः कश्चिन् निरुच्यतां सः अवश्यं धर्मएव भवतीति धर्मी पूर्वसिद्धो वक्तव्यः. ''घटो भवति'' इति कर्तरि प्रयोगश्च अनुपपन्नः

स्यात्. 'भू'सत्तायाम् इति धात्वर्थश्च असङ्गतः स्यात्. ''अनुत्पन्नो घटो''ह्न''नष्टो घटः'' इति व्यवहारश्च असङ्गतः स्यात्.

तहां आविर्भाव-तिरोभाव नित्य हें तो सदाही घटादिकन्के आविर्भाव-तिरोभाव होते रहने चहिये

एसी शङ्का नहीं करनी. क्योंके जेसे आविर्भाव-तिरोभाव शक्ति हे तेसे भगवान्की इच्छाशक्ति हु सब शक्तिन्सों प्रबल शक्ति हे. तासों भगवान्की इच्छा सहित ही आविर्भाव-तिरोभावशक्ति पदार्थन्को प्राकट्य तथा तिरोधान कर सके हे.

तथा उत्पत्ति मानिवेवारेन्के मतमें हु उत्पत्तिधर्म कोन धर्मीमें रहे हे? तासों धर्मीकुं नित्य माननो तथा उत्पत्तिकी उत्पत्ति तथा वाकी हु उत्पत्ति मानिवेरूप अनवस्थादोष हु उनके मतमें आवे हे. किञ्च, घटादि धर्मी पदार्थन्कुं नित्य नहीं मानेंगें तो ''घट नष्ट हे'' ''घट उत्पन्न नहिं भयो हे'' ''घट होवे हे'' इत्यादि व्यवहार हु नहिं बन सकेंगे. क्योंके उत्पन्न नहिं भयो तथा फूट्योभयो जो घडा वाकुं 'फूट्यो' एसे ही कहि सकेंगें ''फूट्यो भयो घडा हे'' एसें नहिं कहि सकेंगें. तासों जा समयमें घडा उत्पन्न नहिं भयो अथवा फूटगयो वा समयमें हु कारणमें छिप्यो भयो घडा जरूर रहे हे. तासों धर्मीकुं

अतो धर्मी सदातनो वक्तव्यः. स भगवानेव भवति, न अन्यः इति. अद्वैतश्रुतेश्च धर्मिणा भगवत्वम् अङ्गीकर्तव्यम्. तदनु धर्माणामपि तेनैव न्यायेन भगवत्वं सेत्स्यति. अतो भ्रान्तानां बालानां विचारसामर्थ्याभावात् शब्दार्थौ उल्लङ्घ्य उत्पत्त्यादिनिरूपणं न दूषयामः. **मुरवैरिणः** इति. मुरो दैत्यः पापात्मकः. तन्निवर्तनार्थम् आविर्भावो भगवतः. तथा सर्वत्र सर्ववस्तुस्वरूपेण तदनुद्गमे प्राप्तदोषपरिहारार्थं तदुद्गमः इति सूचितम्. दुःखन्तु निर्वृत्यभावइति तिरोभावफलत्वात् न व्यभिचारः.

एवं सति सर्वसाधनवैयर्थ्यम् आशङ्क्य शक्तिद्वयस्य तदधीनत्वं वक्तुम् आदितः आरभ्य निरूपयति **भक्त्यात्वाद्य** इति.

सनातन ही समुझनो. धर्मी हे सो भगवान् ही हे, उन सिवाय धर्मी ओर नित्य नहीं होय सके हे. तथा दियासों दियाको उजास अलग नहिं होय सके हे तेसें धर्म हु धर्मीसों जुदो नहीं हे. तासों धर्म हु भगान्को ही रूप हे. या प्रकार सर्व जगत् भगवद्रूप हे तथा कारणरूप करके नित्य हे. तासों भ्रमवारे बालकन्की विचार करिवेकी सामर्थ्य नहिं हे. तासों शब्दार्थको उल्लङ्घन करिके मनमाने उत्पत्ति-नाश पदके अर्थ करें हें. तासों उनके मतमें हम दूषण हु नहिं दे हें. जेसें पापरूप मुरदैत्यकुं दूर करिके 'मुरारि' नामसों प्रसिद्ध भये एसें ही सर्वत्र जगत्में प्राप्त भये अनित्यत्वादि दोषन्कुं दूर करिवेके अर्थ सब पदार्थन्के स्वरूप धारण करिके भगवान् प्रगट होयके सर्वात्मा-सर्वरूप कहावे हें.

आविर्भाव-तिरोभाव स्वतः ही सब पदार्थन्के होते रहे हें तब तो भगवान्को हु आविर्भाव स्वतः ही होय जायेगो तथा लौकिक कार्यको हु आविर्भाव होय जायेगो, फिर शास्त्रमें लौकिक-अलौकिक साधन क्यों वर्णन किये? या शङ्काकुं दूर करते भये आविर्भाव-तिरोभाव भगवान्के आधीन हें ये बात सिद्ध करते भये भगवान्के आविर्भाव-तिरोभावसों लेके जितनें पदार्थ हें उनके आविर्भाव-तिरोभावको निरूपण करें हें.

भक्त्यैव भगवान् आविर्भवति. तच्च यस्य भक्त्या आविर्भावः सा भक्तिः यादृशी देशकालयुक्ता तत् तिरोभावे तिरोभवति नतु अवतारेष्वपि अन्यः प्रकारः इति अर्थः।।१४०।।

अन्येषु आह **सर्वाकारस्वरूपेण** इति.

सर्वाकारस्वरूपेण भविष्यामीति या हरेः।।
वीक्षा यथा यतो येन तथा प्रादुर्भवत्यजः।।१४१।।

तत्तदाकारस्वरूपेण घट-पटाद्याकारेण यस्मिन् देशे येन प्रकारेण येन साधनेन यथा आविर्भावेच्छा तथा सर्वं सम्पाद्य आविर्भवति इति अर्थः।।१४१।।

तत्र निदर्शनम् आह **मृदादि** इति.

मृदादिभगवद्रूपं घटाद्याकारसंयुतम्।।

तहां मूलभूत आविर्भाव-तिरोभावकी प्रनाड़ी दिखावे हें 'भक्त्यात्वाद्यः' इति. भगवान्को आविर्भाव भक्तिसों ही होय हे. वो भक्ति जेसे देश-काल भक्तिके अनुकूल हें वेसे देश-काल सहित होय तब वासों भगवान्को आविर्भाव होय हे. वाके तिरोभावमें भगवान् तिरोहित हो जावे हें. देश-काल भक्तिके अनुकूल नहीं होंय तो बाहिरसों तिरोभाव होयकें हृदयमें आविर्भाव होय जाय. धर्मकी रक्षा करिवेके अर्थ, असुर मारिवेके अर्थ भगवान् प्रकट होवे हें तब हु भक्तिकरकें ही होवे हें. जेसें हिरण्यकशिपुकुं मारिवेके अर्थ नृसिंहजीको आविर्भाव प्रह्लादजीकी भक्तिद्वारा ही भयो हतो।।१४०।।

एसें ही अन्य पदार्थन्में हु आविर्भाव-तिरोभावको वर्णन करे हें. जा-जा आकारसों अर्थात् घट-पट आदि आकारसों जा देशमें, जा प्रकारसों, जा साधन करकें प्रकट होयवेकी भगवान्की इच्छा होय हे वेसे सब साधनन्कुं सिद्ध करकें उनके द्वारा आप प्रकट होत हें।।१४१।।

तहां दृष्टान्त देत हें : जेसें मृत्तिकासों घटको आविर्भाव होयहे.

मूलेच्छातस्तथा तस्मिन् प्रादुर्भावो हरेस्तदा।।
तिरोभावस्तथैव स्याद् रूपान्तरविभेदतः।।१४२।।

मृदि घटादयो यावन्तो भविष्यन्ति ते सर्वे कारणत्वेन वर्तन्ते इति अङ्गीकर्तव्यम्. अन्यथा ततः प्रादुर्भावो न उपपद्येत. ततः सामर्थ्यं भगवत्वेन सङ्गच्छते. अतो मृदादिकं भगवद्रूपमेव. घटादिकार्यं च तत्रैव लीनं तिष्ठति. तदपि भगवद्रूपं प्रपञ्चस्थानीयम्. ततः किम्? अत आह **मूलेच्छातः** इति. पुरुषोत्तमेच्छातः. तथा तयैव आनुपूर्व्या कार्यरूपहरेरेव प्रादुर्भावः इति अर्थः. यथा नटः सहस्राणि रूपाणि गृह्णाति क्रमशः तथा अत्रापि कटक-मुकुटादयः.

एवम् आविर्भावं निरूप्य तिरोभावं निरूपयति **तिरोभावः** इति. "तिरोभविष्यामि" इति या इच्छा यथा येन तथा तत्र तिरोभवति,

---

अर्थात् मृत्तिकामें जितने घडा उत्पन्न होयवे वारे हें वे सब कारणता करिके मृत्तिकामें विद्यमान हें ये माननो आवश्यक हे. यदि एसें नहीं होय तो मृत्तिकासों घडान्को

उत्पन्न होनों नहिं बन सकेगो. मृत्तिका आदि कारणमें घटादि कार्यके प्रादुर्भाव करिवेकी जो सामर्थ्य हे सो कारणकुं भगवद्रूप मानिवेसों सङ्गत होवे हे. तासों मृत्तिका आदि पदार्थ भगवद्रूप ही हें. घटादि कार्य हु मृत्तिकामें ही लीन रह्यो आवे हे. वो घटादि कार्य हु प्रपञ्चस्थानीय भगवद्रूप हे. जब मूलरूप पुरुषोत्तमकी इच्छा होय हे तब वेसी रीतिके ही दण्डादि साधनन्के द्वारा कुम्भकारके व्यापारकरकें घटरूप-कार्यात्मक भगवद्रूपको आविर्भाव होय हे. जेसें नट क्रमसों अनेक रूपकों धारण करे हे तेसें भगवान् हु सुवर्णादिकन्मेंसों कटक-मुकुट-कुण्डलादि अनेक रूप धारण करके प्रकट होवे हें.

एसें ही जब जा प्रकार करकें जिन साधनन् करकें तिरोभूत होयवेकी इच्छा होय हे तब वा प्रकारके उन साधनन् करके आप तिरोभूत होवे हें. परन्तु पपञ्चमें आपके एक रूपको तिरोभाव होय तहां दूसरे रूपको अवश्य आविर्भाव हो जावे हे. जेसें बीजरूपको परं तत्र रूपान्तराविर्भावावश्यकत्वम्. इयानेव भगवतः सकाशात् प्रपञ्चे विशेषः. तत्र तिरोभावेन रूपान्तराविर्भावः. दाह-शोषादावपि रूपान्तरम् इति मतम्. अथवा सर्वथा भगवता तुल्यता. वक्ष्यति च अग्रे अखण्डं **कृष्णवत् सर्वम्** इति।।१४२।।

वृद्ध्यादीनां स्वरूपाम् आह **वृद्धिः** इति द्वाभ्याम्.

वृद्धिर्विपरिणामश्च तथाऽपक्षय एव च।।
पूर्वरूपतिरोभावो द्वितीयस्यादिमस्तथा।।१४३।।
उभावेकीकृतौ लोके वृद्ध्यादिभिरुदीरितौ।।

तिरोभाव होते ही दूसरो अङ्कररूप उत्पन्न हो जावे हे. जेसे नट जहां तांई अपने चरित्रकुं करनों चाहे तहां तांई पूर्व रूप छिपायके शीघ्र ही दूसरे रूपकों प्रकट करे हे, नाहर दीखतो भयो ही जब हाथी दीखवे लगे हे तब देखिवे वारेन्कुं बडो आश्चर्य होय हे. तेसे यहां हु अङ्कुर दीखतो भयो ही थोडे कालमें वृक्ष दीखवे लगे हे ये ही मूलरूप भगवान्सों प्रपञ्चरूप भगवान्में विशेषता हे. मूलरूपमें दूसरे रूपके आविर्भाव करिवेकी आवश्यकता नहिं. जहां तांई भगवान् जगत्को विस्तार करनों चाहे हें ताहां तांई पूर्व-पूर्व रूपके तिरोभावके साथ ही दूसरे-दूसरे रूपको अविर्भाव करते रहे हें. एसें ही जब वस्तु जरि जावे हे तब दूसरो भस्मरूप प्रकट होय जावे

हे. लोक्रप्रतीति मान करकें अनित्य-जड वस्तुके आविर्भाव-तिरोभाव 'उत्पत्ति'-'नाश' शब्दन्सों कहे जाय हें. नित्य परिच्छिन्न जीवके आविर्भाव-तिरोभाव 'समागम'-'निर्गम' शब्दसों कहे जावे हें. नित्य अपरिच्छिन्न भगवदवतारके आविर्भाव-तिरोभाव 'प्राकट्य'-'तिरोधान' शब्द करकें कहे जाय हें. या जगत्की भगवान्के साथ तुल्यता ''अखण्डं कृष्णवत्सर्वम्'' या श्लोकके व्याख्यानमें कहेंगें।।१४२।।

पहिलेके रूपसों अधिक परिमाणवारे दूसरे रूपके आविर्भावकों 'वृद्धि'=बढनों कहे हें. पहिले रूपके परिमाणसों न्यून परिमाणवारे दूसरे

परिमाणाधिक्यतश्च वैजात्यान् न्यूनभावतः।।१४४।।

वृद्धौ अग्रिमं रूपं परिमाणतः अधिकम्. अपक्षये न्यूनम्. विपरिणामे विजातीम् इति विशेषः।।१४३-४४।।

एवं कार्यरूपं निरूप्य वेदविरोधपरिहारार्थम् आह **मनश्चान्नमयम्** इति.

मनश्चान्नमयं वेदे तदस्माकम् अथापि वा।।
पोषितत्वत् तदन्नेन तद्रूपेणोपवर्ण्यते।।१४५।।

''अन्नमयं हि सौम्य मन, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाग्'' (छान्दो.उप.६।६।५) इति श्रुतेः. अत्र च अहङ्कारकार्यत्वेन मनो निरूपितम्. तत्र सिद्धान्तद्वयं वेदनिरूपणप्रकाराद् अवगम्यते. तद् आह तदस्माकम् इति. अथवा पञ्चदशोपवासाः कारिता इति. अन्नेन पोषणमेव अभिप्रेतम्।।१४५।।

रूपके आविर्भावसों 'ह्रास'=घटनों कहे हें. पहिले रूपसों विलक्षण दूसरे रूपके आविर्भावकुं 'परिणाम'=बदलजानों कहे हें, जेसें दुग्धको दधिरूपसों परिणाम हो जावे हे. या प्रकार जायते, वर्द्धते, विपरिणमते इत्यादि ६ भावविकार हु आविर्भाव-तिरोभावन्में ही गतार्थ हें।।१४३-४४।।

शङ्का : ''एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च'' (मुण्ड.उप.२।१।३) या श्रुतिमें ब्रह्मसों मनकी उत्पत्ति लिखी हे. ''अन्नमयं हि सौम्य मनः''

(छान्दो.उप.६।५।४) या श्रुतिमें मनकुं अन्नमय वर्णन कियो हे. दोउ केसे सम्भव सके हे?

उत्तर : अहङ्कारकार्यसों अतिरिक्त अस्मदादिकन्के मनकुं अन्नमय समुझनो. अथवा आरुणि ऋषिने 'श्वेतकेतु' नामवारे शिष्यकुं पञ्चदश उपवास कराये तब मन सूक्ष्म होय गयो. फेरि अन्न भक्षण करिवेसों मन बढतो चल्यो गयो इत्यादि कथासों मालूम पडे हे के अन्नसों मन पुष्ट होवे हे. अन्नके नहिं खायवेसों मन सूक्ष्म होय जावे हे. तासों मनकुं अन्नमय कह्यो हे।।१४५।।

एवं सर्वत्र प्रकारभेदे समाधानम् अतिदिशति **एवम्** इति.

एवं सृष्टिप्रभेदेषु कल्पेषु च तथैव च।।
प्रकारभेदा दोषाय न भवन्ति तदिच्छया।।१४६।।

अनेकधा भगवान् कार्यं करोतीति सृष्टिभेदानाम् उक्तत्वात् तथा वा समाधानम्।।१४६।।

एवं प्रमेयं निरूप्य प्रत्यक्षबाधनिराकरणार्थं लौकिकप्रत्यक्षादेः अप्रमाणत्वम् आह **इन्द्रियाणाम्** इति.

इन्द्रियाणां प्रमाणत्वं सत्वयोगान्न चान्यथा।।
सत्वस्य तारतम्येन याथार्थ्यं वस्तनः स्फुरेत्।।
अतः प्रमाणगणना लोकेषु न विचार्यते।।१४७।।

सत्वसहिता बुद्धिः प्रमाणम्. सत्ववृद्धौ अन्तःकरणं प्रमितिं जनयति. "सत्वात् सञ्जायते ज्ञानम्" (भग.गीता.१४।१७) इति.

या प्रकार भगवान् अनेक कल्पन्में अनेक प्रकारसों सृष्टि करे हें. न्यारे-न्यारे प्रकारसों सृष्टिके भेद न्यारे-न्यारे कल्पके अनुसारी हें. तासों उनमें विरोध हु नहिं आवे हे. ये भेद परस्पर सृष्टिमें विचित्रता दिखायवेकी इच्छा करकें किये हें।।१४६-४७।।

शङ्का : सब ही प्रमाणवादीन्के मतमें प्रत्यक्षप्रमाणकुं सब प्रमाणन्सों प्रबल मान्यो हे. जगत्कुं नित्य माननों ये बात प्रत्यक्षप्रमाणसों विरुद्ध हे. प्रत्यक्षमें जगत्के पदार्थ अनित्य-नाशवारे दीखे हें.

उत्तर : सत्वगुण सहित ही बुद्धि प्रमाण हे. सत्वगुण बढे हे तब अन्तःकरण यथार्थज्ञानकुं उत्पन्न करे हे. ''सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानम्'' (पूर्ववत्). अर्थःसत्वगुणसों ज्ञान प्रकट होय हेह्नएसो भगवद्वाक्य हे. सत्वगुणके लय भयेसों ज्ञान प्रकट करिवेवारी सामग्री जे इन्द्रियादिक हें वे हु भ्रमकुं उत्पन्न करिवे लगे हें. तासों सत्वगुण ही प्रमाण हे. सत्वगुणको कार्य ही प्रामाणिक हे. रजोगुण तो लौकिक व्यवहारको उपयोगी हे.

अन्यथा सत्त्वलये साएव सामग्री भ्रमं जनयति. अतः अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां सत्वमेव प्रमाणम्. तत्कार्यमेव प्रामाणिकम्. रजस्तु व्यावहारिकम्. तमस्तु अप्रमाणमेव. अतः अन्यमिश्रणे तारतम्येन वस्तुयाथात्म्यस्फुरणम्. अतो लोके चक्षुषः कदाचित् प्रामाण्यं कदाचित् नेति व्यवस्थाभावात् लोकेन प्रमाणगणना नैयायिकादिभिरिव न अस्माभिः कृता।।१४७।।

व्यवहारार्थं कर्तव्या, इति चेत्, न इति आह व्यवहारः **सन्निपातः** इति.

व्यवहारः सान्निपातो गुणानां स च लौकिकः।।
शास्त्रसिद्धेः पूर्वसिद्धः प्राणिमात्रस्य सर्वतः।।१४८।।

लौकिक व्यवहारमें अर्थात् रजोगुण संयुक्त इन्द्रियन्सों जो भेद सहित नानापदार्थन्को ज्ञान होय हे वो लोकव्यवहारको निर्वाहक हे. तमोगुण तो अप्रमाण ही हे. रजोगुण-तमोगुणके मेल होयवेसों जेसें-जेसें सत्वगुण घटतो जावे हे तेसें-तेसें यथार्थ ज्ञानमें हीनता होती चली जावे हे. जेसें शुद्धसत्वसों यथार्थ ज्ञान, सत्व-रजसों लौकिक ज्ञान, रज-तमकरकें दबाये भये सत्वसों सन्देह तथा तमोगुणके अधिक होयवेसों भ्रम उत्पन्न होवे हे. याहीसों लोकमें कबहु नेत्रन्सों यथार्थ रस्सी दीखे हे, कबहु उनही नेत्रन्सों रस्सीमें सर्पको भ्रम हो जाय हे. या प्रकार इन्द्रियादिककी यथार्थ व्यवस्था नहिं हे तासों न्यायमतके समान प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमानादि

प्रमाणन्की गणना हम नहीं करें हें. क्योंके रजोगुणमिश्रित लौकिक ज्ञानको परमार्थ दशामें कछु उपयोग नहीं हे।।१४७।।

कदाचित् कहोगे के लौकिकव्यवहार चलवेके अर्थ तो प्रत्यक्षादि प्रमाणन्की गिनती करनी चहिये?

उत्तर : "व्यवहारः सन्निपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः" (भाग.पुरा.११।२।५६) इत्यादि भगवद्वाक्यसों लौकिकव्यवहार तो सन्निपातरूप हें. सन्निपातको कार्य प्रमाण नहिं होवे हे.

नहि सन्निपातकार्यं प्रामाणिकम्. तर्हि शास्त्रीयमपि सन्निपातकार्यं भविष्यति? इति आशङ्क्य आह **स च लौकिकः** इति. औषधात् जायमानो भावो न सन्निपातकार्यम्. अतः शास्त्रसिद्धेः पूर्वसिद्धएव सन्निपातः. लौकिकत्वं ज्ञापयति **प्राणिमात्रस्य सर्वतः** इति. सर्वप्राणिसाधारणो भावो व्यवहारो लौकिकएव।।१४८।।

तत्रापि सदसद्भेदाः सन्ति इति आह **तस्य त्रिविधरूपत्वाद्** इति.

तस्य त्रिविधरूपत्वात् नाममात्रेण सा प्रमा।।

तस्माद् वेदादिरेवात्र प्रमाणं तच्च कीर्तितम्।।१४९।।

उपसंहरति **तस्माद्** इति. वेदस्यैव, वेदादेरेव प्रमाण्यात् तदनुसारेणैव

शङ्का : जेसें लौकिकव्यवहार मन, मात्रा इन्द्रियादिसों होवे हे तेसें शास्त्रमें कहे यज्ञ, श्राद्ध, उपासनादिक हु मन, इन्द्रियादिकन्सों ही होय हे. इनकुं हु सन्निपातरूप अप्रामाणिक ही माननें?

उत्तर : सन्निपातके रोगीकी औषध लिये पूर्वकी जो कुचेष्टा हें वे ही सन्निपातको कार्य समुझी जावे हे. सन्निपातनाशक औषधि लिये पीछे जे चेष्टा हें वे सन्निपातको कार्य नहिं समुझी जावें हें. एसे ही पहिलीसों हो रह्यो जो सब प्राणी, पशु आदिकन्के समान "ये में"-"ये मेरो" इत्यादि लौकिकव्यवहार वो ही सन्निपात हे. क्योंके "अहमित्यन्यथाबुद्धिः प्रमत्तस्य यथा सदा, मनसो हृदि वर्तेत रजोवेगविमोहिता"

(भाग.पुरा.११।१३।९) इत्यादि भागवतवके वचनसों रजोगुणके वेगकरकें मोहित मनके कार्यकुं ही सन्निपातकार्य कह्यो हे. वेदशास्त्रसिद्ध जे यज्ञादिक व्यवहार हें वे तो रजोगुण प्रेरित मनके कार्य नहिं हें किन्तु शास्त्र विधिप्रेरित हें. तासों औषधवत् सन्निपात निवर्तक हें, सन्निपात कार्य नहिं हें. लौकिकव्यवहारमें हु तीन भेद हें. वे एकादशस्कन्ध भागवत पञ्चविंशाध्यायमें "प्रवृत्तिलक्षणे निष्ठा" (भाग.पुरा.११।२५।) इत्यादिश्लोकन्मों कहे हें. तासों "जीवो जीवेन निर्मुक्तो" () इत्यादि वाक्यन्सों लौकिक व्यवहार नाममात्र करके प्रमाण हे, परमार्थमें प्रमाण

प्रमेयस्य निरूपितत्वात् लौकिकविरोधाभावाच्च सर्वं सुस्थम्।।१४९।।

वेदस्यापि प्रमेयत्वं वक्तुं प्रपञ्चान्तरम् आह **अपश्चीकृतरूपंहि** इति.

अपश्चीकृतरूपं हि सूत्रमात्रं हरिः स्वयम्।।
सुषुम्णामार्गतो व्यक्तः शब्दब्रह्मप्रकाशते।।१५०।।

भगवान् पञ्चात्मको रूपप्रपञ्चकर्ता "अधिष्ठानं तथा कर्ता" (भग.गीता१८।३४) इति वाक्यात्. कालः, कर्म, स्वभावश्च माया, भगवांश्च इति. तथा नामप्रपञ्चे न अपेक्षते, किन्तु सूत्रमात्रम् अत्र कारणम्. "स एष जीवः" (भाग.पुरा.११।१२।१७) इति. आसन्यरूपो भगवान् नामप्रपञ्चे हेतुः इति अर्थः. तस्य सृष्टिप्रकारम् आह **सुषुम्णामार्गतः** इति.

नहिं हें. तासों ही पूर्वप्रकरणमें शब्दरूप वेदादिकन्कुं ही प्रमाण कहे हें. वेदके अविरोधि जो होंय वो ही प्रमाण हें।।१४९।।

एसें रूपप्रपञ्चको वर्णन करिकें नामप्रपञ्चरूप वेदादिकन्को निर्णय करे हें. १.अधिष्ठान २.कर्ता ३.करण ४.कर्म तथा ५.दैव ये पांच रूपात्मक प्रपञ्चके प्रकट करिवेवारे हें. अर्थात् अधिष्ठान=माया, कर्ता=भगवान्, करण=कर्मक्रियास्वभाव, दैव तथा कालह्नया प्रकार पञ्चात्क भगवान् आदिसृष्टिमें पदार्थन्के प्रकट करिवेवारे हें. अवान्तरसृष्टिमें अधिष्ठान=शरीर, कर्ता=जीव, करण=इन्द्रिय, कर्म=विविधचेष्टा तथा दैव=भाग्य या प्रकार पाञ्च रूपवारे भगवान् सृष्टि करे हें. शब्दसृष्टि : इन पाञ्च रूपन् करकें रहित सूत्रात्मा भगवान्, जिनको महत्तत्वमें अवतार हे वो, आसन्य=प्राणरूप भगवत्स्वरूप शब्दसृष्टिके कारण हें.

शब्दसृष्टिको प्रकार दिखावें हें. सुषुम्णामार्गकरके शब्दब्रह्म प्रकाशित होवे हे. जेसें अवकाशमें काष्ठके घिसवेसों पवनकी सहायतासों बढी भई जो ऊष्मा-उष्णता अणुमात्र अग्निकणरूप होयके घृतादिकसों बढती भई चली जाय हे एसें ही शब्दसृष्टि करिवेकी भगवान्कुं इच्छा भई तब भगवान् जीवकी मुख्योपाधिरूप आसन्य सूत्रात्मा प्राणात्माहोयकेघोष अव्यक्तनादसहित हृदयमें प्रवेशकरके मनोमय सूक्ष्मरूपद्वारा प्रयत्नविशेषसोंहृदय,

तस्य व्यक्तस्यापि ब्रह्मत्वम् इति आह **शब्दब्रह्म प्रकाशते** इति।।१५०।।

तस्य अंशानामपि पूर्णता इति आह **पञ्चाशद्वर्णरूपश्च** इति.

पञ्चाशद्वर्णरूपश्च सूक्ष्मो नित्यो निरन्तरः।।

सर्वतोऽन्तोऽनन्तरूपो बहुरूपः स्वभेदतः।।१५१।।

षोडश स्वराः, स्पर्शाः पञ्चविंशतिः. यादयः अष्टौ, क्षकारः अन्तिमः. सन्ध्यक्षरत्वेऽपि पृथगुपादानं भिन्नश्रुत्या. ज्ञाक्षरस्यापि उपलक्षकः. अत्र अवान्तरभेदा बहवः सन्ति. क्वचित् चतुःषष्टिः वर्णाः, क्वचित् त्रिषष्टिः, क्वचिद् एकपञ्चाशद्, द्विपञ्चाशद् इति. तथापि मुख्यो मातृकाविद्यायां सिद्धः पक्षःपरिगृहीतः. वर्णाश्च नित्या व्यापकाः. सर्वेष्वपि देशेषु निरन्तराः.

कण्ठादि स्थानभेदसों मात्रा-स्वरादि स्थूलवर्णरूप वैखरी हो जाय हें. तृतीयस्कन्ध सुबोधिनीकी रीतिसों प्रकाशरूप जो अविकृत भगवान्को गुणरूप ज्ञान हे वोही घोषवान् प्राणरूप होयके वेदशरीरको ग्रहणकरेहे।।१५०।।

शब्दब्रह्मके अंश हु पूर्ण ही हें. अर्थात् पच्चास वर्ण हें सो शब्दब्रह्मके अंश हें. षोडश स्वर हें:अ, आ, इ, ई इत्यादि. २५स्पर्श हें:क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, सों लेके प्, फ्, ब्, भ्, म् पर्यन्त. अन्तःस्थ चार:य्, र्, ल्, व्. ऊष्मा चार:श्, ष्, स्, ह्. अन्तको अक्षर 'क्ष्' हे. ककार-षकार मिलेसों 'क्ष' बने हे. परन्तु याको श्रवण भिन्न हे तासों न्यारी-न्यारी गणना हे. 'क्ष' हे सो 'ज्ञ' कोहु उपलक्षक हे. अवान्तर अनुनासिकादि भेद बहुत हें. कोई ग्रन्थमें ४ तथा ६०वर्ण माने हें. कोईमें ६३, कहीं ५१ तो कोई ग्रन्थमें ५२ वर्ण मानें हें. तथापि मातृका विद्यामें सिद्ध जो पक्ष हे

वाको ग्रहण हे. भगवद्रूप होयवेसों सर्व वस्तु नित्य हे. तोहु व्यवहारमें आये क्, ख्, ग्, घ्, ङ् आदि वर्णन्की नित्यता सिद्ध करिवेके अर्थ 'वर्णाः' इति बहुवचनको प्रयोग कियो हे. जितने वर्ण हें सो सब नित्य तथा व्यापक हें. वर्ण यदि व्यापक नहिं होंय तो अनेक देशमें एक कालमें अनेक पुरुष उच्चारण नहिं कर सकते. सब ठिकाने सब वर्ण अनभिव्यक्तिस्थानेष्वपि विद्यमानाः. भगवानिव सर्वत्रान्तर्युक्ता अनन्तरूपाश्च. ते च स्वभावतएव बहुरूपाः. रूपतो भगवत्त्वम् उक्तम्।।१५१।।

भगवत्त्वप्रतिपादनाय विशेषम् आह **वर्णः** इति.

वर्णः पदं तथा वाक्यं तस्य नामत्रयं मतम्।।

त्रयं चाविकृतं लोके वेदे सर्वं स्वयं हरिः।।।।१५५।।

यथा सच्चिदानन्दभेदाः तथा वर्ण–वाक्य–पदभेदाः. तत्र वर्णाः नित्याः, पदानि च. वाक्यं लौकिकम् अनित्यम्. वैदिकन्तु नित्यम् इति विशेषः. तत्र हेतुः **स्वयं हरिः** इति।।१५२।।

अत्र केषाञ्चिन्मते पदान्येव अर्थवन्ति, न वर्णा, न वाक्यानि. वाक्यान्यपि इति केचित्. अस्मन्मतेतु वर्णाअपि अर्थवन्तः. ''वेदाक्षराणि यावन्ति'' इतिवाक्यात्.अतःप्रथमम्अक्षरपदयोःअर्थम्आह वर्णाः पदानि इति.

निरन्तर विद्यामान हें. कण्ठ, तालु आदि स्थानन्में प्राणवायुके आघातसों प्रकट होवे हें. अन्य ठिकाने जहां प्रकट होयवेकी साहित्य नहिं हे वहां हु विद्यमान हें. भगवान्के समान सर्वशक्तियुक्त हें, अनन्तरूपवारे हें. अर्थात् भगवान् जेसें बहुरूप एसें शब्द हु बहुरूपहें।।१५१।।

जेसें भगवान्में तीन भेद हें:सत्, चित् तथा आनन्द एसें शब्दमें हु वर्ण, पद तथा वाक्य ये तीन भेद हें. वर्ण–पद ये दोउ नित्य हें. लौकिक वाक्य अनित्य हें. क्योंके आधुनिक बुद्धिपरिकल्पित हें. लोकमें वाक्यके वर्ण तो नित्य ही हें. वैदिक वाक्य तो नित्य हें. वेदमें तो वर्ण–पद–वाक्य तीनों स्वयं हरि हें।।१५२।।

कोईके मतमें पद ही अर्थवारे माने हें. वर्ण–वाक्य अर्थवारे नहिं माने हें. कोईके मतमें वाक्यन्कुं हु अर्थवारे मानें हें. हमारे मतमें तो वर्ण हु अर्थवारे हें. ''वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजोत्तमैः, तावन्ति हरिनामानि कीर्तितानि न

संशयः'' इत्यादि वाक्यन्में वेदको एक-एक अक्षर भगवान्को नाम हे ये स्पष्ट लिख्यो हे.

वर्णाः पदानि सर्वाणि भगवद्वाचकत्वतः।।
सर्वार्थाण्येव सर्वत्र व्यवहृत्यै तथापि तु।।
शक्तिसङ्कोचतो लोके विशेषख्यापकानिवै।।१५३।।

सर्वेषां वर्णानां सर्वएव वाच्यः. तथा पदानाम्. तत्र हेतुः **भगवद्वाचकत्वतः** इति. भगवान् सर्वमिति, भगवान् वाच्यइति सर्वे वर्णाः पदानि च सर्ववाचकानि इति वस्तुस्थितिः. तथापि व्यवहारार्थं शक्तिसङ्कोचः कृतः. देशकालविभेदेन् अस्माभिः उच्चार्यमाणः अयं शब्दः इममेव अर्थं बोधयतु नतु अन्यम् इति सङ्कोचः. अतो लोके विशेषाख्यापकानि जातानि. तत्र 'सूपः' 'कूपो' 'यूप' इति अत्र वर्णानां तुल्यत्वेऽपि नानार्थप्रतिपादकत्वम्, व्यवहारसिद्धयै तथा अङ्गीकारात्.

सर्व वर्ण भगवान्के वाचक हैं. भगवान् सर्वरूप हैं तासों सब वर्ण तथा पद सर्ववस्तुके वाचक हैं परन्तु लोकमें 'जल' 'अन्न' 'वस्त्र' आदि पद यदि सर्वके ही वाचक माने जांय तो बुभुक्षित पुरुषके मुखसों ''अन्नं देहि'' एसो उच्चारण सुनिके वस्त्र दियो जाय तथा शीतातुर पुरुषसों ''वस्त्रं देहि'' एसो उच्चारण सुनिके जल दियो जाय तो लौकिक व्यवहार बिगड जाय तासों शब्दन्की सामर्थ्यकों सङ्कोच करके एक-एक दोय-दोय पदार्थके वाचक ही एक-एक शब्द मानें हैं. अर्थात् देश-कालके भेद करके उच्चारण कियो भयो ये शब्द या ही अर्थको बोध करावे अन्य अर्थको बोध मति करावे या रीतिको शक्तिसङ्कोच करे हैं. तासों जितनें शब्द हैं सब सङ्कुचित शक्ति होयके पदार्थ विशेषके वाचक हो गये. जेसे 'घट'शब्द सब ही पदार्थको वाचक हे परन्तु व्यवहार सिद्धिके अर्थ घडाको ही वाचक मानें हे. 'कूप' 'सूप' 'यूप' इन शब्दन्के अवयव जे वर्ण हैं वे केवल वर्णन्के समान हैं. तथापि एक-एक वर्ण एक-एक अर्थको प्रतिपादन नहिं करे हे. वेसे होय तो व्यवहार सिद्धि नहिं होय. व्यवहारार्थ पदमध्यपाति वर्णकों सर्वथा शक्तिसङ्कोच मानके, उनकुं अवाचक मानके पदकुं वाचक माने हैं. सर्वथा वर्णन्कुं अन्यथा 'अच्' प्रत्ययादेः अर्थो न स्यात्, धातोश्च. न च तयोः पदसञ्ज्ञा, विशिष्टयोरेव तथात्वात्. अतो व्यवहारस्य नियामकत्वान् न अतिप्रसङ्गः।।१५३।।

तत्रापि व्यवस्थाम् आह तत्र **व्याकरणादीनाम्** इति.

तत्र व्याकरणादीनां व्यवस्थापकता मता।।

देशे-देशे तथाचारो भाषाभेदैरनेकधा।।१५४।।

न केवलं कोशादिरेव नियामकः किन्तु उच्चारो भाषाभेदश्च. अतः सर्वम् उपपद्यते।।१५४।।

इदानीम् उत्तरोत्तरबलिष्ठत्वं वक्तुं पदे वर्णानाम् अवाचकत्वं, वाक्ये पदानाम् इति आह **अनन्तमूर्तयो वर्णाः** इति.

अनन्तमूर्तयो वर्णाः पदे तेनार्थवाचकाः।।

केवलाः कोशतो ज्ञेया वाचकाःपदतोऽथवा।।१५५।।

वर्णानां गौण-मुख्यभेदेन नानामूर्तित्वम्. तेन पदावयवभूता गौणाइति न अर्थवाचकाः, केवलाश्च वर्णा एकाक्षर-निघण्टादिभिः व्यवहारेऽपि अर्थवाचकाः. तेषां पदत्वं वा प्रत्ययरहितानाम् अर्थाज्ञापकत्वात्।।१५५।।

निरर्थक तो नहिं मानें हे. अन्यथा 'अच्' प्रत्ययादिकन्को तथा 'भू'आदि धातुन्को हु अर्थ नहीं होयगो. व्यवहार ही या विषयमें नियामक हे।।१५३।।

जब शक्तिसङ्कोच मान्यो तब घट-पटादिशब्दन्करकें कोन पदार्थन्की उपस्थिति होयगी? तहां व्यवस्था कोश, व्याकरणादिन् करकें कर लेनी. भाषाके शब्दन्के उच्चारणमें न्यारे-न्यारे देशके न्यारे-न्यारे भाषान्के भेदन् करके व्यवस्था करलेनी. या रीति सर्व व्यवहार बन सके हे।।१५४।।

वर्णसों पद बलिष्ठ हे. पदसों वाक्य बलिष्ठ हे. पदमें वर्ण वाचक नहिं हे. वाक्यमें पद वाचक नहिं हे. वर्ण अनन्तमूर्तिवारे हें. पदन्में जे वर्ण हें वे गौण हें. केवल जे वर्ण हें वे एकाक्षरकोशके अनुसार तथा निघण्टुद्वारा व्यवहारमें हु अर्थके वाचक हें वे मुख्यहें।।१५५।।

तथा वाक्येऽपि पदं न वाचकं, तर्हि सङ्केताग्रहेऽपि वाक्यार्थज्ञानं स्यात्, गौरवं च स्याद् इति आशङ्क्य आह **सादृश्यात् स्मारकं परम्** इति.

पदं न वाचकं वाक्ये सादृश्यात् स्मारकं परम्।।

विशिष्टं वाक्यमेवात्र वाक्यार्थस्य च वाचकम्।।१५६।।

वाक्यावयवभूतस्य स्वतन्त्रपदतुल्यत्वात् पदार्थस्मारकत्वम्. अन्यथा स्वार्थं प्रतिपाद्य कृतार्थत्वे वाक्यार्थो न तैः जन्येत. आकाङ्क्षादेः वाक्यशेषत्वात् प्रकृति-प्रत्ययोरपि न एकार्थवाचकत्वं स्यात्. पदार्थकरणपक्षेऽपि पूर्वपदार्थानां निवृत्तत्वात् पुनः उपस्थानं केन वा स्यात्? अविद्यमानानां वा कथं बोधकत्वम्? वाक्यार्थसमाख्याविरोधश्च. अतो वाक्यमेव वाचकम् इति आह **विशिष्टम्** इति. स्वावयवैः स्वावयवार्थम् इति चकारार्थः।।१५६।।

वाक्यानाम् आनन्त्यात् सङ्केतग्रहो दुर्लभः इति आशङ्क्य आह **पदान्तरप्रवशेन** इति.

पदान्तरप्रवेशेन विशिष्टे वाच्यवाचके।।
पटवद् वाक्यभेदश्च वाक्यार्थश्चापि भिद्यते।।१५७।।

वाक्यमें पद हु अर्थवाचक नहीं हे तहां वाक्यके पदन्कुं अर्थवाचक नहीं मानो हो तो जो पुरुष पदन्के अर्थन्कुं नहीं जाने हे वाकु हु वाक्यके अर्थको ज्ञान होनो चहिये एसी शङ्का नहीं करनी. वाक्यके अवयवरूप होय रहे जे पद हें वे उनके तुल्य स्वतन्त्रपदन्के अर्थन्कुं स्मरण करायवेवारे हें. उनके द्वारा वाक्यार्थको ज्ञान होय हे तासों वाक्यसदृश स्वतन्त्र पदन्के अर्थ जानिवेवारेन्कुं ही वाक्यार्थको ज्ञान होय हे. यदि वाक्यके अवयवरूप पदन्कों अपने-अपने अर्थन्के वाचक मानलें तो वे अपने-अपने अर्थकुं जनायके कृतार्थ हो जांय. फेरि वे पद वाक्यार्थकुं नहीं प्रकट करेंगे. तासों अन्वय सहित वाक्य हे सो वाक्यार्थको बोध करवे वारो हे. विवक्षित अर्थके बोधक पदन्के सम्बन्धकुं 'अन्वय' कहे हें।।१५६।।

तहां वाक्य अनन्त हें, उनमें सङ्केतको ज्ञान केसें होयगो?ये

"घटम् आनय" इति वाक्याद् "घटं शीघ्रम् आनय" इति भिन्नम्. एवम् आनन्त्येऽपि न दोषः. तत्र दृष्टान्तः **पटवद्** इति. द्वितन्तुकपटात् त्रितन्तुकः अन्यः. तथा उत्तरत्रापि. आरभ्यारम्भकवादस्य अनङ्गीकारात्. तथा अपूर्वत्वाद् वाक्यार्थस्य पूर्वसंसर्गाद् उत्तरस्य भिन्नत्वम्।।१५७।।

अवान्तराणां वाक्यानां स्मारकत्वं तथापरे।।
वाक्यमेकं हरिश्चैकोवेदवाक्यार्थरूपधृक्।।१५८।।

तथा महावाक्ये अवान्तरवाक्यानाम् अवाचकत्वम्, किन्तु पूर्ववत् स्मारकत्वमेव. एवम् अवान्तरभेदेन सर्वं निरूप्य सम्पूर्णवेदः एकं वाक्यं, तदर्थोऽपि एकएव इति आह **वाक्यमेकम्** इति.

तात्पर्यवृत्त्या तथात्वं वारयति **वाक्यार्थरूपधृग्** इति।।१५८।।

शङ्का नहीं करनी. क्योंके जेसें दो तन्तुके बुनेभये वस्त्रकुं पहिचानवेवारो तिहरे तन्तुके बुनेभये वस्त्रकुं हु पहिचानले हे एसे ही ''घटमानय''='घडाकुं लाव'' या वाक्यकुं जानिवेवारो 'शीघ्र' पदको प्रवेश करके ''शीघ्रं घटम् आनय''='जल्दी घडाकुं लाव'' एसो पहिलेके वाक्यसों न्यारो जो ये वाक्य हे वाके अर्थकुं हु जान जावे हे. या प्रकार क्रियापदन्के प्रवेश करकें भिन्न-भिन्न अनेक वाक्यन्के अर्थकुं हु अभ्यासके दृढ होयवेसों जान जावे हे।।१५७।।

या प्रकार महावाक्यमें अवान्तर वाक्य हु वाचक नहिं हे किन्तु पूर्वरीतिके अनुसार महावाक्यके जो वाक्य हें वे उनके सदृश स्वतन्त्र अन्य वाक्यन्के अर्थकुं स्मरण करायवे वारे हें. यदि अवान्तर वाक्यन्कुं हु वाचक मानोगे तो वे वाक्य अपने-अपने अर्थकुं जतायके निवृत्त होय जायेंगे, महावाक्यके अर्थकुं नहिं जातावेंगे. या प्रकार शब्दसृष्टिके अवान्तर भेदन्को निरूपण करिके घोष-नादरूप शब्दब्रह्म ही वर्ण, पद तथा वाक्य रूप होवे हे तासों परस्पर भेद नहिं हे ये बात दृढ कीनी. एवं सम्पूर्ण वेद हु एक महावाक्य हे तथा एक भगवान् ही वा वेदरूप महावाक्यार्थके धारण करिवेवारे हें।।१५८।।

अवान्तरेषु च तथा पदे वर्णे तथैव च।।
त्रयोपि वैदिका भिन्ना नाना धर्मयुतास्तथा।।१५९।।

तथा अवान्तरवाक्येषु अवान्तरवाक्यार्थरूपधृक्. एवम् उत्तरत्रापि. इदानीं लौकिक-वैदिकयोः वर्णादीनां वैजात्यम् आह **त्रयोऽपि वैदिका भिन्ना** इति. उदात्तादिधर्मयोगात् लोकव्यवहारवर्णादिभ्यो वैदिका भिन्नाः।।१५९।।

क्वचित् काव्यादौ वैदिकतुल्यता भासते तथापि न वेदत्वम् इति आह **सादृश्येपि न वेदत्वम्** इति.

सादृश्येऽपि न वेदत्वं तादृग्वाक्ये ततोऽन्यतः।।
अधिकारिविभेदेन धर्माधर्मौ तथा मतेः।।१६०।।

लोकवेदाधिकरणन्तु कल्पितमेव. जैमिनिना अनुक्तत्वात्. लौकिकानां वैदिकानां च इति भाष्यात्. ''मयड्वैतयोः भाषायाम्'' (पाणि.सूत्र४।३।१४३), ''द्व्यचश्छन्दसि'' (पाणि.सूत्र४।३।१५०)''सर्वत्र विभाषा गोः''(पाणि.सूत्र६।१।१२२) इत्यादिसूत्रकरणात् च. छन्दसि च लोकवेदयोः पृथग् निरूपणात्.

एसें ही अवान्तरवाक्यन्में अवान्तरवाक्यन्के अर्थ धारण करिवेवारे हु भगवान् हें. पदमें पदार्थरूप तथा वर्णमें वर्णार्थरूप हु भगवान् ही हें. लोकके जे वर्ण-पद-वाक्य हें उनसों वेदके वर्ण-पद-वाक्य न्यारे हें. क्योंके वैदिक वर्णन्में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचय, न्युब्ज इत्यादि अनेक भेद हें. तासों व्यवहारके वर्णन्सों वेदके वर्ण जुदे हें।।१५९।।

कोई-कोई काव्यके वर्ण वेदके वर्णन्के समान दीखें हे तथापि उन वर्णन्की वेदरूपता नहिं समुझनी. ''मयड्वैतयोर्भाषायाम्''(पाणि.सूत्र४।३।१४३) ''द्व्यचश्छन्दसि'' (पाणि.सूत्र४।३।१५०) इत्यादिसूत्रन्में लोकके शब्दन्को तथा वेदके शब्दन्को भिन्न-भिन्न निरूपण पाणिनि ऋषिनें कियो हे. लोकवेदाधिकरणमें भट्टवार्त्तिकमें जो लोक-वेदके शब्दको अभेद लिख्यो हे सो अप्रमाणिक हे. क्योंके जैमिनि ऋषिने कहुं हु लोक-वेदके शब्दन्को अभेद नहिं लिख्यो हे. वेदबुद्धिकरिके अधिकारी वेदको

अतः सादृश्येऽपि न वेदत्वम्. शूद्रादीनां वेदबुद्ध्या तथा पाठएव दोषः।।१६०।।

एवं भेदं निरूप्य ''वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'' (भग.गीता१५।१५) इति यथाश्रुतसिद्ध्यर्थं सर्वत्र वेदे भगवानेव अर्थः इति आह **प्रत्येकंपूर्णतावाक्ये** इति.

प्रत्येकं पूर्णता वाक्ये शाखाभेदेषु सर्वतः।।
दर्शादिषु तदङ्गेषु मन्त्रमात्रे तथैव च।।
हरिस्तत्तत्स्वरूपेण तस्मात् सर्वत्र वाचकः।।१६१।।

महावाक्यार्थरूपएव हरिः न अवान्तरवाक्यार्थरूपः इति निराकरणार्थं पूर्णता निरूप्यते. **शाखाभेदेषु** इति. शाखाभेदेष्वपि पूर्णता. एवम् उत्तरत्रापि. **तदङ्गेषु**

प्रयाजादिषु. "इषेत्वो" (तैत्ति.संहिता१।१।१।) इति मन्त्रमात्रे सिद्धार्थेऽपि. तत्र हेतुः **तत्तत्स्वरूपेण** इति।।१६१।।

पाठ करे तब वाकुं धर्म होय. अनधिकारी स्त्री, शूद्रादिक वेदबुद्धिकरिके वेदको पाठ करें तब उनकुं अधर्म होय.

या प्रकार लौकिकशब्दसों वैदिकशब्दकी उत्तमता सिद्ध करके याके आगें "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" (पूर्ववत्) या वाक्यके अनुसार सम्पूर्ण वेदमें भगवान् ही प्रतिपादित किये हें. यासों सम्पूर्ण वेदको अर्थ भगवान् ही हें ये निरूपण करें हें "प्रत्येकं पूर्णता" इति.

महावाक्यार्थरूप हरि हें तासों वेदके अवान्तर वाक्यार्थरूप हरि नहिं होयेंगे एसी शङ्का नहिं करनी. वेदके अवान्तर वाक्य हु पूर्ण ही हें. "विजज्ञौ इति ह स्माह शाण्डिल्यः" या श्रुतिमें उतने मात्र अवान्तर वाक्यके ज्ञानसों ब्रह्मवेत्ता होय जानो लिख्यो हे तासों शाखा भेदन्में हु पूर्णता समुझनी. कर्मकाण्डमें हु प्रयाज, अनुयाजादिकन्कुं पूर्ण ही समुझनो. "इषेत्वो" (पूर्ववत्) इत्यादि एक-एक मन्त्रके अर्थकुं हु पूर्ण माननो. भगवान् ही वेदमें वर्ण, पद, वाक्य, मन्त्र, शाखा, उपनिषदादिरूप करके वाचक हें. तत्तद्रूप भगवान्के खण्डशः प्रतिपादन करिवेवारे अवयवरूप पदन्कों हु सम्पूर्ण वेदात्मक महावाक्य वाच्य पूर्णब्रह्ममें ही तात्पर्य हे।।१६१।।

पुराणानामपि वेदतुल्यत्वम् अभिप्रेत्य आह **पुराणे च** इति.

पुराणे च ततोऽन्यत्र वाक्यार्थो बुद्धिकल्पितः।।
पदानाम् आनुपूर्वी तु तत्र कल्प्या ह्यनेकधा।।१६२।।

वेद-पुराणव्यतिरिक्तस्थले वाक्यार्थो बुद्धिकल्पितो, न भगवद्रूपः इति अर्थः. अतः तत्र विश्वासेन पुरुषार्थसिद्धिः, संसर्गस्य अपूर्वत्वात्, पदानुपूर्वीनानात्वाद् इति हेतुः।।१६२।।

कालिदासवाक्यानामपि बहुकालं स्थितिसिद्ध्यर्थम् आह **सर्वप्रतीतिनाशे तु** इति.

पुराणन्में हु याही रीति शब्द-अर्थ इन दोनोंन्कुं भगवद्रूप समुझनों. वेद-पुराणसों जुदे जितने वाक्य हें सब बुद्धिकल्पित हें. वेदके वाक्यमें तो पदन्की आनुपूर्वी सदा एकसी रहे हे तासों उन पदन्को सम्बन्ध हु सिद्ध ही हे. लोकमें तो पदन्के मिलायवेसों वाक्य बने हे तासों लौकिक वाक्य वेदवत् पुरुषार्थके साधक नहिं हें.

प्रश्न:जेसे पुरुषके प्रयत्नकरकें बने भये घटादिकन्कुं सर्वदा विद्यमान भगवद्रूप मानो हो, पुरुषकों केवल आवरण दूर करिवेवारो मात्र मानो हो, तेसें ही बने वाक्यकुं हु भगवद्रूप ही माननो चहिये वाक्य बनायवे वारेकुं तो सिद्ध वाक्यकुं प्रकट करिवेवारो मात्र माननो चहिये

उत्तर:जिन बुद्धिवानन्कुं ये निश्चय हे के मनुष्य वाक्य नहिं बना सके किन्तु मूल भगवदिच्छासों गुप्तरीति करकें सर्वदा विद्यमान जे वाक्य हें उनकुं मनुष्य कण्ठ, तालु, दन्तादिद्वारा प्रकटमात्र करे हे उनके एसें दृढ विश्वासकरके लौकिक वाक्य हु पुरुषार्थ साधकहे।।१६२।।

या प्रकारसों लौकिक-वैदिकवाक्यन्को वैजात्य बतायकें अब लौकिकवाक्यन्की स्थिति बतावे हें. तहां शङ्का होय के कालिदासादिकन्के जे वाक्य हें वे हु बहुत काल स्थित रहे हें

सर्वप्रतीतिनाशे तु तन्नाश उपचर्यते।।
तथा वाक्यत्वनिष्पत्तेर् न दूषणमिहाण्वपि।।१६३।।

रूपसृष्टौ क्रियातः स्थितिः नामसृष्टौ ज्ञानेन इति. तत्र हेतुः **तथा वाक्यत्वनिष्पत्तेः** इति. बुद्ध्या रचनां कृत्वा उच्चारयति इति. यथा न्यायमते तदुच्चारितः शब्दः तदैव नष्टः, सादृश्यभ्रमादेव तदीयव्यवहार इति. तथा सति तदीयत्वाभावात् लोके वेदे च महद् दूषणम्. न तथा अस्मन्मते, नित्यत्वात्, उत्पन्नानां च बहुकालं स्थितत्वात् च इति आह **न दूषणमिहाण्वपि** इति।।१६३।।

क्रिया करकें रूपसृष्टिकी स्थिति रहे हें एसें ज्ञान करकें नामसृष्टिकी स्थिति रहे हे. तात्पर्य ये हे के बुद्धिसों रचना करके वाक्य उच्चारण कियो जाय हे. जहां तक बुद्धिकी स्थिति तहां तांई वाक्यकी स्थिति. बुद्धिके नाशमें वाक्यके नाशको हु

उपचार कियो जाय हे. किञ्च नैयायिकन्के मतमें जेसे शब्दकुं तीनक्षण मात्र रहिवे वारो मानें हें, अर्थात् उच्चारण करते ही शब्दको नाश हो जाय हे. वाके सदृश दूसरे शब्द उत्पन्न हो जावे हें. तिनसों लोकव्यवहार चले हे एसें मानें हे. या पक्षमें बडे-बडे दूषण हें. "ये दूत राजाकी आज्ञाकुं कह रह्यो हे" या ठिकाने "ये दूत राजाकी आज्ञाकी नकल कर रह्यो हे" एसें हु कहि सकेंगें. तब तो जेसें भाण्डके वाक्यमें कोईकी श्रद्धा नहीं होय हे तेसें दूतके वाक्यमें हु कोईकी श्रद्धा नहीं होयगी. या प्रकार आज्ञाभङ्ग होयवेसों राजमर्यादा भङ्ग होयगी. तथा वेदके मन्त्रको उच्चारण करकें प्रेष दियो जाय हे वा प्रेषसों हु कछु फल सिद्धि नहिं होयगी. क्योंके वेदके मन्त्रको तो उच्चारण होते ही नाश हो गयो. वाके नकलके मन्त्रसों दिये भये प्रेषसों न देवता प्रसन्न होयंगे न फल देंयगे. ये दूषण हमारे मतमें नही हे. या मतमें तो शब्द नित्य हे तथा बहुतकाल स्थित रहे हे. परन्तु केसें शब्दकुं प्रमाण माननों केसें शब्दकुं अप्रमाण माननो ये विचार आगेके श्लोकमें करेंगें।।१६३।।

तदेव स्पष्टयति **अद्यापि** इति.

अद्यापि तानि जायन्ते घटवज् ज्ञानतः स्थितिः।।
विप्रलिप्सादिमूलत्वाद् अप्रामाण्यं च लौकिके।।१६४।।
अप्रामाण्येऽपि प्रामाण्यं कर्तृविश्वासतः क्वचित्।।
अतो वेदाद्यसंवादी नार्थो ग्राह्यः कथञ्चन।।१६५।।

परं प्रामाण्ये विवादः इति वक्तुं तद्धेतून् आह **विप्रलिप्सादि** इति. यत्र पुरुषदोषाः सम्भवन्ति तद् अप्रमाणम्. व्यवहारः ततोऽपि भ्रान्तः इति आह अप्रामाण्येऽपि इति. प्रमाणे वेदे **अप्रामाण्यम्**. अप्रमाणे प्रतारकवाक्ये प्रामाण्यम् इति. एतद्वचनस्य प्रयोजनम् आह **अतो वेदाद्यसंवादी** इति।।१६४-६५।।

ननु वेदेऽपि दोषसम्भवात् विचारेण तथा क्रियते इति आशङ्क्य आह **वेदे सर्वत्र नाधिक्यम्** इति.

वेदे सर्वत्र नाधिक्यं वाक्ये न न्यूनताऽपि वा।।
अतो न वाक्यभेदः स्यात् लोके तन्नैव दूषणम्।।१६६।।

अन्येषामपि वादिनां वेदे न अन्ये दोषाः किन्तु आधिक्य-न्यूनते. सृष्ट्याद्यर्थवादाः अधिकाः मायानिरूपणाभावश्च न्यूनः. तद् उभयं वेदे नास्ति.

जा वाणीमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्साह्नठगवेके अर्थ मिथ्याभाषण आदि पुरुषके दोषकी सम्भावना हे वो लौकिक वाणी अप्रमाण हे. व्यवहार हे सो सन्निपातरूप हे. या व्यवहार करकें भ्रान्त पुरुष भ्रम-प्रमादयुक्त वाक्य सुनिवेसों अत्यन्त भ्रान्त हो जावे हे. तब प्रमाण वेदको अप्रमाण मानवे लगे हे. अप्रमाण प्रतारक तथा बौद्ध वाक्यकुं प्रमाण मानवे लगे हे. तासों वेदविरुद्ध वाक्यन्के अर्थकुं नहिं माननो।।१६५।।

ओर कितनेक वादि वेदमें हु दोष बतावें हे. तहां अन्य दोष तो नहिं हे परन्तु एक तो जिन अर्थवादन्में ब्रह्मसुं सृष्टिको निरूपण कियो हे वे अर्थवाद वेदमें अधिक लिखे हें. ब्रह्म तो कर्ता ही नहिं होय सके हे तथा मायाको निरूपण वेदमें नहीं हे ये वेदमें

अतः पदपरित्यागेन अधिकमेलनेन वा न वेदार्थो वक्तव्यः. अतो वेदवाक्यभेदाः अप्रामाणिकाः. लोकेतु तत् न दूषणम्, लौकिकानां बहुदोषग्रस्तत्वात्।।१६६।।

ननु वर्णैः नित्यैः तत्वाधिक्यं कुतो न भवति? इति आशङ्क्य आह **भूतसूक्ष्मः** इति.

भूतसूक्ष्मो ध्वनिर्वर्णो नामसृष्टौ निरूप्यते।।
प्रकृति-प्रत्ययौ लोके व्युत्पत्त्यर्थं निरूपितौ।।१६७।।
नैतावता कृत्रिमत्वं शब्दे वक्तुं हि शक्यते।।
प्रपञ्चभेदात् तत्वानाम् आधिक्यं वर्णतो नहि।।१६८।।

शब्दतन्मात्ररूपो ध्वनिः. वर्णस्तु नामसृष्टौ. उभयत्रापि 'शब्द'पदप्रयोगः परम्. अतः सृष्टिभेदात् न आधिक्यम्. ननु पदानां कथं नित्यता? प्रकृति-प्रत्ययविभागस्य निरूपित्वाद् इति आशङ्क्य आह **प्रकृति** इति.

बड़ी कमी हे. क्योंके जगत् तो रज्जु-सर्पवत् मिथ्या हे, मायाको ही बन्यो भयो हे. तासों मायिक सृष्टिको वर्णन वेदमें अवश्य होनो योग्य हे. या प्रकारको विचार करकें वेदमें मायाको वर्णन अधिक मिलाय दे हें. तथा ब्रह्मसों सृष्टिवर्णन करिवेवारे वाक्यन्को त्याग करके वेदमें वाक्यभेद कर डारे हें. वे वाक्यभेद सर्वथा अप्रामाणिक हें. लोकमें तो वाक्यभेद हे सो दूषण नहिं हे. क्योंके लौकिकवाक्य तो भ्रम, प्रमादादि अनेक दूषणग्रस्त सदा ही हें।।१६६।।

शङ्का:वर्णन्की अष्टाविंशति तत्वन्में गिनती क्यों नहिं कीनी? उत्तर:रूप(=पदार्थ)सृष्टिके प्रति कारण जे पदार्थ हें उनहीकी उन तत्वन्में गणना लिखी हे. उनमें आकाशतन्मात्रारूप शब्दकी तत्वन्में गणना लिखि हे. वेदमें रूपसृष्टिसों नामसृष्टिको न्यारो निरूपण हे तासों या ग्रन्थमें हु ध्वनि-वर्णको नामसृष्टिके निरूपणमें न्यारो वर्णन कियो हे.

शङ्का:पद केसे नित्य होय सके? प्रकृति-प्रत्ययन्के द्वारा पद तो बनाये जाय हें? उत्तर:पद तो सब नित्य ही हें. सुगम रीतिसों

ज्ञानार्थमेव विभागं कल्पयित्वा निरूपिता, नतु तयो: विभागो वस्तुतः।।१६७-६८।।

लौकिकवाक्यानां लयप्रकारम् आह **संस्कारमात्रविलयाद्** इति.

संस्कारमात्रविलयाद् अथवा तद्विलीनता।।
तदभावाद् वासुदेवे तच्छब्देषु न लीनता।।१६९।।
अस्मदादिमुखेनापि क्रीडार्थं सर्वतो हरिः।।
शब्दभेदं वितनुते रूपेष्विव विनिश्चयः।।१७०।।

वस्तुतस्तु न विलयः. अथवा विलयाङ्गीकारश्चेत् संस्कारमात्रविलयात् तद्विलीनता इति अर्थः. अयमपि पक्षो भगवद्वाक्येषु नास्ति इति आह **तदभावाद्** इति. ऋषीणां संस्कारस्य महाप्रलयपर्यन्तम् अवस्थानात्. एवं व्यवहारम् आश्रित्य अवान्तरभेदः शब्देषु निरूपितः. वस्तुतस्तु सर्वं वेदतुल्यम् इति आह **अस्मदादिमुखेनापि** इति.

पदन्के अर्थ समुझायवेके अर्थ प्रकृति-प्रत्ययको विभाग कल्पित हे. वस्तुतः शब्द सब (अव्युत्पन्न=) स्वतः सिद्ध ही हें. प्रकृति-प्रत्ययके विभागसों उनको कृत्रिमपनों नहिं होय सके हे।।१६८।।

लौकिक वाक्यन्के लयको प्रकार दिखावे हें 'संस्कारमात्र' इति. व्यवहारके अनुसार तो लौकिक वाक्य अनित्य हें. क्योंके जीवकी बुद्धिसों परिकल्पित हें.

वेदवाक्य नित्य हें. सर्वदा वैसे ही रहे हें. ब्रह्मवादके अनुसार तो ज्ञानकी अथवा बुद्धिवृत्तिकी सूक्ष्मावस्थारूप संस्कारके तिरोहीत हो जायवेसों बुद्धिमें वाक्यको स्फुरण नहिं रहे तब वाकुं वाक्यको नाश कहे हें. या रीतिको नाश हु वेदवाक्यको नहिं होय हे. क्योंके वेदमन्त्रके द्रष्टा भगवान्को ज्ञान नित्य हे तथा वेदके मन्त्रके देखिवे वारे ऋषि लोगन्के संस्कार हु महाप्रलय पर्यन्त वेसेके वेसे स्थित रहे आवे हें. ये व्यवहारके अनुसार लौकिक-वैदिक शब्दन्में अनित्यत्व-नित्यत्व बतायो. ब्रह्मवादके अनुसार तो सब शब्द वेदतुल्य ही हें. "नामरूपे व्याकरवाणि" इत्यादि श्रुतिके अनुसार, जेसे सब पदार्थसृष्टिके कर्ता भगवान् हें तेसें सब शब्दसृष्टिके कर्ता हु भगवान् सर्वं वाक्यं भगवत्कर्तृकमेव।।१६९-७०।।

ननु एवं सति किञ्चिद् वाक्यं युक्तं, किञ्चिद् अयुक्तं, तत्र च आकाङ्क्षादयो धर्माः इति कल्पना कथम् उपपद्यते? इति आशङ्क्य आह **वाक्यार्थयोग्यावयवैः** इति.

वाक्यार्थयोग्यावयवैः वाक्यं सर्वत्र सम्मतम्।।
आकाङ्क्षा योग्यताऽऽसत्तिः पदे तस्मादुदीरिता।।१७१।।

रूपसृष्टाविव नामसृष्टावपि योग्याऽवयवैरेव पदार्थनिर्माणम्. तावतैव ते धर्माः अङ्गभावं प्राप्नुवन्ति. एषाऽपि कल्पनैव इति अर्थः।।१७१।।

तदेव साधयति **मृदा घोटकनिर्माणे** इति.

मृदा घोटकनिर्माणे न शृङ्गकरणं मतम्।।
तथा युक्तार्थबोधाय नाकाङ्क्षारहितं पदम्।।१७२।।

ही हें. एसें यदि नहिं होय तो भगवान्को सर्वकर्तापनों वेदमें कह्यो हे सो मिथ्या ही होय. तासों सब वाक्य भगवान्के करे भये ही माननें. क्रीडाके अर्थ अस्मदादिक मनुष्यके मुखद्वारा अनेक प्रकारके वाक्यको विस्तार भगवान् ही करें हें।।१७०।।

एसें ही रूपसृष्टिमें हु घट-पटादि पदार्थन्कुं मनुष्यन्के हस्तादिद्वारा भगवान् ही क्रिडाके अर्थ प्रकट करें हें. तासों ज्ञान भये पीछें सब ही नित्य हे, सब ही प्रमाण हे. तहां कोन वाक्य योग्य हे? कोन वाक्य अयोग्य हे? तथा, योग्य वाक्यमें आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति इत्यादि अङ्गन्की कल्पना केसे सम्भव सके? इत्यादि सन्देह नहिं करने. जेसें रूपसृष्टिमें कोई मनुष्य मृत्तिकाको घोडा बनावे हे वो पुरुष

चेतन घोडमें जेसें पूंछ, पांव आदि अवयव होवें हें उनके अनुसार ही वामें सब अवयव बनावे हे, ताहीसों वो हु 'घोडा'नामसों प्रसिद्ध होवे हे. यदि कोई पुरुष घोडाके जेसे अवयव होंय वेसे अवयवन्में कबहु ज्यादा कर दे अथवा पूंछ न लगावे, सींग अधिक लगाय दे तब तो वाके देखिवेसों कोउको हु घोड़ाकी प्रतीति

यथा-यथा ऋषीणां पुरातनानि वाक्यानि तथा आधुनिकानामपि. अन्यथा वाक्यार्थप्रतीतिः न स्यात्. नतु अपूर्वपदार्थः कश्चित् कल्प्यते।।१७२।।

उपसंहरति **अर्थद्वारा** इति.

अर्थद्वारा पदे धर्मा लोकदृष्ट्यैव कल्पिताः।।
तस्माद् वाक्यं सर्वमेव सा यतो विश्वतोमुखी।।१७३।।

लोकदृष्ट्यैव, नतु परमार्थतः. अनेन आकाङ्क्षाद्यभावेऽपि वाक्यत्वं न विरुध्यते इति उक्तं भवति. दश दाडिमानीत्यपि पदार्थनिरूपकत्वात् वाक्यं प्रमाणम्. "वह्निना सिञ्चति" इत्यपि "उष्णजलेन सिञ्चति" इति अर्थो भवति. यथा "गङ्गायां घोषः". प्रतारकवाक्यमेव असत्यादियुक्तमपि बाधितार्थत्वाद् अवाक्यम्. तस्मात् सर्वमेव वाक्यं प्रमाणम्. यतः सा सरस्वती सर्वतोमुखी।।१७३।।

नहिं होय. एसे ही ऋषिन्के पुराने वाक्यन्के अनुसार जे अस्मदादिकन्के आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति आदि धर्म सहित वाक्य हें वे ही वाक्य कहावे हें. जा वाक्यमें अयोग्य पद हे वाके वाक्यार्थकी प्रतीति ही नहीं होय हे, वो यथार्थ वाक्य नहीं कहावे हे. तासों वाक्यको यथार्थ बोध होयवेकेअर्थ आकाङ्क्षादिसहित ही पद वाक्यमें स्थापितकरने।।१७२।।

वस्तुतः लोकदृष्टिसों ही अर्थद्वारा "ये वाक्य योग्य हे" "ये वाक्य अयोग्य हे" या प्रकारकी कल्पना करी जाय हे. परमार्थ दृष्टिसों तो सब ही वाक्य योग्य हें. सब शब्द सब पदार्थके वाचक हें. "वह्निना सिञ्चति" अर्थ:अग्निसों सींचें हेह्नया वाक्यमें 'अग्नि'शब्द हे सो जल वाचक हु होय सके हे. सरस्वती सर्वतोमुखी हे. भ्रान्त पुरुषनें हु यदि कोई वाक्य कह्यो तो वाके ज्ञानके अनुसार वो वाक्य हु प्रमाण हे. जेसें नारदजीनें ब्रह्माजीसों कह्यो "आप जगत्के कर्ता हो" तब ब्रह्माजीनें कह्यो "ये तुम्हारे कथन तुम्हारे ज्ञानके अनुसार झूंठो नहिं हे. क्योंके मोसों परे जो

परमात्मा हे जाके बनाये भये जगत्कुं में प्रकट करुं हुं वाकुं तुम नहिं जानों हो तासों एसें कहो हो''. तासों शब्दमात्रकुं प्रमाण मानिकें ही वाणीके पति भगवान्की उपासना करनी।।१७३।।

उपासनार्थम् आह **पदद्वयम्** इति.

पदद्वयं सुप्तिङन्तं ताभ्यां चलति वाक्पतिः।।
पदानि बहुशः सन्ति सुप्तिङ्भध्यविभेतः।।१७४।।
तत्राऽसकरवालादि ते भिन्ना अंशतः परे।।
तदुदाहरणे श्लेषः तत्र योगादिकल्पना।।१७५।।

वाग्रूपः पतिः भगवान्. अधुना विकारवत् पदानाम् अर्थद्वयं निरूपयितुं भगवति भेदान् आह **पदानि** इति. सुबन्तावयवे तिङन्तत्वं विपरीतत्वं च क्वचित्. तदेव आह **तत्राऽसकरवालादि** इति. तत्र इति पृथगपि सम्भवति. 'करवाल'शब्दात् 'कर'शब्दः पृथगपि. 'करवाम'इति तिङन्ते सुबन्तपदद्वयम्. एवं सर्वत्र उह्यम्. तत्र पदभेदः शास्त्रार्थः. तादृशप्रयोगे फलम् आह **तदुदाहरणे** इति।।१७४-७५।।

वृत्तीनां भेदकम् आह **फलार्थम्** इति.

फलार्थं लक्षणा प्रोक्ता गौणी चाप्युपचारतः।।

वाणीके पति भगवान्के दो चरण हें:१.सुबन्त तथा २.तिङन्त. इन दोउ चरणन्सों चले हें. जेसें रूपसृष्टिमें आप सहस्रन् चरणवारे हें एसें शब्दसृष्टिमें हु दो चरणके मध्यमें सहस्रन् चरण हें. ''तत्रास करवालात्'' या वाक्यमें 'तत्रास' या एक तिङन्तमें दो चरण:'तत्र' तथा 'आस'; 'करवालात्' या एक सुबन्तमें 'कर' तथा 'वालात्' दो सुबन्त हें. जेसें 'कुरुभव' अर्थ:हे कुरुदेशके होयवे वारे या एक सुबन्त चरणमें 'कुरु'=कर 'भव'=होह्नये दो तिङन्त चरण हें. जेसें एक मृत्तिकाके पिण्डमें घट, शरावादि अनेक पदार्थ हें तेसें एक पदमें अनेक पद विद्यमान हें. एक पदमें स्थित जे अनेक पद हें उनको श्लेषमें उपयोग हे. श्लेष हे सो नाना अर्थन्के आश्रित हे. केवल रूढिसों एक पदमें सब ठिकाने अनेक अर्थ नहिं बन सके हे. तासों श्लेषमें नानार्थसिद्धिके अर्थ योग, योगरूढी तथा तात्पर्यवृत्ति इन तीनकी कल्पना करनी।।१७४-७५।।

वृत्ति तीन प्रकारकी सुबोधिनी भागवतके दशमस्कन्धमें मानी हे.१.मुख्या

प्राकट्येषत् तिरोधान-तिरोधानैर् हरिर् बभौ।।१७६।।

रूढि-लक्षणा न अस्मत् सम्मता. गौणी च वृत्तिः न गुणयोगात् किन्तु उपचारतएव. तादृश धर्मिरूपेण धर्मिणएव उपचारात्. धर्मस्फुरणन्तु धर्मिज्ञानादेव. एवं त्रैविध्ये हेतुम् आह **प्राकट्य** इति।।१७६।।

२.गौणी तथा ३.तात्पर्य वृत्ति. इन भेदन्करकें वृत्ति तीन प्रकारकी हे. लक्षणाकुं चतुर्थ वृत्ति नहिं माने हें. गौणी वृत्तिमें ही लक्षणाको अन्तर्भाव हे. काव्यमें लक्षणाके दो भेद हें:

१.शुद्धा तथा

२.गौणी.

तहां शुद्धा दो प्रकारसों होय हे:१.एक तो रूढीसों लक्षणा; जेसें ''देवदत्तः सर्वकर्मणि कुशलः'' अर्थ:''देवदत्त सब काममें कुशल हे''. यद्यपि या वाक्यमें 'कुशल' शब्दको योगशक्तिसों कुशन्के लेवेवारेको नाम होय हे. ये अर्थ या स्थानमें नहिं सम्भव सके हे. तासों जेसे कुश लेवेवारो कुशलेवेमें (सावधान) निपुण होय हे एसें ही जो कार्यमें सावधान होय वासों 'कुशल' कहे हें. तासों यहां रूढिसों 'कुशल'शब्दकी (सावधान) निपुणमें लक्षणा भई. या लक्षणाकुं हम नहिं मानें हें. क्योंके यहां (अभिधा) शक्तिवृत्तिसों ही 'कुशल'शब्दको (सावधान) निपुण अर्थ हो सके हे. शक्तिवृत्तिके जातायवेवारे व्याकरण, कोशादिक हें. ''कृती कुशल इत्यपि'' (अमरकोष३।१।४) या अमरकोषके पदसों 'कुशल'शब्दकी निपुणअर्थमें शक्ति स्पष्ट प्रतीत होय हे.

२.दूसरी शुद्धा 'फलार्थलक्षणा'/'प्रयोजनवती' लक्षणा हे. जेसे ''गङ्गायां घोषः'' अर्थ:''गङ्गाजीमें अहीरन्को ग्राम हे''. यहां जलप्रवाहरूप गङ्गाजीमें ग्रामको स्थित होनो असम्भव हे. तथापि वक्ताने गङ्गाजीमें गामकी स्थिति कही हे सो गाममें शीतलता, पवित्रता आदि फल जतायवेके अर्थ कही हे. तासों 'गङ्गा'पदको फलार्थलक्षणा करके तीर अर्थ करनो, तब या वाक्यको गङ्गाजीके तीरपे अहीरन्को गाम हे ये अर्थ भयो.

काव्यमें गौणीलक्षणा दो प्रकारकी हे १.सारोपा तथा २.साध्यवसाना. सारोपाको उदाहरण:"सिंहोमाणवकः" अर्थ:बालक सिंह हे. यहां बालक सिंह नहिं होय सके हे तासों विषयी सिंह जेसो क्रूर-शूर हे वेसो ही अनिगीर्ण विषय (=बालक) क्रूर-शूर जानिके बालकमें सिंहको आरोप करके "बालक सिंह हे" एसे कहे हें. दूसरी गौणी साध्यवसाना हे. जेसे बालककुं देखिकें "अयं सिंहः" अर्थ:यह नाहर हे. निगीर्ण विषय (=बालक) को नाम नहीं लेयकें विषयी-सिंह जेसो क्रूर-शूर बालककुं जानिके बालकमें सिंहपनेकी बुद्धि करके "ये सिंह हे" एसे कहे हें.

हमारे सिद्धान्तमें प्रथम वृत्ति शक्ति हे. कोश, व्याकरणादि द्वारा जा शब्दको जो अर्थ प्रसिद्ध हे वा शब्दसों वो ही अर्थकी जतायवेवारी वृत्तिसों 'मुख्या'(=अभिधा) शक्ति नामसों कहे हें. योग, योगरूढी आदि याहीके भेद हें. निरूढलक्षणाको रूढीमें अन्तर्भाव हे. इनके काव्यन्में अनेक भेद हें.

दूसरी गौणीवृत्ति हे. "शक्यार्थबोधे सति सादृश्यरूपस्तदितरो वा शक्यसम्बन्धो गौणीवृत्तिः" अर्थ:शक्तिवृत्तिसों जा शाब्दको जो अर्थ हे वो अर्थ जहां नहिं सम्भव सके तहां सदृशतारूप अर्थ अथवा समीपता, कार्य-कारणता, आधाराधेयता आदि कोई जो शक्य (=मुख्य) अर्थके साथ कोई सम्बन्ध हे वाकुं 'गौणी' वृत्ति कहे हें. या ही गौणीवृत्तिमें दो भेद हें: १.फलसों गौणी तथा २.उपचारसों गौणी. फलसों गौणी:जेसे "गङ्गायां घोषः" इत्यादि. उपचारसों गौणी "सिंहोमाणवकः" "यजमानः प्रस्तरः" इत्यादि. अर्थ:"बालक सिंह हे". यहां सिंहके क्रूरता आदि गुणन्को बालकके साथ (योग=)सम्बन्ध होयवेसों बालककुं सिंह नहिं कह्यो हे किन्तु क्रूरता धर्मवारे सिंहके रूपकरके दूसरे धर्मीवारेको उपचार हे. अर्थात् जेसो क्रूर सिंह हे वेसो क्रूर बालककुं देखके बालकको सिंहके साथ उपचार(=अभेदज्ञान) कियो हे, अर्थात् सिंह कह्यो हे. "बालक सिंह हे" एसें कह्यो हे एसें ही "यजमानः प्रस्तरः" यहां हु यजमानरूप धर्मी करके 'प्रस्तर' दर्भमुष्टीरूप धर्मीको उपचार-अभेदज्ञान कियो हे. अर्थात् यज्ञमें यजमानके करिवेके अनेक कार्य दर्भके मुठियामें किये जाये हें. तहां यजमानके सङ्ग दर्भके मुठियाको उपचार अभेदमानिके "डाभको मूठिया यजमान हे" एसें कह्यो हे. "बालक सिंह हे" इत्यादिकमें क्रूरता आदि धर्मन्को स्फुरण तो सिंहादि धर्मीके ज्ञान होयवेसों स्वतः ही होय हे.

या गौणीवृत्तिमें ही रूढि, लक्षणा तथा फलार्थलक्षणा आदि भेद सहित गौणीलक्षणाको अन्तर्भाव हे. क्योंके मुख्यार्थको बाध होनो तथा लक्ष्य अर्थमें मुख्य अर्थको सदृशता, समीपता आदि सम्बन्ध होनों जो गौणीवृत्तिको लक्षण हे वो सब प्रकारकी लक्षणामें विद्यमान हे.

तीसरी तात्पर्यवृत्ति हे ''शक्त्यतिरिक्तत्वे सति बुभुत्सितार्थप्रतीतिजनिका तात्पर्यवृत्तिः'' अर्थ:शक्तिवृत्तिसों अलग होवे ओर जा अर्थके जानिवेकी इच्छा होय वाकी प्रतीति करायवेवारी होय वासों 'तात्पर्यवृत्ति' कहे हें. जेसे ''सैन्धवम् आनय'' अर्थ:सैन्धव लाव. 'सैन्धव' नाम घोडाको तथा लोंनको हे. तहां भोजनके समयमें जानिवेकी इच्छायोग्य अर्थ लोन हे. वाकी प्रतीति तात्पर्यवृत्तिसों ही होय हे. अर्थात् भोजनके समयमें भोजन करिवेवारेके मुखसों ''सैन्धव लाव'' एसें शब्दकों सुनिकें श्रोताकों शक्तिवृत्तिकरके घोड़ा तथा लोंन दोउ अर्थ उपस्थित भये. परन्तु ''भोजनकर्ता लोंनकुं ही चाहे हे'' एसें जानिकें वो श्रोता तात्पर्यवृत्तिद्वारा लोंनकुं ही लावे हे. या तात्पर्यवृत्तिमें ही व्यञ्जनाको अन्तर्भाव हे. इन तीनों वृत्तिरूप भगवान् ही होवे हें. अर्थात् शक्तिरूप होयके अपने अर्थरूपकुं प्रकट करे हें, लक्षणारूप होयकें अपने अर्थरूपको कछुक तिरोधान अर्थात् छिपावे हें तथा तात्पर्यवृत्तिरूप होयके अपनें अर्थरूपको सर्वथा ही छिपावे हें।।१७६।।

एवं शब्दगतान् धर्मान् विचार्य, तस्य प्रवर्तकत्वम् अस्ति न वा इति विचार्यते **प्रवर्तकत्वम्** इत्यादिना.

प्रवर्तकत्वं कृष्णस्य न विध्यर्थस्य कर्हिचित्।।
कार्यतादिपरिज्ञानम् उत्पाद्यैष प्रवर्तयेत्।।१७७।।

ब्रह्मवादव्यतिरिक्तेषु शब्दश्रवणानन्तरभाविन्यां प्रवृत्तौ कारणता शब्दस्य अवसीयते. तत्र षट् पक्षाः सम्भवन्ति. स्वरूपम्, अभिप्रयज्ञानं, भावना, अभिधा, आज्ञा, इष्टसाधनताज्ञानम् इति. तान् सर्वान् एकहेलया स्वमतेन दूषयति **कृष्णस्यैव प्रवर्तकत्वम्, न विध्यर्थस्य** इति. काकतालीयतया पूर्वभावो न हेतुत्वसाधकः. अव्यभिचारस्तु विध्यादीनां नास्ति.

शक्ति, लक्षणा, तात्पर्य वृत्ति आदि शब्दधर्मन्‌को विचार करिके शब्द हे सो श्रोताकुं कार्यमें प्रवृत्त कर सके हे के नहिं या बातको विचार करे हें 'प्रवर्तकत्वम्' इति.

ब्रह्मकुं जे पुरुष कार्यमात्रमें प्रेरक नहिं माने हे विनके मतमें शब्दके सुने पीछें कार्यमें पुरुषकी जो प्रवृत्ति होय हे वामें शब्द ही कारण हे. अर्थात् शब्द ही कार्यमें प्रवृत्त करे हे. तहां ६ पक्ष हें. १.कितनेक तो शब्दस्वरूपकुं ही प्रेरक मानें हे. २.कितनेक प्रवृत्ति करिवेवारे वाक्यके अभिप्रायके ज्ञानद्वारा शब्दकुं प्रेरक मानें हें, अर्थात् लैकिकवाक्यमें वाक्य वक्ताके अभिप्रायके ज्ञानद्वारा प्रेरक माने हें तथा वेदवाक्यमें शब्दन्‌के अभिप्रायज्ञानद्वारा प्रेरक माने हें. ३.कितनेक आर्थीभावनाद्वारा शब्दकुं प्रेरक मानें हें. ४.कितनेक भाट्टमतानुवर्ती मीमांसक (अभिधा) अर्थात् लिङ् लकारमें रहवेवारी शाब्दीभावानाकों प्रेरक माने हें. ५.प्रभाकरमतवारे आज्ञा नियोगकुं प्रेरक माने हें. ६.नैयायिक मतमें इष्टसाधनताज्ञान अर्थात् "या कार्यसों हमारो अनिष्ट नहिं होयगो तथा अभिलषित पदार्थकी प्राप्ति होयगी तासों ये कार्य करनों" एसो ज्ञान जिन लिङ्गादि शब्दन्‌सों होय हे वे शब्द ही प्रेरक हें. इन ६ पक्षन्‌कुं एकसङ्ग दूषित करे हें 'कृष्णस्य' इति.

ननु दृश्यते "मम इष्टम्" "मम एतत् कार्यम्" इत्यादिज्ञानं कृत्वा प्रवर्तनात् कारणत्वम् इति आशङ्क्य आह **कार्यतादि** इति.

शास्त्रोक्तविधि हे सो पुरुषकुं सत्कर्ममें प्रवृत्त नहिं कर सके हे तथा कुकर्मसों निवृत्त हु नहिं कर सके हे. परब्रह्म श्रीकृष्ण ही कर्ममें प्रवृत्त करे हें. यद्यपि "स्वर्गकामो यजेत" अर्थ:स्वर्गकी कामनावारो यज्ञ करे. या वेदवाक्य सुने पीछे ही पुरुष यज्ञ करे हे. तथापि जेसे काकको आयवो तथा वाही समय तालके फलको गिरनो हो जाये ता पीछें ही वो काक तालफलको भक्षण करे हे. तासों तालफलके खायवेमें तालफलको गिरनो कारण नहिं हे. वाके प्रारब्धकर्मद्वारा भगवान् ही तालफलके मिलवेमें कारण हें. एसें यज्ञ करिवेमें पूर्वसिद्ध विधिवाक्यको श्रवण कारण नहिं हे, कृष्ण ही प्रेरणा करिवेवारे हें. याहीसों भारतमें लिख्यो हे "जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः, केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा प्रयुक्तोऽस्मि तथा करोमि". अर्थ:में धर्मकुं जानुं हुं परन्तु धर्म

करिवेमें प्रवृत्त नहिं होय सकुं हुं, पापकुं जानुं हुं परि पाप करिवेसुं निवृत्त नहिं होय सकुं हुं. कोई देव हृदयमें स्थित हे वो प्रेरणा करे हे तेसें ही करुं हुं. यदि ''स्वर्गकामो यजेत'' ''स्वर्गकी कामनावारो यज्ञ करे'' इत्यादि वाक्यनकुं ही प्रेरणा करिवेवारे मानो हो तो जितने या वाक्यके सुनिवेवारे ब्राह्मणादिक हें वे सब ही क्यों नहिं यज्ञ करिवे लगजावेंहें

कदाचित् कहोगे के यज्ञ हे सो स्वर्गको देवेवारो हे, मोकुं अवश्य करनो चहिये एसो ज्ञान उत्पन्नकरके वेदके विधिवाक्यने ही पुरुषकों यज्ञमें प्रवृत्त कियो हे तासों विधिको प्रेरक मानो. ताको उत्तर ये हे. जाकुं परब्रह्म यज्ञमें प्रवृत्त करनो चाहे हे वाकुं ही वेद विधिवाक्यद्वारा ''ये कर्म मोकुं अवश्य करनों चहिये'' एसो ज्ञान प्रकट करकें प्रवृत्त करे हे. याहीसुं विधिवाक्यको सुनिवेवारे सब ही पुरुष यज्ञादिकनमें प्रवृत्त नहिं होय हें, जाकुं भगवत्प्रेरणा होय हे वो ही यज्ञादि सत्कर्मनमें प्रवृत्त होय हे।।१७७।।

कुतः एतद्? अतः आह **अनिष्टम्** इति.

अनिष्टमिष्टं साध्यं वा नासाध्यं किञ्चिदस्ति हि।।
तथापि यतते कश्चित् क्वचिदेव हरीच्छया।।१७८।।

इष्टसाधनताज्ञानस्य प्रवर्तकत्वं तदा स्यात् यदि अनिष्टसाधनतां ज्ञात्वा निवर्तेत, विषभक्षणे युद्धे द्रुपतने प्रवृत्तिदर्शनात्, तथा पाषण्डमते असाध्येऽपि मोक्षे प्रवृत्तिदर्शनात्. अतो भगवानेव यथेष्टं यथैव प्रवर्तयते तथा ज्ञानम् उत्पाद्य प्रवर्तते. वस्तुतस्तु न किञ्चिद् इष्टं, न किञ्चित् साध्यम् इतिअर्थः।।१७८।।

ननु एवं सति अर्थवादादीनां वैयर्थ्यम् इति आशङ्क्य आह **मिथ्याप्रलोभनम्** इति.

यदि ''ये कार्य अभिलषित फलकों सिद्ध करिवेवारो हे'' एसो ज्ञान यदि पुरुषकुं सत्कार्यमें प्रवृत्त करि सकतो होय तो ''ये कार्य अनिष्ट(दुःख)को करिवेवारो हे'' एसो ज्ञान अनिष्ट करिवेवारे कर्मनसों पुरुषकुं निवृत्त क्यों नहिं कर ले हे? यदि एसे ही होय तो जहर खायवेमें, युद्ध करिवेमें, जान करके नदी आदिनमें गिर पड़वेमें बहुत से मनुष्य क्यों प्रवृत्त हो जावे हें? तथा, जिन मतनसों सर्वथा मोक्ष नहिं होय एसे पाखण्डमतमें मोक्षके अर्थ क्यों प्रवृत्त ह्वे जावें हें? कदाचित् कहोगे के भ्रमसों

प्रवृत्त हो जावे हें तो ताको ये उत्तर हे: पाखण्डमतकी पुस्तकन्के वाक्य सब पुरुषन्के प्रति इकसार ही सुनवेमें आवे हे. परन्तु कोई पुरुषकी तो प्रवृत्ति होय, कोईकी नहिं होय, यामें कहा कारण हे? तासों ईश्वरेच्छा ही कारण हे. वासों ही कितनेक 'अदृष्ट' कहे हें. सांची पूछो तो इष्ट-अनिष्ट साध्य-असाध्य कुछ हु नहिं हे. तथापि भगवान्की इच्छाकरिकें कोई पुरुष कोई कार्यमें प्रवृत्त रह्यो ही आवे हे.

शङ्का:ईश्वर ही प्रवृत्त करिवेवारें हें तब तो वेदमें यज्ञादिकर्मन्में प्रवृत्ति करायवेके अर्थ यज्ञाददेवतान्की प्रशंसा करिवेवारे अर्थवादवाक्य वेदमें लिखे हें वे वृथा ही हो जायेंगे

मिथ्याप्रलोभनं वेदे न क्वचित् कर्हिचिद् भवेत्।।
तथैव कर्मविज्ञानं धर्मस्तेनैव नान्यथा।।१७९।।
साधनानि स्वरूपं च सर्वस्याह श्रुतिः फलम्।।
न प्रवर्तयितुं शक्तास् तथा चेन् नरको न हि।।१८०।।

वेदे कर्मादिषु अविद्यमानं फलरूपं न कोऽपि अङ्गीकरोति तेन सार्थकता स्यात् किन्तु यथास्थितमेव आह. अतः सर्वस्यापि स्वरूपप्रतिपादकत्वात् न एकवाक्यतासिद्ध्यर्थमपि प्रवर्तकत्वम् अङ्गीकर्तव्यम्. तर्हि अवचनमेव अस्तु इति आशङ्क्य आह तथैव कर्मविज्ञानम् इति. क्षिप्रकारिणीं देवतां ज्ञात्वैव कर्मः कर्तव्यम्. स्तुतिः उत्कर्षाधायकगुणवर्णनम्. तत् कर्माङ्गमेव, प्रकरणात्. "वषट्कारो वै गायत्रियै शिरोऽच्छिनत्. तस्यै रसः परापतत्. सः पृथिवीं प्राविशत्. सः खदिरोऽभवद्"( ) इति खदिरस्वरूपं तादृशमेव ज्ञात्वा कर्मः कर्तव्यम्. एवं सर्वत्र.

उत्तर:वेदमें जो देवतान्की प्रशंसा करी हे सो कछु पुरुषकी यज्ञमें प्रवृत्ति करायवेके अर्थ नहिं करी हे. वेद हे सो परम आप्त हे. मिथ्या प्रशंसा प्रलोभनार्थ कभी वेद नहिं करे हे. तासों वेदोक्त जितनी स्तुति हें अर्थात्; उन-उन देवतान्की उत्तमता जतायवेके अर्थ जो गुणवर्णन किये हें वे सब सत्य हें. उन गुणन्कुं जानिकें ही कर्म करनों चहिये. जेसे "व्रीहीन्को प्रोक्षण" "चावलन्को धोवनो-कूटनो" आदि यज्ञको अङ्ग हे. जा प्रकार प्रोक्षण=धोवनो अवहनन=कूटनो लिख्यो होय

वेसे ही कियेसों फल होय. एसें ही "वायुर्वै क्षिप्रकारिणी देवता" ( ) अर्थ:वायु शीघ्र कार्य करिवेवारो देव हे एसें वायुकी स्तुति लिखी हे. याकुं जानिके ही कर्म करनो. या प्रकार जितनी स्तुति अर्थवादमें लिखी हे वो सब कर्मको अङ्ग हे. उनकुं जानके कर्म करिवेसों ही कर्म साङ्ग सफल होवे हे. जेसे गायत्री सबन्धी रस पृथ्वीपें गिर्यो वो पृथ्वीमें धस गयो. वो खैरको वृक्षरूप भयो इत्यादि. खदिर=खैर वृक्षको स्वरूप जानके खैरको यूप=यज्ञस्तम्भ बनावनो.

अतो वेदे सर्वस्यापि स्वरूपप्रतिपादकत्वात् न प्रवर्तकत्वं किन्तु सर्वस्यापि साधनं फलं च आह. तावतैव प्रवर्तकत्वं यदि तद्, ओम् इति ब्रूमः. फलमुखप्रवृत्तिश्चेत् सर्वानेव प्रवर्तयेत्. ततश्च नरकादिकं न भवेत्. अतो दृष्टादृष्टारिष्टदर्शनात् न वेदः प्रवर्तकः।।१७९-८०।।

लोकेऽपि राजदण्डादेरन्यथा विषयो न हि।।
प्रेरको भगवानात्मा स्वात्मना दोषवर्जितः।।१८१।।

ननु भगवत्प्रवर्तनापक्षेऽपि अयं दोषः स्यात्, परमकृपालुत्वाद् भगवतः. तत्र आह **प्रेरको भगवानात्मा** इति. सर्वेषाम् आत्मत्वाद् यथासुखं प्रेरयतु,

---

वेद हे सो स्वर्गादि फलन्को वर्णन करे हे तथा स्वर्गादि प्राप्त होयवेके साधन जे सोमयागादिक हें उनके स्वरूपको हु वर्णन करे हे, पुरुषसों जबरदस्ती यज्ञादिक नहिं कराय सके हे. यदि साधन-फल बतायवे मात्र करके ही वेदकुं प्रवृत्ति करिवेवारो मानो हो तो बहुत अच्छी बात हे. वेदसों ही यदि मनुष्यन्की फलमुखप्रवृत्ति होय जाती तो सबहीकुं वेद सत्कर्ममें प्रवृत्ति क्यों नहिं कर ले हे? यदि कर ले हे तो नरकन्में मनुष्य क्यों जावे हें? तथा चोरी, हिंसा आदि करके राजदण्ड क्यों पावे हें? तासों वेद प्रवृत्ति नहिं कर सके हे।।१७९-८०।।

शङ्काः भगवान् ही कर्ममें पुरुषकुं प्रवृत्त करें हें एसें मानवेमें हु ये दोष आवे हे. क्योंके भगवान् तो परम कृपालु हें, अधर्ममें पुरुषकों प्रवृत्त करके नरक, राजदण्डादिक दुःख क्यों देवे हें?

उत्तरः 'प्रेरकोभगवानात्मा' इति. भगवान्कुं प्रेरक मानवेमें कछु दोष नहिं आवे हे. क्योंके भगवान् तो सबकी आत्मा हें. तासों सुख जेसें होय तेसें प्रेरणा

करें हें. जेसें पुरुष अपने अङ्गन्में यथासुख चेष्टा करें हें कोई समय बायें पांवकुं नीचे धरिके वाके ऊपर दायें पांवकुं धरे हें. तो कोई समय दायें पांवकुं नीचे धरके वाके ऊपर बायें पांवकुं धरे हें. एसें ही "साधु कर्म कारयति"(कौषि.उप.३।९)या न कोऽपि दोषः. "अधिकं तु भेदनिर्देशाद्" (ब्रह्मसूत्र२।१।२२) इत्यत्र विस्तृतम् अस्माभिः।।१८१।।

तर्हि भगवान् स्वात्मानमपि कथम् एवं प्रेरयति? समतयापि प्रेरणसमर्थः, तत्र आह **न विशेषोऽस्ति लोकेऽस्मिन्** इति.

न विशेषोऽस्ति लोकेऽस्मिन् तारतम्यं न चैव हि।।

अखण्डं कृष्णवत् सर्वं यथा तत्तु निरूपितम्।।१८२।।

सर्वासु योनिषु, सर्वेषु जीवेषु सुख–दुःखयोः तुल्यता. पुरुषः स्वभ्रमादेव तारतम्यं पश्यति. अन्यथा तत्सुखेच्छा कदाचित् जायमाना न स्यात्. "राज्यान्ते नरकं ध्रुवम्" इति वाक्यानि सङ्गतानि भवन्ति. तस्मात् फलंसर्वत्र

श्रुतिके अनुसार इच्छा होय जा जीवकुं राजा बनायके उच्च करदे हें, इच्छा होय जा जीवकुं हीन दास बनाय दे हें।।१८१।।

तहां भगवान् तो एसी हु प्रेरणा कर सके हें जासों सब जीव सुकर्म करकें समान रहे आवें तथापि भगवान् जीवात्मक अपने स्वरूपनकुं एसी प्रेरणा क्यों करें हें के जासों अनेक मनुष्य गौ, गधा आदि योनीन्में जीव जन्म लें?

एसी शङ्का नहीं करनी. सब जीव समान होय जावें तो राजा ही राजा सब हो जावें सो जगत्क्रीडा नहिं सम्भव सके. तथा जगत्में विचित्रता हु नहिं होय सके. ओर सुख–दुःख तो सब ही योनीन्में सब ही जीवन्में समान हें. पुरुष हे सो अपने भ्रमसों ऊंच–नीच तथा सुख–दुःखादि तर–तमभावह्नउतार–चढाव देखे हे. यदि गर्दभादि योनीन्में दुःख ही होय तो गर्दभकी योनीमें गयो जीव वा योनीके सुखकी इच्छा क्यों करे हे? भगवान् स्वयं ही जीवरूप धारण करकें क्रीडा करे हें. जब इच्छा करें तब अपने जीवरूपको राज्याधिकारी कर दे हें जब चाहें तब नरकाधिकारी कर दे हें. सब ठिकाने फल हु समान हे, स्वरूप हु समान हे. याहीसों

गीतामें ''शुनि समं, स्वरूपं च समम् इति पूर्वोक्तम् इति आह अखण्डं कृष्णवत् सर्वम् इति।।१८२।।

''आत्मैव तदिदं'' सर्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः।।१८३।।

आविर्भाव-तिरोभावौ इत्यत्र प्रमाणम् आह **''आत्मैव तदिदम्''(भाग.पुरा.११।२८।६)** इति।।१८३।।

आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा।।
इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैर् यथामतिः।।

चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः'' (भग.गीता५।१८) तथा ''स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः'' (भाग.पुरा.६।१७।२८) अर्थात् गौ हस्ती श्वान आदि योनिमें तथा स्वर्ग-नरकादिकमें ज्ञानीभक्त समान दृष्टि राखें हें. अखण्ड विश्व कृष्णके समान हेह्नएसें मध्यमाधिकारीकुं प्रतीत होय हे. उत्तमाधिकारीकुं तो अखण्ड कृष्णरूप हेह्नएसे अनुभव होय हे. ये बात शास्त्रार्थप्रकरणमें ''यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद् यथा यदा, स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः'' (तत्वा.दी.नि.।१।६९) या श्लोकमें निरूपण कीनी हे. वहां सब कारक भगवद्रूप हें ये बात लिखीहे।।१८२।।

जेसें ब्रह्म सृष्टिके आदिकालमें इच्छा करकें आत्मासों जीवन्के अर्थ ब्रह्माण्डकुं करे हे. या वाक्यमें ब्रह्म कर्तृकारक हे. जीव सम्प्रदानकारक हे. ब्रह्माण्ड कर्मकारक हे, आदिकाल अधिकरणकारक हे, इच्छा करणकारक हे, आत्मा अपादानकारक हे, सृष्टि सम्बन्ध हे. ये सर्व पदार्थ भगवद्रूप समुझनें. या प्रकार पदार्थमात्र भगवद्रूप हें ये बात एकादशस्कन्धमें ''आत्मैव तदिदं सर्वम्''(भाग.पुरा.११।२८।६) या श्लोकमें लिखी हे. भगवान् ही सर्वरूप हें. भगवान् ही उत्पन्न करें हें तथा भगवान् ही उत्पन्न होवे हें. भगवान् ही रक्षाकिये जावे हें. भगवान् ही रक्षा करें हें. विश्वात्मा भगवान् आप अपने स्वरूपको ही संहार करें हें तथा भगवान् ही आविर्भाव-तिरोभाव शक्तिद्वारा उत्पत्ति-स्थिति-संहारलीला करे हें।।१८३।।

अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितम्।।१८४।।

एवं पुराणवाक्यानि श्रुतिवाक्यान्यपि उदाहृत्य सज्जीवान् प्रति आह इति श्रुत्यर्थमादाय इति. ''एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम्''(तत्वा.दी.नि.१।४) इति पूर्वं

प्रतिज्ञातत्वात् तच्छास्त्रं ब्रह्मवादः. शिष्टानि मतानि मोहार्थम् उत्पन्नानि इति अवोचाम।।१८४।।

श्रीवल्लभाचार्यजी श्रेष्ठ जीवन्के प्रति उपदेश करे हें, प्रथम प्रकरणमें: देवकीपुत्रगीत जो गीता हे वो ही एक शास्त्र हेह्नये प्रतिज्ञा कर आये हें. गीतामें जो लिख्यो हे वाकुं ब्रह्मवाद समुझनों. जे वादी उलटी शङ्का करके कही भई युक्तिन्को बाध करें उनके आगे गीताद्वारा ही अपने सिद्धान्तको स्थापन करनों. गीताजीमें दशमाध्यायमें ''एकांशने स्थितो जगत्''(भग.गीता१०।४२) या श्लोकमें तथा, एकादशाध्यायमें, अर्जुनको अपनो विश्वरूप दिखायो तहां जगत् भगवद्रूप हे ये स्पष्ट ज्ञात होवे हे. श्रीकृष्णनें हु गीतामें ''वासुदेवः सर्वम् इति'' (भग.गीता७।१९) या श्लोकमें ''सब जगत् भगवान् ही हे'' एसें मानिवेवारेकुं 'महात्मा' कह्यो हे. ये गीताशास्त्र ही ब्रह्मवाद हे. यासों विरोध राखिवेवारे जितनें मत हें वे जीवन्कुं भ्रमित करिवेवारे हें.

तहां शङ्का होय जो या ब्रह्मवादमें चोरी आदि करिवेवारेकुं दण्ड नहिं होनो चहिये, क्योंके परमात्माको प्रेरक मानो हो तब चोरी करिवेमें हु परमात्मा ही प्रेरक भयो? उत्तर: देह, इन्द्रिय आदिकन्में अहन्ता नहिं होय ''मेंनें ये कार्य कियो'' एसी जाकी कबहु बुद्धि नहिं होय वाकुं पाप नहिं हे. ''यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर् यस्य न लिप्यते, हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते''(भग.गीता१८।१७) ये गीतामें लिख्यो हे. लोकमें हु अहन्तारहित परमहंसादिककुं दण्ड नहिं होवे हे. जहां तांई अहङ्कार हे वहां तांई दण्ड हु हे।।१८४।।

इति प्रमेयप्रकरणम्

एवं प्रमेयप्रकरणं समाप्य फलं निरूपयितुं न विहितसाधनमात्रेणैव फलं किन्तु सर्वाङ्गसहितेन इति वक्तुं बहिरङ्गानि निरूपयति **वर्णाश्रमवताम्** इति.

वर्णाश्रमवतां धर्मः श्रुत्यादिषु यथोदितः।।
तथैव विधिवत् कार्यः स्ववृत्त्यन्नेन जीवता।।
आचारो वृत्तिहीनश्चेद् अर्धं फलति नाखिलम्।।१८५।।

उक्तेनैव प्रकारेण कर्तव्यं, नतु अनुकल्पैः. तथा सति प्रत्यवायपरिहारएव भवति, नतु फलम् इति अर्थः. तथा स्ववृत्त्यन्नेनैव जीवतां सर्वं साध्यम्. ननु तावन्मात्रएव वैगुण्यम् अस्तु, किं सर्वनाशेन इत्यतः आह **आचारः** इति।।१८५।।

या प्रकार प्रमेयप्रकरणकुं समाप्त करके फलप्रकरणको प्रारम्भ करे हें. अङ्ग विना केवल शास्त्रविहित साधनमात्रके कर लेवेसों फल नहिं होय हे किन्तु अङ्ग सहित साधन कियो जाय तब फल होय. जेसें वैद्यशास्त्रके अनुसार औषधिको तो साधन करतो रहे परन्तु उष्णजलपान, पथ्यअन्नको भोजन, निरोग देशमें रहनों आदि जे औषधिके अङ्ग हें उनको आचरण नहिं कियो जाय तो औषधको कछु फल नहिं होय हे. एसें ही वेदशास्त्रोक्त जे अग्निहोत्रादि साधन हें उनकें बाहिरके अङ्ग वर्णधर्म-आश्रमधर्म हें. इनकुं छोड़िके यज्ञादि किये जांय तो सर्वथा फल नहिं होय. तासों श्रुति-स्मृति-पुराणके अनुसार ही वर्णाश्रमधर्मकुं साधनो. जेसें पथ्य अन्नको भोजन करकें ही औषधको सेवन कियो जाय एसें अपने वर्णधर्मके अनुसार जा वर्णकी जो वृत्ति शास्त्रमें लिखी हे वो वृत्तिसों प्राप्त भयो जो अन्न वाहीसों देहनिर्वाह करते भये वेदोक्त यज्ञादि धर्मनकुं करनो. ये नहिं जाननों के कुवृत्तिसों निर्वाह करेंगें तो कुवृत्ति करिवेको जो पाप हे वोही लगेगो परि धर्म जो कियो जायगो वो तो सफल होयगो. कुवृत्तिसों निर्वाह करिवेवारे पुरुषके किये भये अन्य धर्मन्को हु आधो फल रहि जावे हे।।१८५।।

वस्तुतस्तु न फलति इति आह **अनभ्यासेन** इति.

अनभ्यासेन वेदानाम् आचारस्य च लङ्घनात्।।
आलस्याद् अन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति।।१८६।।
शिलोञ्छवृत्या सन्तुष्टः श्रौतं कर्माऽखिलं चरेत्।।
तप-स्वाध्यायनिरतो ह्यग्निहोत्रादिपञ्चकम्।।१८७।।

तर्हि कथं फलति? इति आकाङ्क्षायाम् आह **शिलोञ्छवृत्त्या** इति. असन्तोषे तदपि व्यर्थम्।।१८६-७।।

तस्य बहु कर्तव्यं चेत् तदा अशक्यं भविष्यतीति स्मार्तं कृताकृतम् इति आह **स्मार्तम्** इति.

वस्तुतस्तु वाको फल होय ही नहीं हे. स्मृतिमें लिख्यो हे के अन्नके दोषसों आलस्य होयवेसों आचारको उल्लङ्घन तथा वेदको अभ्यास छूटि जायवेसों विप्रकी मृत्यु होय हे. स्मृतिकुं अत्यन्त भूल जायवेसों 'मृत्यु' कहे हें. स्मृतिनाश हे सो बुद्धिको नाश करे हे. बुद्धिनाश भये पीछे धर्मकुं नहिं फलवे देत हे. तब धर्म केसें फल सके? ताको उत्तर देत हें: 'शिलोञ्छवृत्त्या' इति. जा रीतिसों शास्त्रमें जा वर्णकुं वृत्ति करनो लिख्यो हे वा ही रीतिसों निर्वाह करकें धर्म करे तब धर्म सफल होय. जेसें ब्राह्मणकी चार वृत्ति हें: १.शिलोञ्छ २.अमृत ३.मृत तथा ४.प्रमृत. तहां मृत=नित्य मांगनों, प्रमृत=खेतीकरनों तथा अमृत=विनामांगे कोई वस्तु देवे वाकों लेनों. इनमें शिलोञ्छ वृत्ति श्रेष्ठ हे. खेतमें अथवा हाटमें जायकें शुद्ध भूमीमें गिरे भये धान्य कणनकुं लायकें उनसों अपनो निर्वाह करनों 'शिलोञ्छवृत्ति' कहावे हे. या रीतिसों ब्राह्मण वर्ताव करे, सदा सन्तोष राखे. यदि सन्तोष नहिं होय तो शिलोञ्छ वृत्तिसों निर्वाह करनो व्यर्थ ही जाय. श्री भागवतमें लिखे हें "सदसस्य तयोः राजन् असन्तोषात् पतन्त्यधः" (भाग.पुरा.७।१५।२१)।।१८६-८७।।

शङ्काः केवल धान्यकण बीनकें निर्वाह करिवेवारे ब्राह्मण स्मृतिके

स्मार्तं कृताकृतं तस्य सर्वं जानन् हरिं यथा।।
क्रमेण मुक्तिमाप्नोति ब्रह्मलोकं परं गतः।।१८८।।

एतादृशस्य फलं ब्रह्मलोकं गत्वा ब्रह्मणा सह मुक्तिः. श्रौतस्य उत्तमनिष्ठायाम् एतत्फलम्।।१८८।।

तारतम्ये फलाभावम् आशङ्क्य आह एतस्य इति.

एतस्य तारतम्येन मानुषानन्दतो द्विजः।।
अक्षरानन्दपर्यन्तम् आनन्दान् विन्दते क्रमात्।।१८९।।

श्रोत्रियत्वम् अकामहतत्वं च तारतम्येन जायमानं तत्-तत्फलसाधकम्. ब्रह्मानन्दः अक्षरानन्दः. चतुर्मुखपक्षे ततः अग्रे गणनाभावात्.

लिखे भये होमादि कर्मनकुं द्रव्य बिना केसे करि सकेगो?

उत्तरः या उत्तम वृत्तिसों निर्वाह करिवेवारे ब्राह्मणके अर्थ स्मार्तकर्महस्मृतिको लिख्यो होम कृताकृत हे. अर्थात् इच्छा होय, समृद्धि होय तो करनों. मृत, प्रमृतादिवृत्तिसों निर्वाह करिवेवारेकुं तो स्मार्त होम भी करनों चहिये. या रीति निजवृत्तिसों निर्वाह करिवेवारो ब्राह्मण सब जगत्कुं भगवद्रूप मानतो भयो ब्रह्मलोकमें जावे हे. ब्रह्माके साथ वाकी मुक्ति होय हे. ये क्रममुक्ति वैदिक मार्गकी उत्तम निष्ठाको फल हे।।१८८।।

ये फल पूर्ण कर्म सिद्ध होय, पूर्ण ज्ञान सिद्ध होय तथा पूर्ण निष्काम होय तब होवे हे. अर्थात् पूर्ण ये लक्षण होंय तब तो ब्रह्मानन्द=अक्षरानन्द प्राप्त होवे हे. अक्षरानन्द तांईके आनन्दकी गिनती हे. उन लक्षणनमें कछु न्यूनता होय तो बृहस्पतिके आनन्दकी प्राप्ति होय. वासों हु न्यूनता होय तो इन्द्र होय. वासों न्यूनता होय तो समस्त पृथ्वीको पति होय. या प्रकार साधनके तारतम्यमें फलको तारतम्य समुझनों. साधन दो प्रकारसों होय हे. एक वर्षमें सोमयाग, चातुर्मास्य यागादिकनकी आवृत्ति वर्षके वर्ष होती रहे.

एकस्यैव वर्षे-वर्षे यदा आधिक्यं चेत् क्रमेणैव सर्वम् आप्नोति।।१८९।।

प्रत्येकपक्षे फलगतं दोषमपि आह **उपान्त्यानन्दपर्यन्तम्** इति.

उपान्त्यानन्दपर्यन्तं पुनर्जन्म भवेद् ध्रुवम्।।
तत्-तद्रूपेण लोकेषु भोगान् भुक्त्वा तथाविधान्।।१९०।।

प्रकारम् आह **तत्तद्रूपेण** इति।।१९०।।

वृत्त्यन्यस्य कारणत्वाद् आश्रमव्यवस्थाम् आह **एकाश्रमेणवातिष्ठेद्** इति.

एकाश्रमेण वा तिष्ठेद् विशेद् वा समनन्तरम्।।
आयुर्भागक्रमेणैव चतुष्टयमथापि वा।।१९१।।

सर्वत्र फलं तुल्यम्. समनन्तरं ब्रह्मचर्यस्य गार्हस्थ्यम्. एवम् उत्तरत्र. आयुर्भागक्रमेण इति तृतीयः पक्षः.

अथवा जन्म-जन्ममें एक-एक सोम, चातुर्मास्यादि यज्ञ होतो रहे. तहां वर्षके वर्ष आवृत्ति करनों उत्तम पक्ष हे।।१८९।।

दूसरे पक्षमें यज्ञमें प्रकट भयो जो अदृष्ट वासों खिंच आये पञ्च भूतन्सों बने भये शरीरसों उन-उन लोकन्में जावे हे. पुण्य क्षीण भयेसों पाछे भूमिमें आवे हे. फिर कर्म करकें उत्तमसों उत्तम लोकमें जायकें भोग भोगिके यहां आवे हे. ब्रह्मलोकके समीपको जो तपो लोक हे वहां तक गये जीवको हु पुनर्जन्म होतो रहे हे. तप लोकसों हु आयके जन्म लेकें यज्ञादिकन्की आवृत्ति करे तब ब्रह्मलोकमें जायकें ब्रह्माके साथ मुक्ति होवे. तासों निजवृत्तिन्सों उपार्जित अन्न ही यज्ञादिके द्वारा उन-उन देवलोकन्के भोग भुगायवेवारो हे.

आश्रमधर्मकी व्यवस्था करें हें: 'एकाश्रमेणे' इति. १.ब्रह्मचर्य, २.गृहस्थ, ३.वानप्रस्थ तथा ४.सन्न्यास इन चारों आश्रमन्कुं अवस्थाके चार भाग करकें एक-एक भागमें एक-एक आश्रमकुं यथार्थ साधन करे. अथवा इन चारों आश्रमन्मेंसों एक कोई आश्रमके धर्मकुं मरणपर्यन्त यथार्थ साधनों. अथवा आयुके विभाग विना ही क्रमसों आश्रमधर्मन्को अनुसरण करनो. इन तीनों पक्षन्को फल समान ही होवे हे.

अव्यवस्थया प्रव्राजो वैराग्यस्तावकः सर्वथा वैराग्यम् अङ्गम् इति ज्ञापनार्थः ''गृहाद् व्रजेद् वनाद् व्रजेद्'' इति. अन्यथा अयं पक्षो मन्वादिभिः उक्तः स्यात्. तस्मात् त्रयएव पक्षाः।।१९१।।

सन्न्यासे साम्प्रतं नानाभाव वर्तन्तइति तन्निषेधार्थम् आह **त्रिदण्डं परिगृह्णीत** इति.

त्रिदण्डं परिगृह्णीत सर्वशास्त्राविरोधि तत्।।
शास्त्रेऽपि भगवान् आह दण्डस्यैकस्य धारणम्।।
प्रतिपत्तिरियं सर्वा देहस्य ज्ञानिनो भवेत्।।१९२।।

पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीयइति सर्वशास्त्रसारोद्धारत्वाद् भागवतस्य यदि अन्यः पक्षो भवेत् तत्र भगवान् वदेत्.

अव्यवस्थाको जो संन्यास हे वो वैराग्यकी स्तुति करिवेके अर्थ हे पूरो वैराग्य भयेसों सन्न्यासी होनों योग्य हे. ब्रह्मचर्याश्रम साधें विना ही सन्न्यासी हो जानों गृहस्थाश्रमधर्ममेंसों कच्ची अवस्थामें ही सन्न्यासी हो जानों इत्यादि अव्यवस्थाको सन्न्यास मनुस्मृत्यादिकन्में नहिं लिखो हे तासों तीन ही पक्ष हें.

अभी कलियुगमें सन्न्यासके अनेक मनःकल्पित प्रकार चले हें. उनको स्वीकार नहिं करनो. शास्त्रोक्त त्रिदण्डसन्न्यास ग्रहण करनों. ''मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देह चेतसाम्''(भाग.पुरा.११।१८।१७) या श्रीभागवतके वचन अनुसार वाणीको दण्ड मौन राखनों हे, देहको दण्ड चेष्टा करिवो छोडनो हे, चित्तको दण्ड प्राणायाम द्वारा प्राणवायुको रोकनों हे. इन तीनों दण्डन्कुं धारण करनों. जिज्ञासादशामें=अपक्वदशामें मौन राखे विना तथा चेष्टा करनों छोडे विना देह-वाणीमें दोष उत्पन्न होय जाय. तासों तीनों दण्डन्की सन्न्यासीकुं आवश्यकता हे. ये पक्ष कोई शास्त्रसों विरुद्ध नहिं हे. एक दण्ड धारणको पक्ष तो सर्वसम्मत नहिं हे. यदि ये पक्ष तथा अन्य कोई पक्ष होय तो सर्वशास्त्रन्के सारभूत श्रीभागवतमें अवश्य लिख्यो होय.

आश्रमाणां साचाराणां ज्ञानशेषत्वमिति सिद्धज्ञानस्य तत्परित्यागम् आशङ्क्य आह **प्रतिपत्तिरियं सर्वा** इति. ज्ञानिनो देहस्य तत्तदाश्रमस्थितिः प्रतिपत्तिः अवश्यं कार्या. तदभावे पुनर्जन्म भवेत्, दाहाभाववत्।।१९२।।

एवम् आश्रमान् निरूप्य स्ववृत्त्यन्नं ज्ञापयितुम् आह **आद्यन्तयोः** इति.

आद्यन्तयोस्तु भिक्षान्नं द्वितीये तु शिलोञ्छनम्।।
तृतीये वन्यभेदाः स्युर् भिक्षायामपि संयमः।।१९३।।

ब्रह्मचारि-सन्न्यासिनोः. द्वितीयो गृहस्थः. चतुर्थे भिक्षायां नियमः ''सप्तागारानसंक्लृप्तान्'' इति।।१९३।।

न केवलम् अन्ननियमएव किन्तु अन्येऽपि नियमाः सन्ति इति आह **गुरुसेवा** इति.

तासों अन्य पक्ष सर्वसम्मत नहिं हें. आचार सहित चारों आश्रमन्के धर्म हें सो ज्ञानके अङ्गभूत हें एसें समुझिकें जाकुं ज्ञान सिद्ध हो जाय वाकुं हु आश्रमधर्म छोडनों योग्य नहिं हे. सन्न्यासादि आश्रममें ही स्थित रहे. यदि अच्छृङ्खल होयके बरताव करे हे तो ज्ञानीको हु पुनः जन्म होय।।१९७-९८।।

एसें आश्रमन्को निरूपण करिके वर्ण-वर्णके अनुसार तथा एक-एक आश्रमके अनुसार वृत्ति अनेक प्रकारकी हे. शीघ्र फलको उपयोगी केसो अन्न हे ताको वर्णन करे हें. "आद्यन्तयोस्तु भिक्षान्नम्" इति. ब्रह्मचारी-सन्न्यासीन्कों तो भिक्षाको अन्न उत्तम हे. गृहस्थकुं शिलोञ्छ अर्थात् हाट उठे पीछें बिखरे भये अन्नके कण 'शिलोञ्छ' कहावे हें. तथा खेतवारे कर्षालोगन्के अर्थ पीछें बची भई धान्यकी मञ्जरी 'शिल' कहावे हे. ये अन्न गृहस्थीकों फलको उपयोगी हे. सन्न्यासाश्रममें तो सात घरकी भिक्षा करनो एसो नियम हे।।१९३।।

तहां केवल अन्नको ही नियम नहिं हे. किन्तु ब्रह्मचारीकों गुरुसेवा

स्वाध्यायेन तथा कृत्या तपसा मानसा मखाः।।
अत्यावश्यकमेतद्धि चतुर्णां तत् पृथक्-पृथक्।।१९४।।

क्रमेणैव चत्वारः चतुर्णां मुख्याः. यज्ञातिरिक्तान्येव कर्माणि द्वितीयस्य विवक्षितानि आतिथ्य-परिपालनादीनि.

यज्ञास्तु चतुर्णामपि कर्तव्याः परं प्रकारभेदेन इति. तान् प्रकारान् आह **स्वाध्यायेन** इति. "यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवति" ( ) इति ब्रह्मचारिणः स्वाध्याययज्ञाः. क्रियामया द्वितीयस्य. तपोयज्ञाः तृतीयस्य. मानसाः चतुर्थस्य इति. ज्ञानिनः तदकरणम् आशङ्क्य आह **अत्यावश्यकम्** इति.

एतेषां हीनताम् आशङ्क्य आह **श्रेयान्** इति।।१९५।।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।१९५।।

करनो, गृहस्थकों अधिकारानुसार कर्म करनों, वानप्रस्थकों तपश्चर्या करनों, सन्न्यासीकों पृथ्वीको पर्यटन करनों आदि अन्य हु नियम बहुत हें, उन सबन्कुं करने.

यज्ञ तो चारों आश्रममें न्यारे-न्यारे प्रकारसों सब ही कों करनो योग्य हे. गृहस्थको अतिथिसत्कार, देवपून आदि धर्मन्कुं हु अवश्य परिपालन करनों योग्य हे. ये धर्म अन्य आश्रममें नहिं बन सकें हे इतनी ही गृहस्थाश्रममें श्रेष्ठता हे. यज्ञ तो चारों आश्रम वारेन्कों करनो. तहां ब्रह्मचारीकुं "यं यं क्रतुमधीते" या वाक्यके अनुसार यज्ञविधिको करनो वेदको पढनो हे. ये ही वाचिक यज्ञ करनों हे. गृहस्थकुं क्रियाद्वारा कायिक यज्ञ करनों लिखे हें. वानप्रस्थकों तपके द्वारा तथा मानसिक यज्ञ संन्यासीकुं हु आवश्यक हे. याहीसों 'अजरामर्याग्निहोत्र' श्रुतिमें ज्ञानीके अर्थ कह्यो हे: "सन्न्यासीको जो ज्ञानधर्म हे वाकी अपेक्षा अन्य आश्रमको धर्म हीन समुझकें उनकुं छोडनो योग्य नहीं हे". तथा "अपने आश्रमके धर्ममें अपनी मृत्यु हो जानो ही कल्याण करिवेवारो हे, दूसरे आश्रमके धर्मको ग्रहण करनों भय देवेवारो हे" एसो गीता वाक्य हे।।१९५।।

'आयुर्भागक्रमेण' इति उक्तपक्षस्य वैशिष्ट्यम् आह उत्तरोत्तरधर्मेषु इति.

उत्तरोत्तरधर्मेषु निष्ठायाम् अधिकं फलम्।।
तस्य चेत् परमा भक्तिः तिरोधानं भविष्यति।।
भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति न सोच्यते।।१९६।।

एवम् उत्कर्षप्रकरणे स्वाश्रमधर्मसहितज्ञानानां मध्ये चतुर्थस्य उत्कर्षः उक्तो भवति. ततोऽपि उत्कर्षम् आह तस्य चेत् परमा भक्तिः इति. तिरोधान-नाशो ब्रह्मभावः. भक्तेरपि स्वाश्रमधर्मसहित-ज्ञानसहितायाएव तिरोधाननाशकत्वम् उक्तं भवति. एषा भक्तिः माहात्म्यज्ञानपूर्वक-परमस्नेहरूपा. तथाभूता सती भगवत्परिचर्या युक्ता भवेत्. स्वतः पुरुषार्थरूपा सेवा चेत् सा भक्तिः 'स्वतन्त्रा' इति उच्यते.

आगें-आगेंके धर्ममें जेसें-जेसें श्रद्धा बढती जाय तेसें-तेसें अधिक फल प्राप्त होवे हे. अपनें-अपनें आश्रमधर्म सहित जे ज्ञान हे उनमें सन्न्यासाश्रमको ज्ञान उत्तम हे. वो ज्ञान ब्रह्माके सङ्ग अथवा ब्रह्माजीसों पूर्व हु क्रम करकें मुक्ति देवेवारो हे. ये ही वा ज्ञानकी उत्तमता हे. वासों हु अधिक उत्तमता तब होय जब "एवं

धर्मैर्मनुष्यणाम् . . . मयि सञ्जायते भक्तिः" (भाग.पुरा.११।१९।२४) या भागवत वाक्यके अनुसार वर्णाश्रमधर्म भक्तिके उत्पन्न करिवेवारे होयकें भगवद्धर्मरूप होय जायं अर्थात् वर्णाश्रमधर्म सहित जो ज्ञानी हे वाकी भगवान्में भक्ति सिद्ध हो जाय तो जीवमें आनन्दको जो तिरोभाव हो रह्यो हे वाको नाश हो जाय. वाको नाश होते ही ब्रह्मभाव हो जाय. आश्रमधर्म सहित ज्ञान सहित भक्ति ही तिरोभावको नाश करिवेवारी हे. भगवान्को माहात्म्य जानिके उनमें परम स्नेह करनों 'भक्ति' कहावे हे. एसेही ये भक्ति भगवान्की परिचर्या सहित स्वतःपुरुषार्थरूप सेवा मानिके कीनीं जाय अर्थात् भक्तिसों अन्य कछु फल न मांग्यो जाय, भक्तिकुं ही फलरूप मानी जाय वो भक्ति 'स्वतन्त्रभक्ति' कहावे हे.

अयम् अर्थः. स्वाश्रमाचारसहित-ब्रह्मानुभवसहित-माहात्म्यज्ञानपूर्वक-स्नेहो ब्रह्मभावं करोति. तादृशः चेत् परिचर्यासहितो भवेत् तदा सा परिचर्या आनन्दरूपा सती त्रयोदशगुणा भवेत्. तदा फलरूपायां तस्यां स्वाश्रमाचारादिकरणं फलानुभवप्रतिबन्धकम् इति फलत्वेन अनुभवे स्वाश्रमाचाराः त्यक्तव्याः, यथा ब्रह्मभावं गतस्य. अन्यथा कर्तव्या इति निष्कर्षः. एवं फलप्रकरणे तां सामान्यतो निरूप्य विशेषतो निरूपणाभावे हेतुम् आह **दुर्लभेति न सोच्यते** इति. सन्ति ब्रह्मभावं प्राप्ता नतु अतादृशा भक्ताइति।।१९६।।

परं भगवच्छास्त्रे सर्वोत्तमत्वेन निरूपितम् इति आह **अयं हि सर्वकल्पानाम्** इति.

सारांश ये हेः आश्रमधर्म सहित ब्रह्मके अनुभव सहित जो माहात्म्यज्ञान पूर्वक स्नेह हे सो ब्रह्मभावकुं सिद्ध करे हे. वेसो ही स्नेह प्रभुपरिचर्या सहित होय तब वो परिचर्या आनन्दरूप होती भई त्रयोदश गुणवारी फलरूप होय हे. वा प्रियतम प्रभुकी सेवामें आश्रमधर्मादिकन्को आचरण करनो भजनानन्दके अनुभवको प्रतिबन्धक मालुम पडे हे. तासों जेसें ब्रह्मभावकुं प्राप्त भयो जीव आश्रमधर्मादिकन्कुं छोड दे हे वेसें ही भजनानन्द अर्थात् प्रियतम प्रभुकी सेवाके आनन्दको अनुभव करिवेवारे उत्तमाधिकारी भक्तकुं आश्रमधर्मादिकन्को करनो वा आनन्दको प्रतिबन्धक मालुम पडे हे. तासों आश्रमधर्म वा समयमें त्यागयोग्य हे. तासों जहांतक परब्रह्म पुरुषोत्तमके स्वरूपानन्दके अनुभवपूर्वक भजनानन्दकोह्नसेवाके सुखको अनुभव नहिं होय तहां तांई तो आश्रमधर्मन्कुं सर्वथा नहिं छोडनों. एसी स्वतन्त्र शुद्ध भक्ति दुर्लभ हे तासों वाको सङ्क्षेपसों ही निरूपण कियो हे, विस्तार या ग्रन्थमें नहिं

कियो हे. क्योंके ब्रह्मभावकुं प्राप्त भये जीव जगत्में हें परन्तु वेसे भक्त जगत्में क्रोडन्में एक होनों हु दुर्लभ हे. श्रीभागवतमें लिखे हें"मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः, सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने"(भाग.पुरा.६।१४।५)

।।१९६।।

भगवच्छास्त्रमें या प्रकारकी भक्तिकुं सर्वोत्तम बताई हे. "यमेवैष

अयं हि सर्वकल्पनाम् उत्तमः परिकीर्तितः।।

त्रिषु स्वाश्रमधर्मेषु प्रथमे वा प्रतिष्ठितः।।१९७।।

यदि अयं भावः उत्पद्येत तदा कस्मिन् आश्रमः? इति जिज्ञासायाम् आह **त्रिषु स्वाश्रमधर्मेषु** इति. चतुर्थे इन्द्रियाणां दाढ्र्याभावात्. द्वितीय-तृतीययोरपि दाढ्र्याभावम् आशङ्क्य आह **प्रथमे वा** इति।।१९७।।

एवं वैदिकमार्गं निरूप्य साङ्खच-योगौ एकीकृत्य सद्योमुक्तिं क्रममुक्तिं

वृणुते तेन लभ्यः" (मुण्ड.उप.३।२।३) या श्रुतिसों निश्चय होय हे के भक्तकुं अङ्गीकार करकें एसी भक्ति देनों भगवान्के आधीन हे. यदि भगवान् इच्छा करके एसो भाव-भक्ति उत्पन्न कर दें तो चतुर्थ=सन्न्यासाश्रममें नहिं रहनों. वा आश्रममें यथेष्ट भोजन विना इन्द्रियन्की सामर्थ्य नष्ट हो जाय तो प्रिय प्रभुकी सेवा नहिं बन सके. तासों तीन आश्रममें रहनों. तहां गृहस्थाश्रममें आह्निककर्ममें काल व्यतीत हो जाय तो प्रभुकी परिचर्या नहिं बनि सके तासों यदि स्त्री, पुत्रादि सेवाके अनुकूल होय तो गृहस्थाश्रममें रहनो. परन्तु सबकी अपेक्षा इन्द्रियको जय करकें ब्रह्मचारी होयकें प्रेमसेवाको अनुभव करनों सर्वोत्तम हे. क्योंके ब्रह्मचारीकों यथेष्ट भोजन करनो लिख्यो हे. अर्थात् प्रथमाश्रममें रहिके यथेष्ट भोजन करते भये, इन्द्रियन्की सामर्थ्य बढायके भगवत्सेवा करनों.

इतने विस्तारको ये निचोड हे के वैदिक धर्म करत-करत जब भक्ति उत्पन्न हो जाय तब जाननों जो उत्तम वैदिक धर्म मोसों बनि आयो हे. भक्तिको उत्पन्न कर देनो ही वैदिक धर्मकी उत्तमता हे. ये वार्त्ता "भगवान् ब्रह्म कात्स्र्क्येन" (भाग.पुरा.२।२।३४) या भागवतके श्लोकमें स्पष्ट लिखी हे. या प्रकार वैदिकभक्ति वैदिक धर्मकी अपेक्षा राखे हे. तासों धर्म अङ्ग हे. वैदिक भक्ति अङ्गी हे. ओर निरपेक्ष स्वतन्त्र भक्ति तो दुर्लभ ही हे।।१९७।।

गीता-भागवतस्थ योग-साङ्खच्यशास्त्रनुकुं एक समुझिके सद्योमुक्ति तथा च आह **न्यासे** इत्यादिना.

न्यासे सर्वपरित्यागी नष्टाहम्ममताभिदः।।
योगमुत्तममास्थाय लोकातीतो बहिर्दृशिः।।१९८।।
असम्प्रज्ञातयोगेक्षो देहत्यागे विमुच्यते।।
तादृशस्य बलाद् वापि देहत्यागो विमुक्तिदः।।१९९।।

प्रथमं सद्योमुक्तिः. अयं चतुर्थाश्रमएव भवति. साङ्खच्यमार्गः. अतो न्यासं कृत्वा, मनसाऽपि सर्वं परित्यज्य, अहङ्कारं ममतां च त्यक्त्वा, भगवदाविर्भावार्थम् उत्तमं योगम् आस्थाय, अलौकिको भूत्वा, अन्तर्निष्ठएव सन्, बहिर्दर्शनसम्भावनायाम् असम्प्रज्ञातयोगेक्षो भूत्वा तस्यामेव निष्ठायां यावद् देहपातं तिष्ठेत् तदा देहान्ते विमुच्यते, सद्यएव.

अत्रैव भगवदाविर्भावात् कदाचिद् आविर्भावस्य बहुकालस्थितिसन्देहे बलाद् वा देहत्यागः कर्तव्यइति आह **तादृशस्य** इति।।१९८-९९।।

क्रममुक्तिको वर्णन करें हें.

प्रथम सद्योमुक्तिको वर्णन करें हे. सन्न्यास करकें मनसों हु सब पदार्थनुकुं छोडिके, अहङ्कार तथा ममताकुं छोडिकें, भगवान्के प्रकट होयवेके अर्थ उत्तम योग धारण करके "केचित् स्वदेहान्तर्हृदयायवकाशे" (भाग.पुरा.२।२।८) इत्यादि वाक्यानुसार प्रादेशमात्र चतुर्भुजाकार भगवान् विराजें हें उनकी धारणा करके स्मरण करें, लोकव्यवहारको त्याग करें, आत्माकुं लोकसों भिन्न समुझे, तथा अन्तर्निष्ठ रहे. बाहिर दर्शनकी सम्भावना होय तो असम्प्रज्ञात योगमें दृष्टि लगायके, बाहिरके पदार्थन्के ज्ञानकों छोडिके वेसी निष्ठामें ही देहपात होय तहां तक स्थित रहे तो देहपात होते ही सद्य मुक्ति हो जाय. क्योंके वा अवस्थामें भगवान्को तो आविर्भाव स्थित रह्यो आवेगो तासों या अधिकारीकुं भगवान्को आविर्भाव हृदयमें होय वा ही समयमें प्राणवायुसों ब्रह्माण्ड फोडकें देहत्याग करनों योग्य हे. वाकी हु देहत्याग होत ही सद्य मुक्ति होवे हे।।१९८-९९।।

क्रममुक्तिप्रकारम् आह **सम्प्रज्ञात** इति.

सम्प्रज्ञातसमाधिस्थः साङ्खच्येनात्मविभिन्नदृक्।।

विकृतं प्रकृतेः कार्यं मायेति त्यक्तविग्रहः।।२००।।

एवं योगं च साङ्ख्यं च समास्थापयति कृती।।

योगेन त्यक्तदेहश्चेत् क्रमान् मुक्तिं स विन्दति।।२०१।।

बहिःसंवेदनयुक्तएव योगेन भगवन्तं पश्यन् ज्ञाननिष्ठोऽपि भूत्वा परमविरक्तः सन्न्यासी योग-ज्ञाने आमरणम् अभ्यसन् योगेनैव त्यक्तदेहः चेत् क्रममुक्तिं प्राप्नोति।।२००-०१।।

तत्र ब्रह्मलोकपर्यन्तं गत्वा बहुकालं स्थित्वा स्वाधिकारानुसारेण नानामार्गेण गच्छति इति वक्तुम् आह **ब्रह्मलोकप्रवृत्तानाम्** इति.

ब्रह्मलोकप्रवृत्तानां या गतिः तस्य सा भवेत्।।

भक्ताधिकारिणां मुक्तिः अन्यथा प्रकृतौ लयः।।२०२।।

तत्र स्थितानां पञ्चगतयः ताः आह भक्ताधिकारिणाम् इति. ये भक्ताः सन्तः अधिकारिणो ब्रह्मादयः ते अधिकारसमाप्तौ तत्रैव मुक्ता भवन्ति तथा अयमपि पूर्वं तादृशएव केनचित् निमित्तेन जन्म प्राप्तवांश्चेत् तदा दोषस्य विनिवृत्तत्वाद् अयमपि विमुच्यते.

क्रममुक्तिको प्रकार बतावें हें 'सम्प्रज्ञात' इति. बहिःसंवेदन अर्थात् बाहिरके पदार्थके ज्ञान सहित योग करकें भगवान्के दर्शन करतो भयो, ज्ञाननिष्ठ होयकें हु परम विरक्त दशामें रहतो भयो, मरण पर्यन्त ज्ञानयोगको अभ्यास करतो भयो, योगकरके ही यदि देहको त्याग करे हे वो क्रममुक्तिकुं प्राप्त होवे हे. तहां ब्रह्मलोक पर्यन्त जायकें बहुत काल वहां स्थित रहिके अधिकारानुसार अनेक मार्गन् करके जावे हे।।२००-०१।।

अर्थात् ब्रह्मलोकमें स्थित जीवन्की पांच प्रकारकी गति हे. जे अधिकारी होयके हु भक्त हे वे ब्रह्मादिक अधिकार समाप्त भयेसों मुक्त होवे हे. तेसें ही ये हु ब्रह्मलोकगत जीव अधिकारी भक्त होय, कोई निमित्तसों जन्मकुं प्राप्त होय गयो होय तो ये जीवहु मुक्त होजाय.

अन्यथा भक्त्यभावे ब्रह्मादीनां प्रकृतौ लयः, तृतीयस्कन्धे अस्य तथानिरूपणात्. अस्यापि पूर्वोक्तस्य तथा।।२०२।।

पुनः सृष्टौ तथैश्वर्यं कर्मिणां पुनरागतिः।।

आसन्योपासकानान्तु ब्रह्मणा सह मुक्तता।।२०३।।

पुनः सृष्टौ तथा ऐश्वर्यं सर्वेषां यथा योग्यम्. अश्वमेधेनाऽपि ब्रह्मलोकप्राप्तिः, परं पुनरागतिः. तथा साङ्खच–योगनिष्ठोऽपि कर्मत्वेन योगकर्ता चेत् तथैव पनरावृर्तते. एवम् उभौ निरूपितौ.

तृतीयम् आह **आसन्योपासकानाम्** इति. आब्रह्मकल्पं तत्र स्थित्वा ब्रह्मणा सह विमुच्यन्ते।।२०३।।

अभक्ते पुनरावृत्तिः योगनिष्ठां गतस्य तु।।
ऐश्वर्यादि हरेर्भक्तो भित्वाण्डं प्रविशेद् हरिम्।।२०४।।

ब्रह्मणः स्वस्य वा अभक्तत्वे पुनरावृत्तिः पूर्ववदनुवादः.

भक्ति विना अधिकारी ब्रह्मादिकन्को हु प्रकृतिमें ही लय होय हे. ये बात तृतीय स्कन्धमें "क्ष्माम्भोनलाऽनिल"(भाग.पुरा.३।३२।९) इत्यादि दोय श्लोकमें तथा "आद्यः स्थिरचराणां यः" (भाग.पुरा.३।३२।१२) इत्यादि चार श्लोकन्में लिखी हे।।२०२।।

फिर सृष्टि होय तब वे ब्रह्मादिक फिर वेसें ही ऐश्वर्यवारे हो जांय हे. ये गति सहस्र अश्वमेघ करे हे वाकी हु होय हे. वो हु ब्रह्मलोकमें जावे हे परन्तु फिर आवे हे.

तृतीय मार्ग कहे हें: आसन्य–प्राणकी जे वेदोक्त प्रकारसों उपासना करिवे वारे हें वे कल्प पर्यन्त ब्रह्मलोकमें रहिके ब्रह्माके साथ मुक्त होवे हें।।२०३।।

ब्रह्मा अथवा आसन्योपासक यदि इनमेंसों कोई भक्त नहिं होय तो कल्पादिमें फिर आवृत्ति होय. अर्थात् फिर जन्मलेनों पडे हे.

चतुर्थम् आह **योगनिष्ठां गतस्य तु** इति. सिद्धः चेद् योगमार्गः तदा ऐश्वर्यादिकं तत्रैव प्राप्नोति.

पञ्चमम् आह **हरेर् भक्तः** इति. द्वितीयस्कन्धोक्तप्रकारेण अण्डं भित्वा हरिं विशेत्।।२०४।।

एवं साङ्ख्यच-योगभक्तीनां मेलने फलम् उक्त्वा केवलानां फलम् आह **केवले** इति.

केवलेन हि साङ्ख्येन विविक्त्याध्यात्मसंस्थितिः।।
नैव किञ्चित् करोमीति दृढबुद्धिरसक्तधीः।।
अन्तेऽप्येवं सदा ध्यायन् अविद्यातो विमुच्यते।।२०५।।

केवले साङ्ख्ये द्वयम् अङ्गम्. १.सङ्घाताद् भिन्नतया आत्मज्ञानम्

चतुर्थ गतिको वर्णन करें हें: जो योगी हे अर्थात् जाके योगमार्ग सिद्ध होय गयो हे वाकुं तो वहां ही ईश्वरता, अणिमा, महिमा आदि सिद्धि प्राप्त होय जावें हे. या अधिकारीको ही एकादशमें सिद्धिके प्रकरणमें भगवान्नें वर्णन कियो हे. पञ्चम मार्गको वर्णन करे हें ''योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना'' (भग.गीता६।४७) इत्यादि गीतावाक्यानुसार जो योगी हरिको भक्त हे वो तो द्वितीयस्कन्धोक्त प्रकार करकें ब्रह्माण्डकों भेदकें श्रीहरिके स्वरूपमें प्रवेश करे हे. आद्य मार्गवारो वहां ही मुक्त होय हे. पञ्चममार्गवारो अण्डको भेदिकें मुक्त होय ये ही आद्यसों यामें विशेषता हे।।२०४।।

मिश्रित साङ्ख्यच-योग-भक्तिको वर्णन करिके इन जीवन्की अपेक्षा जो हीनाधिकारी हें उनके अर्थ केवल साङ्ख्यच्चकेवल योग को उपयोग हे. तासों फलद्वारा साङ्ख्यच-योगको निर्णय करते भये केवल जे साङ्ख्यच-योग-भक्ति हें तिनके फलको वर्णन करे हें 'केवलेन' इति.

केवल साङ्ख्यचके दो अङ्ग हें. सङ्घातसों भिन्न मानकें आत्माको २.अहङ्काराभावश्च. एतयोः निर्वाहः ''नैव किञ्चित् करोमि'' (भग.गीता५।८) इति बुद्धिः, वैराग्यं च. एवं यावज्जीवम् एकधारणया स्थितौ अविद्यातो विमुच्यते. जन्मान्तरे ज्ञानी सन् उत्पद्यते इति अर्थः।।२०५।।

केवलयोगम् आह **केवलेनापि योगेन** इति.

केवलेनापि योगेन दग्धकर्ममलाशयः।।

योगवीर्येण जितदृक् लिङ्गं भित्वा तथा भवेत्।।२०६।।

यावज्जीवं यागाभ्यासे ज्ञानोदये योगबलेनैव देहं त्यक्त्वा अविद्यातो विमुच्यते. भक्तिसहितः चेत्, पूर्वमेव उक्तः।।२०६।।

एवं साङ्ख्य-योगयोः सहितयोः केवलयोश्च फलम् उक्त्वा निषिद्धयोः फलम् आह **योगसाङ्ख्ये** इति.

योगसाङ्ख्ये धर्महीने विमार्गपरिपोषिते।।

नरकायैव भवतः पश्चात् किञ्चित् सुखं भवेत्।।२०७।।

धर्ममार्गाद् भ्रष्टे तत्सिद्ध्यर्थं कदचित् निषिद्धमपि कुरुतः. अपेयपानेन नाडी शुद्धा भवति इति विमार्गे परिपोषिते. **पश्चाज्** जन्मान्तरे।।२०७।।

ज्ञान होनो तथा अहङ्कार नहिं होनों. ये दोउन्को निर्वाह "में कोई कर्म नहिं करुं हुं" एसी बुद्धि करिवेसों तथा वैराग्य राखिवेसों होय हे. या प्रकार जीवन पर्यन्त एक धारणासों स्थित रहे तब अविद्यासों छूटे. अर्थात् दूसरे जन्ममें ज्ञानी होयकें उत्पन्न होय।।२०५।।

एसें ही केवल योगाभ्यास करकें ज्ञानको उदय होय जावे तब योगबल करिकें देहकुं छोडदे तो अविद्यासों छूट जावे हे. अर्थात् पश्चपर्वा विद्यामें जो भक्ति हे वा भक्ति सहित जो साङ्ख्य-योग हें वे तो मुक्तिके देवेवारे हें. ओर केवल जे साङ्ख्य-योग हें वे अविद्या मात्रसों छुडायवेवारे हें ये सिद्धान्त भयो।।२०६।।

निषिद्ध योग-साङ्ख्यको फल कहे हें. धर्ममार्गरहित जे वाममार्गके तन्त्रोक्त योगसाङ्ख्य हें उनमें अपेयपानादिसों नाडीकुं शुद्ध करनों लिख्यो हे. वे साङ्ख्ययोग नरकके देववारे हें. क्योंके उनको विपरीतमार्गसों पोषणहोवेहे।।२०७।।

ननु "यत् साङ्खचैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते" (भग.गीता५।५) इति. "अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः, सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्ततरिष्यसि" (भग.गीता४।३६) इत्यादिवाक्यैः साङ्खच-योगयोः स्तुतत्वात् कथं विकर्ममात्रेण नरकः? "योगेनैव दहेदंहः" (भाग.पुरा.११।२०।२५) इति वाक्यात् च इति आशङ्क्य आह **ज्ञानाङ्गे** इति.

ज्ञानाङ्गे चित्तरोधे च तौ प्रमाणं न सर्वथा।।
पदार्थतत्वनिर्द्धारे न प्रमाणं कथञ्चन।।२०८।।

साङ्खच-योगशास्त्रद्वयं पुराणमूलकम् अङ्गत्वेन निरूपितम्. तदपि परम्परया नित्यानित्यवस्तुविवेकस्य ज्ञानाङ्गत्वम्. तथा चित्तनिरोधस्य ज्ञानस्थापकत्वम्. अन्यथा ज्ञानं स्तुतं भवतीति तयोः अङ्गं साङ्खच-योगौ, नतु सर्वथा तत्प्रमाणम्. अप्रमाणांशं स्पष्टयति **पदार्थतत्वनिर्द्धारः** इति।।२०८।।

फलितम् आह **फलांशे तु** इति.

फलांशे तु प्रमत्तस्य शास्त्रमात्रपरस्य हि।।
नरकस्त्वन्यथाभावात् तेन मूले विनिन्दितौ।।२०९।।

"योऽन्यथासन्तमात्मानम् अन्यथा प्रतिपद्यते, किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा" इति भगवतः अन्यथाचिन्तनात् नरकः.

"यत्साङ्खचैः प्राप्यते स्थानम्" (पूर्ववत्) "योगेनैव दहेदंहः"(पूर्ववत्) इत्यादिकन्में जो साङ्खच-योगकी स्तुति करी हे सो पुराणमें लिखे साङ्खच-योगकी ही करी हे. ये दोउ परम्परासों ज्ञानद्वारा मोक्षके अङ्ग हें. साङ्खचोक्त नित्य-अनित्य वस्तुको विचार हे सो ज्ञानको अङ्ग हे. योगशास्त्रोक्त चित्तको रोकनों हे सो ज्ञानकुं स्थिर करिवेवारो हे. अन्यथा ज्ञान स्रव जावे तासों नित्य-अनित्य वस्तुको विचार तथा चित्तको निरोध इन दोउन्के साङ्खच-योगशास्त्र अङ्ग हें. पदार्थन्के स्वरूपनिर्धार करिवेमें ये दोउ शास्त्र प्रमाण नहिं हें।।२०८।।

क्योंके "योन्यथासन्तमात्मानम्"() या श्रुतिमें विपरीतज्ञान्सों पाप होनों लिख्यो हे. तासों ही आनुमानिकादि (ब्रह्मसूत्र१।४।१) सूत्रन्में साङ्खचको तत्र विकर्म सहायभूतम्. अतएव सूत्रकारेण शिष्टापरिग्रहः उक्तः. भगवद्वाक्यस्य गतिम् आह **फलांशेतु स्तुतौ** इति. नित्यानित्यवस्तुविवेके चित्तनिरोधे च स्तुतौ तदन्येषां

मायावादीनां साङ्खचोपजीवकानां सर्वथा व्यर्थता, सत्फलं न किञ्चित्. विकर्मणा अन्यथाभावनात् च नरकः।।२०९।।

फलांशे तु स्तुतौ कृष्णवाक्ये भागवतेऽपि च।।
तदन्येषां मतानां तु सर्वथा व्यर्थता मता।।
न तैरिष्टेन युज्येत मिथ्यार्थाऽभिनिवेशतः।।
तस्माद् वेदोक्तमार्गेषु न स्वल्पोऽपि पतेद् बुधः।।

अतः सएव सद्धर्मैः सेव्यो वर्णिभिरादरात्।।२१०।।

तस्माद् वेदातिरिक्तमार्गाः स्वतन्त्रं न फलसाधकाः किन्तु अङ्गभावमेव प्राप्य यादृशं प्रमेयं वेदोक्तं तादृशमेव साधयन्तः फलाय भवन्ति इति निष्कर्षः. तदभावेऽपि वेदोक्तमार्गेण केवलेनापि निस्तारः इति आह **अतः सएव सद्धर्मैः** इति।।२१०।।

"अनेन योगः प्रत्युक्तः" () यामें योगकों व्यासजीने दूषित कीयो हे. तासों साङ्खचोपजीवक जे मायावादी हें उनकी व्यर्थता हे. सत्फल कछु नाहिं हे. तासों ये सिद्धान्त भयो के नित्यानित्यवस्तुविचाररूप साङ्खचके एक अंशको उपयोग हे ओर चित्तनिरोधरूप एक योगके अंशको उपयोग हे. तासों योग-साङ्खचकी स्तुति गीता आदिमें क्वचित् हे. स्वतन्त्र होयकें मोक्षफलकुं नहिं देय सकें हें. तासों व्याससूत्रनूमें तथा "येऽन्येऽरविन्दाक्षविमुक्तमानिनः"(भाग.पुरा.१०।२।३२) इत्यादि श्लोकनूमें निन्दा लिखी हे।।२०९।।

तासों वेदातिरिक्त जितनें मार्ग हें वे स्वतन्त्र फलसाधक नहिं हें, वेदके ही अङ्ग होयकें वेदोक्त प्रमेय जेसो हे वेसेकुं ही सिद्ध करते भये सफल होय हें. तासों वेदोक्तमार्गनूके अनुसार बर्ताव करिवेसों पुरुषको अल्प हु पात नहिं होय. अतः त्रिवर्णी=ब्राह्मण-क्षत्री-वैश्यनूकुं वेदोक्त सद्धर्मको ही आदरपूर्वक आचरण करनों चहिये।।२१०।।

वेदविरोधे नरकः इति आह **धर्ममार्गं परित्यज्य** इति.

धर्ममार्गं परित्यज्य छलेनाधर्मवर्तिनः।।
पन्तति नरके घोरे पाषण्डमतवर्तनात् ।।२११।।

तत्र हेतुः **पाषण्डमतवर्तनात्** इति, पापवेषस्वीकारात्. एवं साङ्खच-योगद्वारा सर्वाणि मतानि दूषयित्वा, वेदविरोधाभावेऽपि भक्तिमार्गे ब्राह्मणविरूद्धवेषाभावेऽपि प्रकारभेदः अस्ति इति कस्यचिद् शङ्का स्यात् "पाषण्डमार्गः अयमपि" इति तन्निराकरणार्थं प्रकारान्तरे हेतुं वदन् भक्तिमार्गं प्रपञ्चयति **अधुनातु** इति त्रिभिः.

अधुना तु कलौ सर्वे विरुद्धाचारतत्पराः।।
स्वाध्यायादिक्रियाहीनाः तथाचारपराङ्मुखाः।।२१२।।
क्रियमाणं तथाचारं विधिहीनं प्रकुर्वते।।

वेदमार्गकुं छांडिके छल करिकें अधर्मको बर्ताव करिवेवारे हें वे पाखण्डवेषको स्वीकार करिवेके कारण घोर नरकमें पडें हें. तासों आपत्काल विना ही जे पुरुष म्लेच्छन्के वेष-भाषा-आचरणकों धारण करलें हें उनकी हु सद्गति नहिं होय ये बात हु जताई।।२११।।

एवं साङ्खच-योगद्वारा वेदविरोधि सर्व मतन्कुं दूषित किये. अब भक्तिमार्गमें यद्यपि ब्राह्मणके वेषसों विरुद्ध वेषको धारण नहिं हे तथापि कोई पुरुष शङ्ख-चक्रादिकन्के धारणादि वेदविलक्षण प्रकारकुं देखिकें "ये हु पाखण्डमार्ग हे" एसी शङ्का करे ताको निराकरण करिवेके अर्थ भक्तिमार्गकी वैदिक प्रकारसों जो विलक्षणता हे तामें हेतु कहते भये अन्यमार्गकी अपेक्षा उत्तमता दिखाते भये भक्तिमार्गको विस्तार दिखावे हें 'अधुनातु' इति.

अभीके समयमें तो कलिकालके दोषसों सबन्की शक्ति घट गई हे. वेदकी यथार्थ स्थित नहिं हे. सब पुरुष विरुद्धाचरणमें तत्पर हें. वैदिक क्रियासों हीन हें. आचारसों रहित हें. "शौचाचारविहीनानां

विक्षिप्तमनसो भ्रान्ताः जिह्वोपस्थपरायणाः।।२१३।।
व्रात्यप्रायाः स्वतो दुष्टास् तत्र धर्मः कथं भवेत्।।
षड्भिः सम्पद्यते धर्मस् ते दुर्लभतराः कलौ।।२१४।।

कालदोषात् शक्तिह्रासे वेदाभावात् सर्वधर्माभावः।।२१२-१४।।

तर्हि किं विधेयम् इति आकाङ्क्षायाम् आह **अथाऽपि** इति.

अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेत् सदा।।
श्रीभागवतमार्गेण स कथञ्चित् तरिष्यति।।२१५।।

पाषण्डमतस्वीकारम् अकृत्वा यथाशक्त्यग्निहोत्रादिकं कुर्वन् सदा कृष्णं भजन् भवति भगवदुक्तेनैव मार्गेण ततो मुख्यधर्माभावात् न फलं,

---

समस्ता निष्फलाः क्रियाः'' (). तासों करे भये कर्म हु सब निष्फल होत हें. यदि कोई पुरुष वैदिक कर्मकुं करे हे तो विधिरहित करे हे. मन एकाग्र नहीं राखे हे. सदा-सर्वदा भ्रममें ही डूबे रहे आवे हें. जिह्वा-उपस्थके सुखमें परायण रहे आवे हें.

व्रात्यप्रायह्नवर्णधर्मसों हीन हें. स्वभावसों ही दुष्ट हें. एसें मनुष्यन्में धर्म केसे रहि सके हे? क्योंके देश, काल, द्रव्य, कर्ता, कर्म तथा मन्त्र इन छ पदार्थन्सों धर्म बने हे. या कलिकालमें इन शुद्धदेशादि छ पदार्थन्को मिलनों दुर्लभ हे. कलिकालके दोषसों शक्तिह्रास ह्वे गयो तासों वेदको अभाव हे. अतएव सब धर्मन्कोहु अभावहे।।२११।।

तब अनेक प्रकारके सन्तापन्सों दुःखी जीवन्कुं परम सुखप्राप्तिके अर्थ कहा साधन करनों योग्य हे? तहां उत्तर आज्ञा करे हें ''अथापि धर्ममार्गेण'' इति.

पाखण्डमतको त्याग करिकें, भक्तिके अङ्ग समुझिके, यथाशक्ति अग्निहोत्रादिकन्कुं करतो भयो सदा श्रीकृष्णकी भक्तिमें परायण रहे तो कलियुगकों तरि जावे हे. अर्थात् या कलियुगमें मुख्य वैदिकधर्म नहिं भगवद्भजनात् च न पातः, किन्तु कथञ्चित् कलिं तरिष्यति. कलिदोषाभिभूतो न भविष्यति इति अर्थः।।२१५।।

अत्र बाधकद्वयं त्यागार्थम् आह **अत्रापि वेदनिन्दायाम्** इति.

अत्रापि वेदनिन्दायाम् अधर्मकरणात् तथा।।
नरके न भवेत् पातः किन्तु हीनेषु जायते।।२१६।।

भगवन्मार्गे स्थित्वा यदि वेदानाम् अप्रामाण्यं वदेत् कथञ्चिदपि, तदा भगवन्नाम्नो नरकविरोधित्वात् न नरके पातः किन्तु तृतीयमार्गसाधनत्वाद् हीनेषु जायते. शूद्रादिषु सम्भवति.

बन सके तासों वेदोक्त फल हु नहिं होय. भगवद्भजन करतो रहे तो पात हु नहिं होय. किन्तु कलिके दोष वा भक्तकुं दबाय नहिं सके हें. अल्प साधन करिके बडे भारी फलकों देवेको कलियुगको स्वभाव वा भक्तके आगें प्रगट होय जावे हे. तब तो भगवदुक्त प्रकारसों श्रद्धापूर्वक भगवत्कथाको श्रवण, भगवद्गुणन्को गान, स्मरण, जन्मोत्सवादिक करतो भयो धर्म-अर्थ-कामको भगवान्के अर्थ ही आचरण करतो भयो सदा भजन करे हे तब "इमं लोकं तथैवामुम्" (भाग.पुरा.३।२५।३९) इत्यादि तृतीयस्कन्ध पञ्चविंशाध्यायोक्त जीवन्मुक्तिकुं प्राप्त होवे हे. यासों हु अधिकारी होय तो "परस्य मे तेऽश्नुवते तु लोके" (भगा.पुरा.३।२५।३७) श्लोकोक्त वैकुण्ठमें अलौकिक भोगकुं प्राप्त होवे हे. अर्थात् सेवाफलकी टीकामें जो प्रकार लिख्यो हे वाके अनुसार वैकुण्ठादिकन्में सेवोपयोगी देहकुं प्राप्त होवे हे।।२१५।।

मूलकारिकामें जो 'कथञ्चित्' पद कहिके भक्तिमार्गद्वारा हु कलियुगके तरिवेमें सन्देह दिखायो ताको कारण कहे हें "अत्रापि वेदनिन्दायाम्" इति. भक्तिमें हु दो बाधक हें: १.भक्तिमार्गमें स्थित होयके वेदकुं अप्रमाण कहे तथा २.अधर्मको आचरण करे तोह्नयद्यपि नरकपात होनों योग्य हे परन्तु भगवान्को नाम नरकको विरोधी हे तासों नरकमें तो वो परुष नहिं गिर सके हे परन्तुह्नजन्ममरणात्मक तृतीय मार्गकुं अतो दृश्यते नीचयोनिषु भगवद्भक्तानां जन्मः. तस्माद् एतद्वयम् अकृत्वा भगवान् सेव्यः।।२१६।।

शूद्रादियोनौ जातस्य किं फलम्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **पूर्वसंस्कारतः** इति.

पूर्वसंस्कारतस् तत्र भजन् मुच्यते जन्मभिः।।
अत्यन्ताभिनिवेशश्चेत् संसारे न भवेत् तदा।।
एतावन्मात्रताप्यस्ति मार्गेऽस्मिन् मुरवैरिणः।।२१७।।

संस्कारवशाद् भगवद्भजने जायमाने तस्मिन् देहे वेदादीनां स्मरणाभावान् निन्दाभावेन तुष्टः सन् भगवान् मोचयेद् इति अर्थः. तत्रापि एकं बाधकम् आह **अत्यन्ताभिनिवेशश्चेद्** इति. संस्कारस्य दुर्बलत्वे ज्ञानाभावात् संसारे अभिनिवेशो भवति. ततो दृढभजनाभावान् न मुच्यते इति अर्थः. अनेन वेदनिन्दया पुनरावृत्तिः उक्ता. पुनः शुद्धसाधनेन जायमानां मुक्तिं न निवारयति.

प्राप्त होयके हीन शुद्रादियोनिन्में उत्पन्न होवे हे. याहीसों नीच योनिमें कबीर, सदन, रैदास आदि भगवद्भक्तन्के जन्म दीखवेमें आवे हे. तासों वेदनिन्दा तथा अधर्मको त्याग करकें भगवान्की सेवा करनो योग्य हे।।२१६।।

शङ्काः वेदनिन्दा तथा अधर्म द्वारा शूद्रयोनिमें गये भये भक्तकी फेर कहा गति होय?

उत्तरः 'पूर्वसंस्कारतः' इति. शूद्रयोनि प्राप्त भयो भक्त पूर्वजन्मके संस्कारसों वा शूद्रयोनिमें हु भगवान्को भजन करे हे तथा वा देहमें वेदकी याद नहिं रहे हे तासों वेदनिन्दा हु नहीं करे हे. तब प्रसन्न होयकें भगवान् वा भक्तकुं मुक्त करे हें. परन्तु वा जन्ममें हु एक बाधक हे. पूर्वजन्मको भक्तिको संस्कार दुर्बल होय जाय तो संसारमें अभिनिवेश होयवेसों दृढ भजन नहिं बनि सकें, तो मुक्त हु नहिं होय. इतनें कथन करकें वेदनिन्दा करकें पुनरावृत्ति=जन्ममरण होवे हें.

अतो वेदनिन्दाभावे भक्तिमार्गः समीचीनः.

ननु उत्कर्षासहनेन कथं वेदं न निन्देद् अतः सापायएव अयं मार्गः इति आशङ्क्य आह **एतावन्मात्रताप्यस्ति** इति. अनिन्दायां मोक्षः, निन्दायामपि न नरकादिः. वेदातिरिक्तमतेषु भगवन्मार्गे एतावदपि फलम् अस्ति, नतु साङ्ख्यादौ इति तेभ्यः उत्कर्षः।।२१७।।

भक्तिमार्गे मुख्यानां फलम् आह **सर्वत्यागे** इति.

परन्तु शुद्ध भजनसों होयवेवारी मुक्तिकुं पूर्वजन्मकी करी भई वेदनिन्दा नहिं रोक सके हे. तासों वेदनिन्दा नहिं करकें भगवद्भजन कियो जाय तो भक्तिमार्ग अति श्रेष्ठ हे.

तहां भगवन्मार्गकी अपेक्षा वेदके उत्कर्षकुं नहीं सहतो भक्त वेदनिन्दा क्यों नहिं करेगो? तथा निन्दा करेगो तो वाको हीन योनिमें जन्म हु होयगो. तब तो भक्तिमार्ग नाशवारो ही भयो एसी शङ्का नहिं करनी. क्योंके वेदनिन्दा नहिं करे तो मोक्ष होय. यदि वेदानिन्दा करिवेमें आय जाय तो हु नरकादिक नहिं होंय ये सामर्थ हु भक्तिमार्गमें ही हे. वेदातिरिक्त साङ्खचादिमार्गमें यदि वेदनिन्दा होय तो अवश्य नरकपात होय. इतने कथन करिके प्रारम्भदशामें सापाय हु भक्तिमार्ग अन्य मार्गन्की अपेक्षा उत्तम हे ये बात जताई।।२१७।।

जहां तांई निश्चल भक्ति नहिं सिद्ध होय तहां तांई भक्तिमार्गकी प्रारम्भदशा समुझी जावे हे. या प्रकार "यद्यनीशो धारयितुम्" (भाग.पुरा.११।११।२२) "अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव" (भग.गीता१२।१०) इत्यादि गीतावाक्योक्त हीनाधिकारीन्की हु फलद्वारा उत्कर्षता वर्णन करिके "ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः" (तत्रैव१२।६) इति गीतावाक्योक्त भक्तिमार्गीय मध्यमाधिकारी जे भक्त हें, वैदिकमार्गके फलके समान जिनकुं फल मिले हे, जिनकुं नाशको भय नहिं हे, जिनके अर्थ शीघ्र उद्धार करिवेकी भगवान्नें प्रतिज्ञा कीनी हे उन मध्यमाधिकारीन्के फलको वर्णन करें हें 'सर्वत्यागे' इति.

सर्वत्यागेऽनन्यभावे कृष्णमात्रैकमानसे।।
सायुज्यं कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुवं फलम्।।२१८।।

अन्तर्बहिः सर्वत्यागः. स्वामित्वेन कृष्णएव सर्वदा मनोनिवेशनम्. अभ्यासेन तद् भवति. अन्येषां देवानां तद्विभूतित्वेन, तत्सेवकत्वेन वा सन्माननं, यदि स्फुरति. एवं देहपातपर्यन्तं कृष्णैकमानसस्य सायुज्यं शीघ्रमेव भवति. कायवाग्विनियोगाभावेऽपि स्वस्नेहाभावेऽपि मनोमात्रस्थितौ फलम् एतद् इति अर्थः।।२१८।।

ततोऽपि विशेषम् आह **एतादृशस्तु** इति.

एतादृशस्तु पुरुषः कोटिष्वपि सुदुर्लभः।।
यो दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।।
हित्वा कृष्णे परं भावं गतः प्रेमप्लुतः सदा।।२१९।।

बाहिरसों देह-वाणी करिकें सर्व त्याग होय, भीतरसों मन करिकें सर्वत्याग होय, सर्वदा अपने स्वामी मानिकें श्रीकृष्णचन्द्रमें ही मनको निवेश होय तथा यदि हृदयमें स्फुरण होय तो अन्यदेवतानकुं श्रीकृष्णकी विभूति मानिके, उनके अंश मानिकें अथवा भगवत्सेवक मानिकें सन्मान करनोंह्वया प्रकार देहपात पर्यन्त कृष्णैकमानस रहे. अर्थात् मृत्यु होय तहां तांई कृष्णके विषे ही चित्त लगायो राखे तो श्रीकृष्णचन्द्रके साथ शीघ्र ही सायुज्यफलकुं प्राप्त होय. देह तथा वाणी को श्रीकृष्णमें विनियोग नहिं होय, प्रेम हु नहिं होय, केवल अभ्याससों भगवान्में मनकी सर्वदा स्थिति करी जाय तथापि ये फल होय. यहां ''अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते'' (भग.गीता१२।६) या श्लोकको स्पष्टार्थ कियो हे।।२१८।।

उत्तमाधिकारीको वर्णन करें हें: एसो पुरुष क्रोड पुरुषन्में हु दुर्लभ हे जो स्त्री, घर, पुत्र, प्राण, वित्त, ये लोक तथा परलोककुं छांडिके कृष्णचन्द्रमें परम भावकुं प्राप्त होय. वेसे भक्तकी प्रशंसा कीनी हे ''मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः, सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि

पूर्वोक्तो लोके सम्भवत्यपि एतादृशस्तु दुर्लभो यः अग्रे वक्ष्यते. भागवते नारायणपरः प्रशान्तात्मैव लोके दुर्लभः उक्तः. ज्ञानमिश्रो भक्तः प्रेमयुक्तस्तु ततोऽपि दुर्लभः. तत्रापि सदा प्रेमप्लुतः.

महामुनेः'' (भाग.पुरा.६।१४।५) अर्थ:साधन करिवेवारे क्रोड पुरुषन्में एक मुक्त होय हे. वेसे क्रोडन् मुक्त पुरुषन्में हु नारायणमें परायण पुरुष होनो दुर्लभ हे. ज्ञानमिश्र भक्त जो प्रेमयुक्त होय वो वासुं हु दुर्लभ हे. या भक्तिको ''देवानां गुणलिङ्गानाम्'' (भाग.पुरा.३।२५।३२) या तृतीयकन्धके श्लोकमें वर्णन हे. अर्थ: सङ्कल्प-विकल्परहित देवरूप जाको मन होय जाय, जो पुरुषके इन्द्रियन्की गुणातीत भगवान्में स्वभाव करिकें निष्ठा होय वाकुं भक्ति कहें हें. ''नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचित्'' (भाग.पुरा.३।२५।३४) एसे भक्त मुक्तिकुं नहिं चाहे हें. एसे भक्त कितनेक ही हें. यासों दुर्लभता दिखाई. जा भक्तिसों भगवान् भक्तके वश होय जावें वा भक्तिकी अवस्थाको नाम 'प्रेम' कह्यो जावे हे. वा भक्तिको हु सायुज्य ही फल हे. याको ''अनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुङ्कते'' (भाग.पुरा.३।२५।३६) या श्लोकमें वर्णन हे. यासों हु उत्तमाधिकारीको वर्णन करे

हें ''तत्रापि सदा प्रमेप्लुतः''. जो सर्वदा प्रेममें निमग्न रह्यो आवे वो सबसों उत्तमाधिकारी हे. या प्रसङ्गपे दृष्टान्तको वर्णन करेंहें:

श्रीविट्ठलनाथजी गुसांईजीकी एक सेवकनी वृद्धा स्त्री हती. श्रीबालकृष्णजीकी सेवा करती हती. अन्य वैष्णवन्ने वा डोकरीकी श्रीगुसांईजीके आगे निन्दा करी के ये ठाकुरजीकुं बाजरीके दानां भोग धरे हे. ओर कछु सेवा नहिं करे हे. ये सुनिके श्रीगुसांईजी अचानक वाके घर पधार आये. वा समय प्रभुके आगें द्ररिद्रताके कारण दीनता करिके जे बाजरीके कण भोग धरकें डोकरी मन्दिरके बाहिर आय बैठी हती. आप भीतर पधारिकें प्रभुन्के दर्शन करते भये आपनें प्रभुन्सों प्रार्थना करी ''आप मेरे सङ्ग पधारो. यहां डोकरी आपकुं बडो परिश्रम देत हे''. ये सुनिकें ठाकुरजीनें आज्ञा करी: ''ये डोकरी दीनता करिकें, तस्य भगवत्सायुज्यं भवति इति किं वक्तव्यम् इति अर्थः।।२१९।।

एवं भक्तिमार्गे फलम् उपपाद्य सर्वमेव मार्गम् उपपादयति ''**विशिष्टरूपम्...**'' इत्यादिना ''**एतन्मार्गद्वयं प्रोक्तम्...**'' इत्यन्तेन.

विशिष्टरूपं वेदार्थः फलं प्रेम च साधनम्।।

अत्र प्रमेयं विशिष्टरूपम्. यस्य एकैकः अंशः काण्डद्वयेन प्रतिपाद्यते स ज्ञानक्रियोभययुतः. सएव च फलम्.

प्रेममें निमग्न होयकें बाजरीके कण भोग धरे हे. ये एक-एक कण मोकुं त्रिलोकीके व्यञ्जनसों हु अति प्रिय लगें हें. में या डोकरीकुं सर्वथा नहिं छोडूंगो''. ये सुनिकें श्रीगुसांईजी बहुत प्रसन्न भये तथा वा डोकरीके भाग्यकी बडी प्रशंसा करी.

तासों सदा प्रेमनिमग्न ही उत्तमाधिकारी हे. वेसे भक्तकुं भगवान् अलौकिक सामर्थ्यरूप परम फलकुं दे हें. वाके द्वारा भक्त हे सो भगवान्के भजनानन्दको अर्थात् सेवाके आनन्दको अनुभव करे हे. या मुख्य भक्तिके लक्षण श्रीभागवतके तृतीय स्कन्धमें ''अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे'' (भाग.पुरा.३।२९।१२) या श्लोकमें लिखे हें. वो ही ''दीयमानं न गृह्णाति विना मत्सेवनं जनः'' (भाग.पुरा.३।२९।१३) या श्लोकमें भगवत्सेवाके आनन्दमें निमग्न वो भक्त सेवा

विना दीनी भई चार प्रकारकी मुक्तिकुं हु नहिं ग्रहण करें हें ये बात लिखी हे. एसे भक्तके आधीन भगवान् होय जावे हें. ''अहं भक्तपराधीनः'' (भाग.पुरा.९।४।६३) एसे भक्तकुं ही अलौकिक सामर्थ्यरूप फल मिले हे. ये फल सेवाफल ग्रन्थमें स्पष्ट लिख्यो हे. या प्रकार फलको वर्णन करिकें सर्व ही मार्गको वर्णन करे हें।।२१९।।

या भक्तिमार्गमें प्रमेय अर्थात् जानिवे योग्य पदार्थ भगवान् हें. अर्थात् जिनको क्रियारूप अंश वेदके पूर्वकाण्डद्वारा वर्णन कियो हे,

तत्साधनं नवविधा भक्तिस् तत्प्रतिपादिका।।२२०।।
गीता सङ्क्षेपतस् तस्या वक्ता स्वयमभूद्धरिः।।
तद्विस्तारो भागवतं सर्वनिर्णयपूर्वकम्।।
व्यासः समाधिना सर्वम् आह कृष्णोक्तमादितः।।२२१।।

तत्रापि साधनं च प्रेमैव. तत्साधनं नवविधा भक्तिः. श्रवणादिव्यतिरेकेण संस्कारवशात् फलकामनया वा जायमाना प्रीतिः गौणी स्यात्. श्रवणादीनां साधनत्वे प्रमाणं गीता. ''भक्त्या त्वनन्यया शक्य'' (भग.गीता.११।५४) इति साधन-साध्यरूपाम् एकीकृत्य आह. गीतायाअपि प्रामाण्यं फलवाक्यात्. कृष्णस्य फलरूपत्वं, परमानन्दरूपत्वात् पुरुषोत्तमत्वात् च.

गीतार्थं सन्दिग्धं मत्वा विस्तरेण कथनार्थं भागवतं तेनैव रूपान्तरेण कृतम्।।२२०-२१।।

जिनको ज्ञानरूप अंश उत्तरकाण्डद्वारा विवरण कियो हे. भक्तिमार्गमें तो दोनों अंश सहित अर्थात् पूर्णज्ञान-क्रियावारे भगवान् ही प्रमेय हें, जानिवे योग्य हें तथा भगवान् ही फल हें. भगवान्की प्राप्तिमें प्रेम ही साधन हे. प्रेमको साधन नवधाभक्ति हे. श्रवणादिक नवधाभक्ति किये विना, संस्कारवशसों, फलकामनासों उत्पन्न भई प्रीति 'गौणप्रेम' कहावे हे. श्रवणादि भक्ति भगवत्प्राप्तिके साधन हें यामें ''भक्त्या त्वनन्यया शक्यः'' (भग.गीता११।५४) इत्यादि गीतावाक्य प्रमाण हें. या वाक्यमें साध्यरूप प्रेमभक्ति तथा साधनरूप श्रवणादि भक्ति इन दोउ भक्तिन्कुं एक समुझिके ''में एक भक्ति करिकें ही जान्यो जाऊं हुं तथा दर्शन देऊं हुं'' या प्रकार आज्ञा कीनी हे. जिन श्रीकृष्णकी प्राप्ति भक्त चाहे हे उन फलरूप कृष्णके वचन श्रीगीताजी हें. तासों परम प्रमाण श्रीगीताजी मानें जावें हें. परमानन्दरूप तथा

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हें तासों कृष्ण ही फलरूप हें. संक्षेपसों कहे भये गीताजीके अर्थकुं सन्देह सहित मानिकें विस्तारपूर्वक वर्णन करिवेके अर्थ उनही श्रीकृष्णचन्द्रने कृष्णद्वैपायन नामसों वेदव्यासजीको रूप धारण करके श्रीभागवतमहापुराण आज्ञा कियो।।२२१।।

मार्गोऽयं सर्वमार्गाणाम् उत्तमः परिकीर्तितः।।
यस्मिन् पातभयं नास्ति मोचकः सर्वथा यतः।।२२२।।

प्रमाणादीनां चतुर्णामपि एकरूपत्वात् सर्वमार्गापेक्षया अयम् उत्तमो मार्गः. तथाहि, प्रमाणं भगवद्वाक्यम्. वाक्येन प्रवृत्तः साधनम् असाधयन्नपि भगवता कृतार्थीक्रियते. प्रमेयपरिज्ञानं च फलानुभवरूपम्. साधनं च फलादपि अधिकम्. फलं च ज्ञानकर्मादिसाध्येभ्योऽपि अधिकम् इति. अतएव अस्मिन् मार्गे पातभयं नास्ति, प्रमाणप्रवृत्तिम् आरभ्य भगवतो रक्षकत्वात्.

तत्र हेतुः **मोचकः सर्वथा यतः** इति. स हि सर्वानेव येन

प्रमाण, प्रमेय, साधन तथा फल ये चारों या मार्गमें एकरूप हें. तासों ये मार्ग सर्वमार्गकी अपेक्षा उत्तम हे. तथा हि, या भक्तिमार्गमें भगवान्को वाक्य ही प्रमाण हे. प्रभुके वाक्यमें विश्वास राखिकें प्रवृत्त भयो जो भक्त हे वासों कदाचित् कोई बाधक आयवेके कारण साधन ठीक-ठीक नहीं बनि सकें तथापि भगवान् प्रमेयबलसों भक्तकुं कृतार्थ करे हें. क्योंके आप परम दयालु हें. स्वयं जाने हें के "मेरे वाक्यपें विश्वास राखिकें भक्तिमार्गमें प्रवृत्त भये भक्तकी यदि दुर्गति होय जायगी तो "न मे भक्तः प्रणश्यति" (भग.गीता९।३१) अर्थ:मेरे भक्तको नाश नहिं होय हे एसी मेरी प्रतिज्ञा वृथा होयगी". तथा या मार्गमें प्रमेय अर्थात् जानिवे योग्य वस्तु भगवान् हें ओर फल हु भगवान् हें. तासों प्रमेयको ज्ञान होनो ही फलको अनुभव करनो हे. साधन जो भक्ति हे वो फलसों हु अधिक हे. याहीसों भक्त फलरूप भगवान्में लीन होनों नहिं चाहे हे किन्तु सर्वदा भक्ति करनों ही चाहे हे. फल हे सो हु या मार्गमें ज्ञान-कर्मादिकन्सों साध्य पदार्थन्सों अधिक हे. तासों या मार्गमें दुर्गतिको भय नहिं हे. क्योंके भगवान्के गीता-भागवतादिकन्के प्रमाणवाक्यन्कों सुनिके जा दिनसों भक्तिमार्गमें जीव प्रवृत्त होय हे वा दिनसों वा भक्तकी श्रीभगवान् रक्षा करें हें.

क्योंके ऋषि आदिकन्के कहे भये प्रकारसों हु प्रवृत्त भये मनुष्यन्कुं केन-चिदुक्तप्रकारेणापि प्रवर्तमानान् मोचयति, मोचकस्वभावत्वात् तत्र स्ववाक्यानुगतान् कथं न मोचयेत्?।।२२२।।

वर्णाश्रमवतां धर्मे मुख्ये नष्टे छलेन तु।।
क्रियमाणे न धर्मः स्याद् अतस्ततस्मान्न मोचनम्।।२२३।।

किञ्च, यदा वेदादीनां कालवशाद् असाधकत्वं ज्ञातं तदा अयं मार्गो भगवता कथितः. तेन इदानीं न अन्यो मार्गः फलाय।।२२३।।

एवं मार्गस्य उत्तमत्वं प्रतिपाद्य सात्विकान् उपदिशति बुद्धिमान्इति.

बुद्धिमानादरं तस्मिन् छले साध्येऽपि दुःखतः।।
त्यक्त्वा मार्गे ध्रुवफले भक्तिमार्गे समाविशेत्।।२२४।।

भगवान् मुक्त कर दे हें, मुक्त करिवेको आपको स्वभाव ही हे, तहां श्रीमुखके वाक्य, गीता आदिके, अनुसार बर्ताव करिवेवारे भक्तन्को क्यों नहिं उद्धार करेंगे?।।२२२।।

यदि भगवान्को मुक्त करिवेको ही स्वभाव हे तो वेदोक्त यज्ञादिद्वारा ही क्यों नहिं मुक्त करे हें? एसी शङ्का तो नहिं करनी. कलिकालके दोषसों वेदादिक मुक्तिके साधक नहिं होय सके हें. यथावत् यज्ञोपवीतादिक संस्कार भये विना ब्राह्मण्यादि देवतान्को प्रवेश देहमें नहिं होवे हे. तथा आश्रमन्में जेसे आचार कहे हें वे आचार हु नहिं बनि सके हें. तासों कलियुगमें कियो भयो धर्म नाममात्रको धर्म हे. एसें धर्मसों अपूर्व नहिं होय. अपूर्व विना मुक्त्यादिक फल हु नहिं होय. जब भगवान्नें या प्रकार जान्यो तब भक्तिमार्गको कथन कियो. तासों अभी कलिकालमें अन्य मार्ग फलदायक नहिं हें।।२२३।।

या प्रकार भक्तिमार्गकी उत्तमताको वर्णन करकें श्रीवल्लभाचार्यजी महाप्रभुजी सात्विक जीवकुं उपदेश देते हें 'बुद्धिमानादरम्' इति.

कलियुगमें तो कर्मादिक सर्वथा ही नहिं बन सकें परन्तु सत्ययुगादिकन्में

परमादरो बहुषु न सम्भवति. अतएव एकस्मिन् कर्तव्यः. तत्र वेदमार्गापेक्षयाऽपि भक्तिमार्गस्य उत्तमत्वप्रतिपादनात्, साम्प्रतम् अन्यस्य अभावात्, आदरेण भक्तिमार्गे प्रविशेत्. मार्गे प्रवेशमात्रेणैव कृतार्थत्वात्।।२२४।।

ननु एवं पाषण्डानामपि वचनानि भवन्ति इति आङ्क्य आह **विरुद्धकरणं नास्ति** इति.

विरुद्धकरणं नास्ति प्रक्रिया न विरुध्यते।।
कल्पितैरेव बाधः स्याद् अवोचाम प्रमाणताम्।।२२५।।

न अत्र श्रुति-स्मृतिविरुद्धाचारो नापि प्रमेयं वेदविरुद्धम्. अतो न अत्र विरुद्धसम्भावनापि.

हु "गहना कर्मणो गतिः" (भग.गीता४।१७?) इत्यादि गीतावाक्यानुसार दुःख करिकें सिद्ध होय सकें एसें कर्मादिक मार्गन्में आदरको त्याग करनों. अर्थात् बहुत मार्गन्में परम आदर नहिं बन सके हे तासों एक मार्गके विषें ही आदर करनों. वेदमार्गकी अपेक्षा भक्तिमार्ग उत्तम हे. तथा अभी अन्य मार्ग विद्यमान हु नहिं हें. तासों आदरपूर्वक बुद्धिमान् पुरुष भक्तिमार्गमें ही प्रवेश करे. "अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामन्यभाक्, साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः" (भग.गीता९।३०) इत्यादि गीतावाक्यमें स्पष्ट ये बात लिखी हे के दुराचारी हु पुरुष अनन्य होयकें भगवत्सेवा करतो होय तो वाकुं सत्पुरुष समुझनो. तासों भक्तिमार्गमें प्रवेश होत ही जीव कृतार्थ होय जावे हे।।२२४।।

श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करें हें, जेसे पाषण्डी लोग अपने मार्गन्में जीवन्कुं फंसायवेके अर्थ अपने मार्गकुं सब मार्गन्सों उत्तम बतावें हें तासों जा प्रकार पाखण्डीन्के वचन होवे हें वा प्रकार हमारे वचन्कुं मत मानियो. क्योंके पाषण्डीन्के मतन्में जेसें श्रुति-स्मृतिसों विरुद्ध आचरण होवे हे एसें या भक्तिमार्गमें श्रुतिस्मृतिन्सों विरुद्ध आचरण नहिं हे. वेदमें जो परमात्मा परब्रह्मरूप प्रमेयको प्रतिपादन हे वाहीकुं भक्तिमार्गमें प्रमेय मान्यो हे. तासों भक्तिमार्गमें वेदविरुद्धकी सम्भावना नहिं करनी.

ननु पराश्रया मुक्तिः मायावादादिभिः निराकृतेति कथं न प्रमेयविरोधः? तत्र आह कल्पितैरैव बाधःस्याद् इति. ते हि स्वमात्रं फलत्वेन कल्पयन्ति तत्तु

अप्रामाणिकम्, 'आत्म'शब्दस्य भगवद्वाचकत्वात्. नतु जीवपरत्वं वेदान्तानाम्. नापि जीवस्य फलरूपत्वम्. अतः परमानन्दः अधिको भवतीति न कदापि मुक्तिः स्वाधीना. अतः तत्र स्नेहएव तत्प्राप्तिहेतुः.

शङ्काः मायावादीने वेदमें जो 'आत्मा' शब्द हे वाकुं जीवको नाम मान्यो हे. तब शरीर सम्बन्धी जीवात्मा वेदको प्रमेय भयो ओर वाही जीवात्माके आधीन मुक्ति होनों माने हें. तब उनके मतानुसार स्वाधीन मुक्ति भई. ओर भक्तिमार्गमें तो परमात्माकुं प्रमेय मान्यो हे ओर मुक्ति हु उनहीके आधीन मानी हे. तब वेदको तथा भक्तिमार्गको एक प्रमेय केसे भयो?

उत्तरः 'कल्पितैः' इति. मनःकल्पित वाक्यन्सों उन वादीन्नें ''तरति शोकमात्मवित्'' (छान्दो.उप.७।१।३) ''आत्मलाभात् न परं विद्यते'' () आत्माकुं जानिवेवारो शोककुं तरि जावे हे इत्यादि वाक्यन्में 'आत्माकुं' शब्दको अर्थ शरीर सम्बन्धी जीवात्मापरक लगाय लीनो हे. याहीसों वेदार्थके सन्देह दूर करिवेवारे व्यासजीनें ''अनुपपत्तेस्तु न शारीरः'' (ब्रह्मसूत्र१।२।३) या सूत्रमें वेदमें ब्रह्मप्रकरणपठित 'आत्म'शब्द परब्रह्मवाचक हे, जीववाचक नहिं हे ये निर्णय कियो हे. तासों वे वादी अपने जीवकुं फलरूप मानें हे ये बात प्रमाण विरुद्ध हे. वेदमें 'आत्म'शब्द भगवान्को वाचक हे. वेदान्तभाग जीवपर नहिं होय सके हे. जीव फलरूप हु नहिं होय सके हे. क्योंके जीवमें सत्ता-चैतन्य दो ही गुण हें. भगवान्में सत्ता-चैतन्य-आनन्द तीन पदार्थ हें. आनन्द भगवान्में अधिक, जीवमें नहिं हे. जीव तो अंश हे. भगवान् तो जीवसों अधिक हें. तामें ''अंशो नानाव्यपदेशात्'' (ब्रह्मसूत्र२।३।४३) ''अधिकन्तु भेदनिर्देशात्'' (ब्रह्मसूत्र२।१।२२) इत्यादि व्याससूत्र प्रमाण हें. तासों भक्तिमार्ग तथा वेद दोउन्के प्रमेय भगवान् एक ही हें. तासों मुक्ति हु दोनों

अतो युक्त्यापि भगवन्मार्गस्य प्रामाण्यं साधितम् इति अर्थः।।२२५।।

सर्वथा चेद् हरिकृपा न भविष्यति यस्य हि।।
तस्य सर्वम् अशक्यं स्यान् मार्गेऽस्मिन् सुतरामपि।।
कृपायुक्तस्यतु यथा सिध्येत् कारणमुच्यते।।२२६।।

परम् अत्र न सर्वेषां फलमुखाधिकारः किन्तु येषु भगवत्कृपा, कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते।।२२६।।

तत्र आदितः साधनानि आह **कृष्णसेवापरम्** इति.

कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्।।
श्रीभागवत-तत्वज्ञं भजेज् जिज्ञासुरादरात्।।२२७।।

भगवान्के आधीन हें, जीवके आधीन नहिं हें. तासों भगवान्की प्राप्तिको कारण स्नेह ही हे. या प्रकार युक्तिसों हु भक्तिमार्गकुं प्रामाणिकबतायो।।२२५।।

शङ्का: यदि सर्वोत्तम ये मार्ग हे तो सब ही बुद्धिवारे पुरुष यामें क्यों नहिं प्रवृत्त होवे हें?

उत्तर: सबही पुरुषन्कुं या भक्तिमार्गमें फलदायक अधिकार नहीं हे. जापें भगवान्की कृपा हे वाहीकुं भक्तिके मुख्यफलकी प्राप्ति होय हे. पापनाश तो ''देवोऽसुरो मनुष्यो वा'' (भाग.पुरा.७।७।५०) इत्यादि वाक्यानुसार दैव-आसुर कोई हु जीव होय, भक्ति करिवेसों मुक्त हो जावे ही हे. भगवान्की कृपा तो भक्तिमार्गमें रुचिसों जाननों. भगवान्की कृपा विना या मार्गमें रुचि नहीं होय हे. तहां, या जीवकी भक्तिमार्गमें रुचि हे के नहीं हे ये केसे जान्यो जाय? ताको समाधान करत हें: वेष, भाषा, आचरण आदिसों मार्गकी रुचि ज्ञात होय हे. अर्थात् जो पुरुष सदा तिलक, कण्ठी आदि भक्तके वेशकुं धारण करतो होय, दृढताके वचन बोलतो होय, एकान्तमें तथा सबन्के सम्मुख हु भगवान्के नामन्कुं जपतो होय, भक्तिमार्गके आचारन्के अनुसार सदा बर्ताव करतो होय तब जाननों के या पुरुषकी भक्तिमार्गमें रुचिहे।।२२६।।

यो हि गुरुः सेवाम् उपदेक्ष्यति स स्वयं चेत् ताम् उत्तमां जानीयात् तदा कथं न स्वयं कुर्याद् इति सेवापरएव गुरुः. तत्रापि निमित्तानि वारयति **दम्भादिरहितम्** इति. सेवा च प्रमाणमूलैव पुरुषार्थपर्यवसायिनी. अन्यथा मनसि अन्यद् विधाय अन्यथाकरणे न फलसिद्धिः इति अभिप्रायेण आह **श्रीभागवततत्वज्ञम्** इति.

जिज्ञासुः नतु कौतुकाद्याविष्टः. भजनं सर्वभावेन तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा कर्तव्या।।२२७।।

शङ्काः भगवत्कृपासों ही उद्धार होय जावेगो साधन करिवेको कहा कामहे?

उत्तरः भगवान्के अनुग्रहसों तो भक्ति प्रकट होय हे. प्रकट भई प्रेमभक्तिकुं साधनकी अपेक्षा हे. तहां गुरुकी उपासना प्रथम साधन हे. "निरालम्बो यथा लोके स्थानभ्रष्टो निगद्यते, हरेः कृपाविशिष्टोऽपि गुरुहीनस्तथैव च" ( ) अर्थः जा पुरुषके कोई आलम्बन नहिं होय वाकुं लोकमें स्थानभ्रष्ट कहें हे. एसें ही भगवत्कृपा सहित हु पुरुष गुरुहीन होय तो वाकुं स्थानभ्रष्टके समान समुझनों. तासों प्रथम कृष्णसेवामें परायण होय वाकुं गुरु करनों. जो गुरु ओरन्कुं सेवाकरिवेको उपदेश दे हें वो गुरु स्वयं भगवत्सेवाकुं उत्तम जानेंगो तो क्यों नहिं करेंगो तासों सेवापरायण होय वो ही गुरु हे. तहां हु कोई निमित्तसों सेवा नहिं करतो होय. काम, लोभ, प्रतिष्ठाके अर्थ कपटसों सेवा नहिं करतो होय. तथा सर्वप्रमाणन्के सारभूत श्रीभागवतके अनुसार ही कीनी भई सेवा पुरुषार्थ सिद्ध करिवेवारी हे. अन्यथा मनके अनुसार विपरीत सेवासों फलसिद्धि नहिं हे. तासों श्रीभागवतके तत्वकुं जानिवेवारो होय वाकुं गुरु करनों. ओर शिष्यकुं गुरुके समीप जिज्ञासु होयके जानों चहिये, कैतुकाविष्ट होयके जानों योग्य नहीं हे. आदरपूर्वक, सर्वभाव करिकें, ऐहिक-पारलौकिक सहित आत्माको निवेदन करकें आदरपूर्वक गुरुकी आज्ञा प्रमाण सदा करतो रहे. ता पीछे गुरु जा प्रकार भगवत्सेवा करनों सिखावें ताके अनुसार भगवत्सेवा करनों योग्य हे।।२२७।।

सच दुर्लभः इति. तेनापि वक्तव्यं प्रकारम् आह **तदभावे** इति.

तदभावे स्वयं वाऽपि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्।।
परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम्।।२२८।।

क्वचिद् देशविशेषे सत्परिपन्थिनाम् अभावयुक्ते हरेः मूर्तिं कृत्वा भजेत्. अयमेव अस्य प्रकारः उत्तमः. यन् मूर्तौ कृतं सर्वं भगवति कृतं भवति. तत्र मूर्तेः भगवत्वं त्रेधा निरूपयति **तद्रूपम्** इति. वस्तुविचारेण सर्वस्य भगवद्रूपत्वाद् विशेषस्तु अयम् "एनम् उद्धरिष्यामि" इति

तहां श्रीवल्लभाचार्यजी कलियुगकुं बलिष्ठ देखकें आगें होयवेवारे मनुष्यन्में गुरुपणेके लक्षणको अभाव विचारिके अपने ही स्वरूपमें पुष्टिमार्ग अर्थात् ''पोषणं तदनुग्रहः'' (भाग.पुरा.२।१०।४) या वाक्यानुसार अनुग्रह विशिष्ट भक्तिमार्गके गुरुत्वको स्थापन करते भये सेवाको प्रकार दिखावें हें 'तदभावे' इति.

जा देशमें भक्तिमार्गके विरोधी नहिं रहते होंय एसें कोई देशमें स्थित होयकें भगवान्की मूर्तिकी सेवा करे. अर्थात् भगवान्के स्वरूपमें ''ये मेरे स्वामी हें'' या प्रकारको भाव राखिकें, आपुन्कुं भगवान्को सहजदास समुझिके, दासके कार्यकुं करता रहे. यहां कथाश्रवण भगवान्के प्रसन्नताके अर्थ धर्म-अर्थादिकन्को आचरण आदि धर्मन्को प्रथम वर्णन नहिं करकें प्रथम मूर्तिसेवाको प्रकार दिखायो हे ताको कारण ये हे के सब साधनन्में ये मुख्य साधन हे. क्योंके मूर्तिमें कियो भयो वस्त्र, भूषण, नैवेद्यादिक उपचार साक्षात् भगवान्कुं अङ्गीकार करायो समुझो जावे हे.

तहां तीन प्रकारसों मूर्त्तिमें भगवत्त्वको निरूपण करें हें. प्रथम तो सर्वपदार्थ भगवद्रूप हे तो मूर्ति हु भगवद्रूप हे. विशेषता इतनी अधिक हेः जेसे प्रह्लादजी आदि भक्तन्के अर्थ स्तम्भादिकन्मेंसों आप प्रकट भये हें एसें ही सेवा करिवेवारे भक्तके उद्धारार्थ आप मृत्तिका तदा मृदादेः प्रादुर्भूतो भक्तिमार्गानुसारेण आह **तत्र च स्थितम्** इति. मूर्तौ स्थितम्. परं यत्र हस्तः तत्र हस्तः तत्-तदवयवेषु तत्-तदयवाः इति।।२२८।।

तत्र हेतुः

साकार-व्यापकत्वाच्च मन्त्रस्यापि विधानतः।।

श्रीकृष्णं पूयेद् भक्त्या यथालब्धोपचारकैः।।२२९।।

व्यापकं साकारं ब्रह्म इति. अतः सर्वे कटकाद्युपचाराः भगवदवयवेष्वेव साक्षात्कृता भवन्ति. उपासनामार्गानुसारेणापि मूर्तावेव भगवद्भजनं भवति इति आह **मन्त्रस्यापि विधानतः** इति. न्यासादिपूर्वकं सर्वपूजा. मूर्तौ विशेषम् आह **श्रीकृष्णम्** इति.

आदिकन्सों मूर्त्तिरूपमें प्रकट होवे हें. जेसें इन्द्रद्युम्नके उद्धार करिवेके अर्थ दारुब्रह्मरूप श्रीजगन्नाथरायजी प्रकट भये. तक्षकद्वारा हु जेसी इच्छा हती वेसो ही आकार

भगवदाविष्ट चन्दनके काष्ठको प्रकट भयो ये बात जगन्नाथमाहात्म्यमें प्रसिद्ध हे. एसें ही मूर्त्ति सिद्ध होयवेमें जीवकी कृतिद्वारा हु जेसें स्वरूपसों प्रकट होयवेकी इच्छा होय हे वेसें ही स्वरूपको प्रादुर्भाव होय हे. भक्तिमार्गानुसारसों तो भगवान्को स्वरूप मूर्त्तिमें स्थित हे ये निश्चय राखनों।।२२८।।

जहां मूर्त्तिके श्रीहस्तचरणारविन्द हें वहां ही भगवान्के हु हस्तचरणादिक हें. मूर्तिके सब अवयवन्में भगवदवयव हें. क्योंके भगवान् हे सो साकार व्यापक ब्रह्मरूप हें. तासों कडा, किरीट, कुण्डलादिक उपचार भगवान्के अवयवन्में ही साक्षात् अङ्गीकृत होवे हें. उपासनामार्गके अनुसार मन्त्र सहित न्यासपूर्वक पूजा हु मूर्त्तिमें ही श्रेष्ठ होय सकें हे. तासों ज्ञानी, भक्त तथा उपासनामार्गी इन तीनोन्कुं ही मूर्तिपूजन करनों योग्यहे.

अन्य देवतान्की मूर्त्तिमें हु पूजन होय सकें हे परन्तु वहां दो व्यवधान होवें हे. भगवान्को अंश अक्षरपुरुष वाके अंशावतार मूर्त्यन्तरे द्वयन्तरितत्वम्. यथावत् मुख्यतया प्राप्तैः द्रव्यैः उपचाराः कर्तव्याः।।२२९।।

तत्रापि भक्तिमार्गानुसारेण उपचाराः मुख्याः इति आह **यथा सुन्दरतां याति** इति.

यथा सुन्दरतां याति वस्त्रैराभरणैरपि।।
अलङ्कुर्वीत सप्रेम तथा स्थानपुरःसरम्।।२३०।।

सप्रेम इति अनुद्वेगार्थम्. स्थानं मन्दिरम्. तदलङ्कारपूर्वकमेव भवदलङ्करणं कर्तव्यम् इति अर्थः।।२३०।।

एवं प्रवृत्तस्य भार्यादीनां विनियोगम् आह **भार्यादिरनुकूलश्चेद्** इति.

भार्यादीरनुकूलश्चेत् कारयेद् भगवत्क्रियाम्।।
उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजेत्।।

तथा अन्य देवता उनको आवेश, लोहके गोलामें जेसे अग्निको आवेश होय, तेसें मूर्त्तिमें आवेश होय. श्रीकृष्णकी मूर्तिमें अंशी मूलरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमको ही

आवेश होय हे. तासों श्रीकृष्णकी ही प्रेमसहित सेवा करनो. राजाधिराजको जा प्रकार उपचार कियो जाय ता रीतिसों सेवा करनी. जितनें पदार्थ प्राप्त होंय उनसों उपचार=उचित सत्कार करतोरहे।।२३०।।

भक्तिमार्गके अनुसार ही भगवत्सत्कार करनों योग्य हे. जेसें अत्यन्त सुन्दरता प्रकट होय एसी रीतिसों प्रेम करके वस्त्र-आभूषण धारण करावनों. प्रेम सहित सेवा करिवेसों चित्तको उद्वेग मिटे हे. प्रथम मन्दिरकी सोहनी, मन्दिरवस्त्र, छिडकाव, मांडना आदिकन्सों सेवा करनी. या प्रकार चन्दवा, पिछवाई, सिंहासन, शैय्याजी आदि पदार्थन्की सेवा हु प्रथम ही कर राखनी. तासों समयपें विलम्ब नहिं होय।।२३०।।

स्त्री पुत्रादिकन्सों हु सदा भगवत्सेवा करवाते रहनों. क्योंके सेवामें सहायताकी अपेक्षा हे. पुरुष वस्त्रभूषणादि धारण करावें जितनें समयमें स्त्री व्यञ्जन सिद्ध करले तो भोग आयवेमें विलम्ब नहिं होय. यदि स्त्री-पुत्रादिकन्की उदासीन वृत्ति होय, अर्थात् सेवामें प्रीति नहिं होय

तत्त्यागे दूषणं नास्ति यतो विष्णुपराङ्मुखाः।।२३१।।

भार्यादिकं गृहम्. विष्णुपराङ्मुखा भार्यादयः, अन्यथा परित्यागे दोषएव. अनेन अवैष्णवैः सह अस्मिन् मार्गे न स्थातव्यम् इति उक्तं भवति।।२३१।।

जीवने प्रकारम् आह **सर्वथा वृत्तिहीनश्चेद्** इति.

सर्वथा वृत्तिहीनश्चेद् एकं यामं हरौ नयेत्।।
पठेच्च नियमं कृत्वा श्रीभागवतमादरात्।।२३२।।

याममात्रं भगवत्सेवां विधाय पश्चाद् अनिषिद्धेन उपायेन जीवनं सम्पादयेत्. पारम्पर्यजीवनमपि निषिद्धं चेत् तदा त्यक्तव्यम्. "अचौराणाम् अपापानाम्" (भाग.पुरा.७।११।३०) इति वचनात्.

तो उनसों सेवा नहीं करवावे, आप स्वयं ही सेवा करे. क्योंके आग्रह करकें स्त्रीपुत्रादिकन्सों सेवा करवायवेमें उनकुं क्लेश होय तो क्लेशसहित सेवाको भगवान् अङ्गीकार नहिं करें हें. यदि स्त्रीपुत्रादिक प्रतिकूल अर्थात् सेवाके विरोधी होंय,

आपुन्कों हु सेवा करिवे नहीं देत होंय तो उनकुं छांडि देनें. सेवासों प्रतिकूल भये विना स्त्रीपुत्रादिकनके त्यागमें दोष हे.

स्त्रीपुत्रादिकन्को ही नाम यहां गृह हे. "गृहिणी गृहमुच्यते". उन ही को त्याग हे घरको त्याग नहिं हे. घर छांडिवेसों सेवा नहिं बन सके हे. "ततो दुःस्सङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्" (भाग.पुरा.११।२६।२६) इयादि प्रमाणानुसार भगवान्सों बर्हिमुख स्त्री-पुत्रादिकनके त्यागमें दोष नहिं हे. या करके अवैष्णवके साथ नहिं बेठनो ये बात हु जताई।।२३१।।

जीवन निर्वाहको प्रकार दिखावे हें. सर्वथा कोई प्रकारकी जीविका नहीं होय तो प्रहर भर भगवत्सेवा करके पाछें अनिषिद्ध उपायसों जीवन करे. परम्परा करके हु यदि निषिद्ध वृत्ति चली आती होय तो वाकुं हु छोड देनो योग्य हे. यद्यपि भक्तिमें सब जीवन्कुं अधिकार हे परन्तु आहारकी शुद्धि भयेसों सत्वशुद्धि नाम अन्तःकरणशुद्धि होय हे. तासों शुद्धवृत्तिसों जीविका करनी.

जीविकायां चित्तं व्यापृतं पुनः भगवति योजनार्थम् उपायम् आह **पठेच्च नियमं कृत्वा** इति. अनेन अल्पबहिर्मुखतायामपि भागवतम् अनुसन्धेयम् इति उपायः कथितः।।२३२।।

एतद् भजनम् आन्तरं मुख्यम्. तत्र यथा बहिर्भजने प्रतिकूलपरित्यागः तथा आन्तरभजनेऽपि प्रतिकूलपरित्यागम् आह **सर्वं सहेत** इति.

जिविकाके कार्यमें लगे भये चित्तकों पाछो भगवान्में लगायवेके अर्थ उपाय बतावे हें 'पठेच्च' इति. नियमपूर्वक श्रीभागवतको पाठ करनो. थोडी हु बहिर्मुखता प्रतीत होय तो श्रीभगवतको पाठ करनो. ये ही भगवान्में चित्त लगायवेको उपाय हे।।२३२।।

ये सेवा आन्तरीय-मुख्य हे. अर्थात् जेसे श्रीगङ्गाजीको प्रवाह समुद्रमें सर्वदा अविच्छिन्न मिल्यो रहे हे वा प्रकार प्रेमप्लुत हायकें सर्वदा श्रीकृष्णमें मनकी

अविच्छिन्न गति राखनों मानसीसेवा हे. ये मुख्य हे. या प्रसङ्गपे दृष्टान्तको वर्णन करें हें:

एक वैष्णव ब्राह्मण सकुटुम्ब सेवा करतो हतो. अपने पुत्रकी बहुकुं उन्मत्त समुझिकें वाकुं आये–गये भक्तनकी सेवा करिवे धरदीनीं. भीतरकी सेवा कछु वासों करवावे नहिं. थोडे दिनमें भक्तन्‌की सेवासों वाके ऊपर भगवान्‌की कृपा होय गई. एक दिनां वो ब्राह्मण ठाकुरजीके शृङ्गार करते–करते मनमें विचार करिवे लग्यो "अभी शीघ्र राजभोग करकें जूती पहरवे जाऊंगो". वा ही समय एक वैष्णवनें आयकें वा ब्राह्मण वैष्णवकुं हेला दियो. तब वो पुत्रकी बहु बोली के श्वशुर यहां नहिं हें. जूती पहरिवे गये हें. ये सुनिकें ब्राह्मण वैष्णव पुत्रकी बहुकुं धन्यवाद देवे लग्यो. बहुके ऊपर अधिक भगवत्कृपा जानिकें सब सेवा वासों करवायवे लग्यो. आप हु भगवान्‌में एकाग्र चित्त राखिकें सेवा करतो भयो.

सर्वं सहेत पुरुषं सर्वेषां कृष्णभावनात्।।
वैराग्यं परितोषं च सर्वथा न परित्यजेत्।।२३३।।

यथा गृहम् अव्याकुलं बहिःपूजायां कर्तव्यं तथैव हृदयम् अव्याकुलं विधेयम्. "तथाऽरिभिर्न व्यथते शिलीमुखैः" (भाग.पुरा.४।३।१९) इति वाक्याद् दुष्टानां वचनेन क्षोभो भवति. तत्र तानि वचनानि हितत्वेन ग्राह्याणि. अत्यन्तं विरुद्धानि चेत् प्रकारभेदेन. तत्र उपपत्तिम् आह **कृष्णभावनाद्** इति. कृष्णएव अस्मान् उपदिशति "बहिर्मुखतया न स्थातव्यम्" इति अर्थः. उत्तमगुरुद्वयशिक्षा अनुसन्धेया इति आह **वैराग्यम्** इति।।२३३।।

जेसे बाहिर–देहसों सेवा करिवेमें सेवाविरोधी पदार्थको त्याग हे एसे भीतर–हृदयमें सेवा करिवेमें हु जो विरोधी होंय उनके त्यागको वर्णन करे हें "सर्वं सहेत" इति.

जेसे बाहिर सेवा करिवेमें गृहकी व्याकुलता दूर करनी एसें ही भीतर सेवा करिवेके अर्थ हृदयकी व्याकुलता दूर करनी. जेसो कष्ट शत्रुके बाण लगवेसों नहिं होय हे एसो दुष्टन्‌के बचनन्‌सों हृदयमें क्षोभ होय हे. यदि उनके वचनसों हृदय

व्याकुल होय तो भीतरकी सेवा नहिं बन सके. तासों दुष्टवचननूकों अपने हितकारी समुझिकें सुन लेने. यदि वे वचन अत्यन्त विरुद्ध होंय तो ''श्रीकृष्ण ही मोसों आज्ञा करें हें के बहिर्मुख होयकें नहिं रहनों'' एसें समुझि लेनो. परन्तु हृदयमें क्षोभ नहिं होयवे देनों. उत्तम गुरुकी जो दोय शिक्षा उनकुं याद राखनों. वैराग्य एवं सन्तोष कबहु नहिं छोडने. आसक्ति राखिवेसों कपोत जेसे स्त्री-पुत्रादि सहित जालमें फंस गयो एसे आसक्ति राखिवेसों गृहस्थी फंस जावे हे. तासों वैराग्य राखनों. सन्तोष राखिवेसों पिङ्गला वेश्या कान्ताशा छांडिके सुखपूर्वक सोय गई. तासों सन्तोष कबहु नहिं छोडनो।।२३३।।

एवं सहने हेतुभूतं विचारम् आह **एतद्** इति.

एतद् देहावसाने तु कृतार्थः स्यान् न संशयः।।

इति निश्चित्य मनसा कृष्णं परिचरेत् सदा।।२३४।।

भृतकः समयमिव देहावसानमेव चिन्तयेत्. एकापि परिचर्या सकृत्

एसे सहन करिवेको कारण ये हे के जेसे लोकमें सेवक स्वामीकी सेवा करते समय ये दृढ विश्वास राखे हे के ''सेवाके अन्तमें फल अवश्य मिलेगो. तासों कब सेवा पूरी होयह्नकब फल मिले'' एसे ही ''कालं प्रतीक्षन् विमदो विमत्सरः'' ( ) इत्यादि वाक्यानुसार नारदजी अपनी मृत्युकी बाट देखते-देखते भगवत्स्मरण-कीर्तन परायण रहे आये हते. देहान्त भये पीछे भगवत्पार्षद होय गये. या प्रकार ही ''देहके अन्तमें अवश्य में कृतार्थ होऊंगो'' एसो दृढनिश्चय राखिकें जहां तांई बन सकें तहां तांई बाह्यसेवाह्नतनुजा-वित्तजा तथा आन्तरसेवाह्नमानसीकुं करतो रहे. ये सब ऊपर कह्यो उपदेश हीनाधिकारी तथा मध्यमाधिकारी के अर्थ हे. उत्तमाधिकारीकों तो भगवत्साक्षात्कार होयवेसों सेवामें आनन्द प्रकट होय जावे हे. फिर वो ''विनामत्सेवनं जनाः'' (भाग.पुरा.३।२९।१३) मुक्तिकुं नहिं चाहे हे. सेवाकुं स्वतःपुरुषार्थरूप मानिकें वाके आनन्दमें निमग्न भयो सर्वदा सेवा ही करतो रहे हे.

तहां मन्द-मध्यमाधिकारी ये शङ्का करे के सर्वदा हमसों सेवा नहिं बन सके. ताको ये उत्तर हे के एक वार करी भई प्रेम सहित एक हु सेवा परमपुरुषार्थ देवेवारी हे. श्रीभागवतमें लिखे हें ''सकृदिष्ट्वादिपुरुषं परुषो याति साम्यताम्''

(भाग.पुरा.६।१८।६६) अर्थः एक बेर पूजन करकें पुरुष भगवान्‌के समानताकुं प्राप्त होय जावे हे. तहां एक सेवाकरके ही कृतार्थता होय जावेगी तब सर्वदा सेवा क्यों करनो? एसी शङ्का तो नहिं करनी. क्योंके बाहिरकी सेवामें देहको जीवके ऊपर बडो उपकार हे. तासों वाके बदलेमें जीवकुं हु देहसों सेवा करायके देहकुं कृतार्थ करनों योग्य हे. नित्यप्रलयपक्षके अनुसार, देह क्षण-क्षणमें अन्य कृता परमपुरुषार्थदा इति. परं विद्यमानदेहस्य निष्कृत्यर्थं सदा परिचरेत्।।२३४।।

ननु क्व देशे, कथं वा परिचरेद्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **सर्वापेक्षाम्** इति.

सर्वापेक्षां परित्यज्य दृढं कृत्वा मनः स्थिरम्।।
दृढविश्वासतो युक्त्या यथा सिद्धयेत् तथाचरेत्।।
वृथालाप-क्रिया-ध्यानं सर्वथैव परित्यजेत्।।२३५।।

सापेक्षम् असमर्थं भवतीति मूलं भगवदर्थे स्थापयित्वा साधनाभावाद् वैकल्यं जातमपि निवार्य चित्तं भगवत्येव स्थिरीकृत्य यथा पुत्रः पितरि मातरि वा विश्वासं करोति तथा दृढविश्वासो लौकिकयुक्त्या यथैव पूजा सिद्ध्यति तथैव कर्तव्यमिति लौकिकयुक्तिरेव उपदिष्टा.

होती चली जाय हे. उन क्षण-क्षणमें उत्पन्न होयवेवारे देहन्‌कुं कृतार्थ करिवेके अर्थ कोई क्षण सेवा विना नहिं रहनों चहिये. तथा एक दण्डादि धारण करनों जेसे ज्ञानीदेहके निश्चय करायवेवारे हें तेसें भक्तदेहकी निश्चय करायवेवारी सेवा हे।।२३४।।

अथवा ‘‘वैधोपयोगोर्वरितस्य भूयो वैधोपयोगः प्रतिपत्तिरुच्यते’’ ( ) तहां कोन देशमें केसे परिचर्या करनों एसी आकाङ्क्षा भई तहां आज्ञा करे हें ‘सर्वापेक्षाम्’ इति. सब अपेक्षान्‌कुं छांडिके अर्थात् भगवान्‌के अर्थ स्थापन करके, मनकुं भगवान्‌के अर्थ अर्पण करके, सेवाके साहित्यमें अशक्यतासों कोई पदार्थकी हीनता देख करके हृदयमें उत्पन्न भई जो विकलता वाको निवारण करकें, अर्थात् ‘‘माता-पिता पुत्रको हित ही करे हे एसे भगवान् मेरो हित ही करेंगें’’ एसो दृढ विश्वास करके चित्तकुं भगवान्‌में ही स्थिर करके जेसी रीतिसों सेवा सिद्ध होय वेसे ही बरताव करनों. ‘‘मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च’’ (भाग.पुरा.११।१९।२२) या वाक्यमें ‘‘मेरे ही अर्थ भक्तन्‌कुं अङ्गन्‌की चेष्टा करनीं चहिये’’ ये जो भगवान्‌नें आज्ञा

कीनी हे यासों सेवाको ही श्रीमुखसों उपदेश दीनो हे. चित्तकों एकाग्र राखें बिना कीनी भई सेवा आधिदैविकी नहिं होय. तासों चित्तकुं एकाग्र राखनों.

तद्युक्तिसिद्ध्यर्थं वृथालापादिकं प्राप्तं निषेधति **वृथालाप** इति. कायवाङ्मनसां स्वभावतः प्रवृत्तां क्रियां त्यजेत्।।२३५।।

यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः।।
येन स्यान् निर्वृतिश्चित्ते तत् कृष्णे साधयेद् ध्रुवम्।।२३६।।

भगवत्सेवायामपि क्लिष्टं न समर्पयेत्. तत् क्लिष्टं त्रिविधं १.लोकक्लिष्टं २.आत्मक्लिष्टं ३.चित्तक्लिष्टं च इति. अतः अक्लिष्टं निरूप्यते. लोके यद्-यदिष्टतमम् आम्र-द्राक्षादि आत्मनः अत्यन्तं प्रियं दुग्धादि, सन्मार्गोपार्जितं, न अन्येषां भागरूपम्,

---

जितनेमें सेवा-साधन सिद्ध होय उतनो ही उपायचातुर्य करनो, अधिक नहिं करनो. सेवार्थ लौकिकउपाय करिवेमें बहिर्मुखता हु नहिं होय हे. लौकिक उपायादि युक्तिसिध्यर्थ देह-वाणी-मन इनकी वृथा चेष्टा नहिं करनी. अर्थात् वाणीसों वृथा भाषण नहिं करनो. शरीरसों वृथा चेष्टा नहिं करनी. मनमें वृथा लौकिक पदार्थन्को ध्यान नहिं करनों. क्लेश रहित सन्मार्गसों उपार्जित साधनसों सेवा करनी. अन्यायसों क्लेशपूर्वक उपार्जित पदार्थन्कुं भगवान्के अर्थ अर्पण नहीं करनो.

क्लिष्टपदार्थ तीन प्रकारको होवे हेः १.लोक जामें क्लेश पावे, २.आत्मा जामें क्लेश पावे एवं ३.चित्त जामें क्लेश पावे एसे पदार्थ भगवान्के अर्थ अर्पण नहिं करनें।।२३५।।

आगें अक्लिष्ट पदार्थको निरूपण करें हेंः "यद्यदिष्टतमं लोके यच्चाति प्रियमात्मनः" (भाग.पुरा.११।११।४१) ये आधो श्लोक श्रीभागवत एकादशस्कन्धोक्त भगवद्वाक्य हे. लोकमें जो इष्टतम अर्थात् अत्यन्त अभिलाषाके योग्य जो वस्तु होय; जेसे दाख, आम्रफल, केला आदि; तथा जो वस्तु आत्माकों अत्यन्त प्यारी होय जेसें दुग्ध नवनीत आदिक; ये वस्तु हु सन्मार्गसों उपार्जित करी भई होंय, अन्याय-चोरी आदिसों नहिं लाये गये होंय; तथा कोईको उन वस्तुन्में

हिस्सा नहिं होय; चिरकालमनोरथचिन्तितम्, अतःकरणप्रियम्. तेनैव चित्तनिर्वृतिः. इतरनिषेधार्थम् एतद् उक्तम्।।२३६।।

सेवा मुख्या, नतु पूजेति मन्त्रमात्रपूजापरो न भवेद् इति आशयेन आह **स्वयं परिचरेद्** इति.

स्वयं परिचरेद् भक्त्या वस्त्रप्रक्षालनादिभिः।।
एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि पूजयेत्।।२३७।।

धर्मार्थतां व्यावर्तयति **भक्त्या** इति. वस्त्रप्रक्षालनम् अतिबहिरङ्गमिति तद्ग्रहणम्.

तथा जा पदार्थको बहुत कालसों मनोरथ होय रह्यो होय; जा पदार्थके प्राप्त होयवेसों चित्तमें आनन्द आवेह्नएसें पदार्थ भगवान्कुं अर्पण करनें. इनसों इतर पदार्थन्को निषेध करिवेके अर्थ ये कथन कियो हे।।२३६।।

सेवा मुख्य हे, पूजा मुख्य नहिं हे. तासों सेवायोग्य पदार्थन्के सञ्चय करिवेमें परिश्रम पडतो समुझकें सेवा छोडकें केवल मन्त्रन्सों मनमें पूजाकरिवेमें परायण नहिं होय जानों. "आदरः परिचर्यायाम्" (भाग.पुरा.११।१९।२१). "विनामत्सेवनं जनाः" (पूर्ववत्) "सेवानुरक्तमनसामभवोपि फल्गु" (भाग.पुरा.५।१४।४४) इत्यादिक वाक्यन्में सेवा ही मुख्य राखी हे. आगे साधनमें पूजा करिवेको उपदेश कियो हे तहां हु भगवान्के समीप स्थित होयके वस्त्र, अलङ्कार आदि धारण करायवेकी जो प्रधान सेवा हे वाको 'पूजा'शब्दसों ग्रहण करनो. वेदोक्त तथा तन्त्रोक्त पूजाको वहां ग्रहण नहिं हे. वा पूजाको प्रकार तथा फल सेवाके प्रकार-फलसों भिन्न हे. क्षर अक्षरसों उत्तम जो परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हें सो केवल भक्तिसों ही प्राप्त होवे हें. "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया" (कठ.उप.२।२३) "नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया" (भग.गीता११।२३) "न रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म उद्धव, न स्वाध्यायः तपस्त्यागः" (भाग.पुरा.११।१२।१) इत्यादि श्रुति-स्मृति-पुराणन्के वाक्यन्सों यज्ञ, दान, पूजा, तप, योग आदि जितनें साधन हे उनसों परब्रह्मकी प्राप्ति नहिं होय हे ये बात सिद्ध होवे हे. "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः" (तत्रैव११।१४।२१) "भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति" (तत्रैव) "धर्मान् सन्त्यत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः" (तत्रैव११।११।३२), "तस्मात् त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनम्" (तत्रैव११।१२।१४) इत्यादि भगवान्के

वाक्यन्सों भक्ति करकें ही पुरुषोत्तम परब्रह्मकी प्राप्ति होय हे ये सिद्धान्त हे. तहां 'भक्ति'शब्द "भज् सेवायाम्" धातुसों सिद्ध होय हे. तासों 'भक्ति'नाम सेवाको हे. श्रुति-स्मृति-तन्त्रन्में वा सेवाको प्रकार दिखायो हे एसे मान्यो जाय तो श्रुति-स्मृतिके कहे भये अन्य साधनन्सों परब्रह्मप्राप्तिको निषेध हे तेसें भक्तिद्वारा हु परब्रह्मप्राप्तिको निषेध सिद्ध होयगो. जो एसे ही मानें तो "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः" (पूर्ववत्) इत्यादि वाक्यन्में "एक भक्तिद्वारा ही मेरी प्राप्ति होय हे" ये लिखी हे तासों विरोध आवे हे. तासों श्रुति-स्मृति-तन्त्रन्में मुख्य भक्तिको विधान नहिं हे. श्रीकृष्णनें हु "भक्तियोगः पुरैवोक्तः" (तत्रैव११।१९।१९) "तानाविदन् मय्यनुसङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्" (तत्रैव११।१२।१२) "केवलेनहि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः" (तत्रैव११।१२।८) इत्यादि वाक्यन्करके वेदमन्त्रादिविधिसों रहित ब्रजवासीन्की भक्तिकुं मुख्य राखी हे. जेसें एक स्वामीके दो सेवक हें. एक सेवक मासिक द्रव्य लेवेके अर्थ जा कार्यकी स्वामी आज्ञा करतो जावे हे वा कार्यकुं वो करतो जावे हे. दूसरो सेवक सब कामना छांडिके स्वामीकी सेवाकुं ही परमफल मानिकें, आज्ञाकी अपेक्षा न राखिके, स्वामीकी अभिलाषाकेअनुसार आगे-सुं-आगें प्रेमपूर्वक सर्व सेव करे हे. पहिले सेवकके समान वैदिक-तान्त्रिक भक्तिवारेकुं समुझनो. अर्थात् जेसे-जेसे वेद तथा तन्त्र में भगवान् पूजा करिवेकी आज्ञा करें हें वाके अनुसार वो सेवक स्वर्गादि अथवा मुक्ति आदि पदार्थके अर्थ पूजा करतो जावे हे. दूसरे सेवकके समान अविहित प्रेमलक्षणा भक्तिकरिवेवारेकुं समुझनों. जेसे यशोदाजी आदि गोप-गोपी वेद-तन्त्रादिकमें पूजा करिवेकी जेसी आज्ञा हे वाकी अपेक्षा न राखिके श्रीकृष्णचन्द्रकी अभिलाषाके अनुसार स्नेहसों सेवा करते हते. शुकदेवजीने हु "नायं सुखापो भगवान्" (भाग.पुरा.१०।९।२१) "नेमं विरिञ्चो न भवो" (तत्रैव१०।९।२०) इत्यादि श्लोकन्में विहितभक्ति करिवेवारे ब्राह्मादिकन्की अपेक्षा प्रेमलक्षणा भक्ति करिवेवारी यशोदाकी प्रशंसा करी हे. परन्तु ये भक्ति जहां तांई प्रेम नहिं होय तथा प्रभुन्के अभिप्रायकुं नहिं जान्यों जाय तहां तांई नहिं बन सके हे. तहां तांई वेद-तन्त्रानुसार पूजा अवश्य करते रहेनो. या मुख्य भक्तिमार्गमें आये जीवन्कुं जहां तांई प्रेमद्वारा प्रभुको अभिप्राय विदित नहिं होय तहां तांई जिन भक्तन्कुं प्रभुन्को अभिप्राय विदित हे, जिनके आधीन प्रभु होय रहे हें उनके आचरणन्के अनुसार आचरण करनों चहिये. "देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च" (तत्रैव१०।२८।१) जेसे वे सेवा करें वेसे ही सेवा करनो चहिये. तहां स्वयं शुद्ध होयकें तथा सेवाके साधन गृह-द्रव्यादिकन्कुं शुद्ध करके कृष्णसेवा करनो. "इष्टं दत्तं तपो जप्तं वित्तं यच्चात्मनः प्रियम्, दारान् सुतान् गृहान्

प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम्, मयि सञ्जायते भक्तिः उद्धवात्मनिवेदिनाम्'' (तत्रैव११।१९।२४) इत्यादि भागवतके वाक्यानुसार स्त्री, पुत्र, द्रव्य, देहादि सहित आत्माकुं भगवान्के आगें निवेदन करिवेसों ये सब पदार्थ शुद्ध होय जावे हें ये ही आत्मनिवेदनको प्रकार श्रीवल्लभाचार्यजीके प्रति साक्षात् भगवान्ने पवित्रा एकादशीके दिनां रात्रिमें आज्ञा कियो हे वो वल्लभाचार्यजीने सिद्धान्तरहस्यमें वर्णन कियो हे. या निवेदन करिवेसों सब पदार्थमेंसों अपनों सम्बन्ध दूर होय जावे हे. ब्रह्मसम्बन्धी अर्थात् ''सब पदार्थ भगवान्के हें'' एसी बुद्धि होय जाय तब सेवाकी योग्यता होय हे. ता पीछे पूर्ण भक्तन्नें जेसें प्रभुन्की इच्छानुसार सेवाके क्रम बांधे हें उनके अनुसार घण्टा, शङ्ख नाद आदिसों लेयकें शयन पर्यन्त सेवा करनों. तहां घण्टा-शङ्ख नादादिक वेद-तन्त्रानुसार या मार्गमें क्यों होवें हें? एसी शङ्का नहिं करनी. भगवदिच्छानुसार ही शङ्ख नादादि क्रम आचार्यन्नें बांधे हें, तन्त्रानुसार नहिं हें. प्रसङ्गः

> प्रथम श्रीनाथजीके यहां शङ्ख नाद नहीं होते हते.एक दिन श्रीगोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीनें सांजकी सेवा करिवेके अर्थ मन्दिरके किंवाड खोले वा समय श्रीनाथजीको बागा फट रह्यो हतो. ये देखिकें विचार करिवे लागे. इतनेमें गोविन्ददासनें आयकें कही ''महाराज श्रीनाथजी श्यामढाकपेसों कूदिकें पधारे वा समय बागा फट गयो हे. कछु टूक श्यामढाकपें लटक रह्यो हतो ताकुं लायो हुं''.

वा दिनसों शङ्ख नाद तीन बेर करनों ता पाछें १० पल ठहरिके मन्दिरके किंवाड खोलनो प्रारम्भ भयो. या प्रकार जितनों सेवाक्रम हे सो सब भगवान्की अभिलाषाके अनुसार बंध्यो भयो हे. उत्तमाधिकारी जीवकुं रहस्यग्रन्थके देखिवेसों स्फुट होय जावे हे. तासों स्नेहपूर्वक स्वयं अपने हाथन्सों श्रीप्रभुन्के वस्त्र जलाशयपे जायके धोनें, उपवनमेंसों फल-पुष्पादिक ल्यावनें, सेवाके अतिबहिरङ्ग साधनकुं हु अपने हाथन्सुं करनों. जेसें कृच्छ्रादिकन्के उपवास कष्ट पायके हु धर्मप्राप्तिके अर्थ करनें पडे हें या प्रकार धर्मसिद्धिरूप प्रयोजन विचारिके सेवा नहिं करनी. जेसे स्त्री प्रियपतिकी सेवा स्नेहसों करे हे एसी प्रीतिपूर्वक अपने अहोभाग्य समुझिकें प्राणप्रिय प्रभुन्की सेवा करनीं.

साधनावस्थामें अभी प्रभुकुं अमुक वस्तु अङ्गीकार करानी ये बात हमकुं केसें मालुम पडे? ये शङ्का तो नहिं करनी. क्योंके सिद्धावस्था भये पीछे तो प्रभु स्वयं

अनुभव जतावेंगे. जहां तांई एसो अधिकार नहिं हे तहां तांई "यच्चातिप्रियमात्मनः" (पूर्ववत्) "तत्तन्निवेदयेन् मह्यम्" (तत्रैव११।११।४२) इत्यादि वाक्यानुसार जा पदार्थमें अपनी प्रिय समुझके इच्छा होय वा पदार्थकुं प्रभुकों अङ्गीकार करावनो. अर्थात् जहां तांई साक्षात् अनुभव नहिं होय तहां तांई भक्तके हृदयमें स्थित होयके अपनें अङ्गीकार करिवेके अर्थ उन-उन पदार्थन्में भक्तकी इच्छा करावेहे.

प्रधानावृत्तौ अङ्गानि आवर्तन्तइति प्रधानावृत्तिम् आह **एककालम्** इति. अनेन बहुकालमपि पूजनं निरूपितम्।।२३७।।

अत्र नित्यकर्मादीनाम् अङ्गत्वम् आह **स्वधर्माचरणम्** इति.

स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम्।।

इन्द्रियाश्वविनिग्राहः सर्वथा न त्यजेत् त्रयम्।।२३८।।

स्वधर्माः अग्निहोत्रादयः. विधर्माः निषिद्धाः. न अत्र शक्त्या इति. सर्वथा निषिद्धं न कर्तव्यम्. इन्द्रियाण्येव अश्वाः. एतन् निग्रहः इष्टदेशप्रापकः.

प्रधानकी आवृत्ति होयवेसों वाके अङ्गन्की हु आवृत्ति होय हे. तहां प्रधान=सेवा जो वस्त्रालङ्कारनैवेद्यादि समर्पणरूप पूजा हे वाकी आवृत्ति करनों. एक काल अथवा दो काल अथवा प्रातः मध्याह्न सायं या प्रकार त्रिकाल पूजन करनो. अधिक स्नेह होय तो बहुकाल हु पूजन करे. अर्थात् समयानुसार नानाभांतिके व्यञ्जनन्को अनेकवार अङ्गीकार करावे. जेसें जा माताको पुत्रपें स्नेह होय हे वो पुत्रके लालन-पोषणमें दिनकुं व्यतीत करे हे, क्षणभरमें दूर होनो दुखःरूप समुझे हे, वा प्रकार प्रेमप्लुत भक्त प्रभुसेवाके वियोगकों दुःखरूप समुझे हे।।२३७।।

नित्यकर्मादिक स्वधर्मन्कुं सेवाके अङ्ग समुझिकें सेवाके अवकाशमें करनो. "धर्मो मद्भक्तिकृत्प्रोक्तः" (भाग.पुरा.११।१९।२७) "श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते" (तत्रैव१०।४७।२४) इत्यादिकन्में वर्णाश्रमादि सब धर्मन्कुं श्रीकृष्णचन्द्रमें भक्ति सिद्ध होयेके अर्थ करने ये बात स्पष्ट लिखी हे. देह-द्रव्यके सामर्थ्यके अनुसार अग्निहोत्रादिक धर्म करने. सामर्थ्य होते जीव नहिं छुपावनो. विधर्म-निषिद्ध धर्मको आचरण कबहु नहिं करनो. निषिद्ध कार्यकुं सर्वथा नहिं करनों. इन्द्रियरूप घोडान्कुं रोके रहनों. जेसें घोडाकुं अन्यत्र रोककें एक मार्गमें

ही चलायो जाय तब अभिलषित देशमें ले जावे हे. अर्थात् महाराजोपचारसों भगवत्सेवा करे. पीछें भगवान्के प्रसादी नानाव्यञ्जनन्कुं भक्तन्कुं देकें अपनें भोजन करनों. उन व्यञ्जनन्कुं "अद्यादात्मविशुद्ध्यर्थम्" (भाग.पुरा.६।१९।२०) इत्यादि एतत् त्रयं क्रीडार्थमपि न त्यजेत्।।२३८।।

सङ्गः त्रयाणां बाधकः. तत् परित्यजेद् इति आह **एतद्विरोधि** इति.

एतद्विरोधि यत्किञ्चित् तत्तु शीघ्रं परित्यजेत्।।
धर्मादीनां तथा चास्य तारतम्यं विचारयन्।।२३९।।

सामान्यवचनं धर्मादीनाम् उपलक्षणम्. परार्थमपि इन्द्रियनिग्रहाभावसम्भवात्. पूजाविरोधि धर्मादिकं तु त्यक्तव्यमेव इति अत्र विचारम् आह **धर्मादीनाम्** इति. भगवद्भजनस्य मोक्षः फलं परोपकारादिसर्वधर्माणामपि क्षयिष्ण्वेव फलम्. अतः उभयोः अन्तरं ज्ञात्वा परोपकारादिधर्मा न कर्तव्या यदि पूजाविरोधिनो भवन्ति।।२३९।।

भागवत वचनानुसार "ये आत्मशुद्धि करिवेवारो महाप्रसाद हे" ये बुद्धि राखनों. "जीह्वाकी प्रसन्नताके अर्थ भोजन करुं हुं" एसी बुद्धि न राखनी. तथा आगेंसों आछी सामग्री प्रभुन्कों अर्पण करिवेके अर्थ अच्छे-बुरे व्यञ्जनन्की परीक्षाके अर्थ सब सामग्रीन्को स्वाद लेनो. अपनी धर्मपत्नीके साथ हु इन्द्रियकी प्रसन्नताके अर्थ कभी सङ्ग नहिं करनो किन्तु सेवामें चित्तके उद्वेग करिवेवारे कामकी निवृत्तिके अर्थ सङ्गकरनों.

ये तीनों कर्म क्रीडाके अर्थ हु कबहु नहीं छोडने. आसक्ति इन तीनोंन्की बाध करिवेवारी हे. जो कछु इन तीनोंन्को विरोधी होय वाकुं शीघ्र छोड देनों. सामान्य वचन धर्मादिकन्को उपलक्षण हे. अर्थात् धर्मादिकके अर्थ हु १.स्वधर्माचरण २.विधर्मसों निवर्तन ३.इन्द्रियविनिग्रह इन तीनोंन्कों नहिं छोडनें. अन्यथा परोपकारार्थ इन्द्रियनिग्रहके त्यागको सम्भव होयगो।।२३८।।

तथा पूजाविरोधि धर्मादिकको हु त्याग करनो. या विषयमें विचार वर्णन करे हें. भगद्भजनको फल अचल मोक्ष हे. परोपकारादि सर्व धर्मन्को फल क्षयवारे स्वार्गादिक हें. तासों पूजा तथा सर्वधर्मन्को फल क्षयवारे स्वार्गादिक हें. तासों

पूजा तथा सर्वधर्मन्‌को अन्तर जानिके पूजाके विरोधि परोपकारादि जो धर्म होंय तो उनकों हु छोड देनें, सेवाकुं छोडके नहिं करने. अवकाशमें करने।।२३९।।

अत्र मार्गे पूजासाधनानाम्‌ अनुवृत्तौ कारणम्‌ आह **यथायथा** इति.

यथा-यथा हरिः कृष्णो मनस्याविशते निजे।।
तथा-तथा साधनेषु परिनिष्ठा विवर्धते।।२४०।।

श्रवण-कीर्तनादिना हरिश्चेद्‌ हृदये निविशते तदा पूजा सर्वदा निर्वहति इति अर्थः।।२४०।।

अत्र बाधकानां विशेषम्‌ आह **कृष्णे सर्वात्मके** इति.

कृष्णे सर्वात्मके नित्यं सर्वथा दीनभावना।।
अहङ्कारं न कुर्वीत मानापेक्षां विवर्जयेत्‌।।२४१।।

मनसि स्वस्य दीनता भावनीया. सर्वाधिष्ठानेषु सर्वलोकेषु च यत्र भगवद्‌बुद्धिः भवति बुद्धिश्च कर्तव्या. अन्यकर्तृकापमानेऽपि न अहङ्कारं कुर्यात्‌. भगवतः सकाशान्‌ मानापेक्षां च वर्जयेत्‌।।२४१।।

एतत्सिद्ध्यर्थम्‌ उपायम्‌ आह **सर्वथा तदुणालापम्‌** इति.

सर्वथा तदुणालापं नामोच्चारणमेव वा।।
सभायामपि कुर्वीत निर्भयो निस्पृहस्‌ ततः।।२४२।।

या मार्गमें पूजाके साधनन्‌की अनुवृत्ति होयवेमें कारण बतावें हें "यथा यथा" इति. जेसें-जेसें श्रवण-कीर्तनादिकन्‌सों हृदयमें भगवान्‌को आवेश होवे हे तेसें-तेसें प्रधान=सेवाके साधनन्‌में श्रद्धा बढती चली जावे हे. अर्थात्‌ भगवान्‌को पूर्ण आवेश होय जावे हे. तब सर्वदा सब कालमें प्रधान=सेवाको निर्वाह होवे हे।।२४०।।

अभी प्रायः श्रवणकीर्तनादिक करिवेवारेन्‌के हृदयमें हु भगवान्‌को आवेश नहिं होय हे. येही कारण हे के श्रवण-कीर्तनादिक पूरे बन नहिं सकें हे. तासों श्रवण-कीर्तनादिके बाधकन्‌को त्याग वर्णन करे हें "कृष्णे सर्वात्मके" इति. मनमें सदा दीनता राखनी. सब ठिकानें जड वस्तुन्‌में तथा सब लोकन्‌में सब जीवन्‌में भगवद्बुद्धि करनी. ओर कोई अपनो अपमान करें तथापि अहङ्कार नहिं करनो. भगवान्‌सों अपनी मानकी अपेक्षा नहिं राखनी।।२४१।।

सर्वथा सर्वत्र भगवदुत्कर्षवर्णने पूर्वोक्तं सिद्ध्यति. दैत्यानां सन्निधानेऽपि निर्भयः. फलाभावाय निस्पृहः. ततः इति।।२४२।।

केवलं नामोच्चारणादेः कदाचिद् असाधकत्वमपि भवेदिति मुख्यं साधनम् आह **साधनं परमेतद्धि** इति.

साधनं परमेतद्धि श्रीभागवतमादरात्।।
पठनीयं प्रयत्नेन निर्हेतुकम् अदम्भतः।।२४३।।

सर्वदा श्रीभागवतकीर्तनेन पूर्वोक्तं सिद्ध्यति।।२४३।।

अत्र वैष्णवमार्गे वेदमार्गविरोधो यत्र तत् न कर्तव्यम् यदि अनित्यो

ये सिद्ध होयवेको उपाय वर्णन करे हें. सदा भगवान्के गुणन्को गान अथवा भगवान्के नामको उच्चारण सभामें हु निर्भय-निस्पृह होयकें करते रहनो. अर्थात् सब ठिकानें भगवान्को उत्कर्ष वर्णन करिवेसों पूर्वोक्त सिद्ध होवे हे. तासों आसुर जीवन्के समीप हु फलकी इच्छा छांडिके भगवान्को उत्कर्ष वर्णन करतो रहे।।२४३।।

केवल नामोच्चारणादिक कदाचित् साधक नहिं होय तो मुख्य साधनको वर्णन करें हें "साधनं परम्" इति.

सर्वदा श्रीभागवतको कीर्तन करिवेसुं पूर्वोक्त सिद्ध होय हे. तासों ये हि परम साधन हे के कपट छांडिके, कामना झांडिके, आदरपूर्वक प्रयत्न करके श्रीमद्भागवतजीको पाठ सर्वदा करते रहनों. इतने कथनसों "श्रद्धां भागवते शास्त्रे निन्दामन्यत्र चापि हि" (भाग.पुरा.११।३।२६) "सर्वभूतेषु मन्मतिः" (भाग.पुरा.११।१९।२१) "वचसा मदुणेरणम्" (भाग.पुरा.११।१९।२२) इत्यादि एकादशस्कन्धके वाक्यन्को सिद्धान्तवर्णन कियो।।२४३।।

या वैष्णवमार्गमें नित्यसुं भिन्न सकाम धर्मन्में जहां वेदविरोध होय वो धर्म नहिं करनो. भक्तिमार्गके नित्यधर्मन्में तो वेदविरोध हु सहि लेनो. जेसें वस्त्र-भूषणधारण

तथा नैवेद्यादिक समर्पण आदि मुख्य धर्मो भवेत्. नित्येऽपि वेदविरोधः सोढव्यः इति आहः **शङ्ख चक्रादिकं धार्यम्** इति.

शङ्ख चक्रादिकं धार्यं मृदा पूजाङ्गमेव तत्।।
तुलसीकाष्ठजा माला तिलकं लिङ्गमेव तत्।।२४४।।

''वह्निनैव तु संयुक्तं चक्रमादाय वैष्णवः, धारयेत् सर्ववर्णानां हरिसालोक्यकाम्यया'' इति तप्तमुद्राधारणं काम्यम्. ''शङ्ख-चक्रं मृदा यस्तु कुर्यात् तप्तायसेन वा, स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः'' इति स्मृतिविरोधश्च. ''शङ्खादिचिह्नरहितः पूजां यस्तु समाचरेत्, निष्फलं पूजनं तस्य हरिश्चापि न तुष्यति''. अतो मृदा शङ्ख-चक्रादिधारणं पूजाङ्गत्वाद् अवश्यं कर्तव्यम्. निषेधस्तु केवलएव, न पाषण्डत्वसम्पादकः. मृदा निषेधम् उपक्रम्य तप्तायसे पर्यवसानवचनात् च. किञ्च, ब्राह्मणस्य धारणं निषिद्धम्, वैष्णवस्य च विहितम्. तत्र ब्राह्मणश्चेद् वैष्णवो भवेत्, तत्र पूर्वात् परबलीयस्त्वन्यायेन वचनमिति वैष्णवधर्मानुसरणं कर्तव्यम्.

सेवा करिवेमें सन्ध्या अग्निहोत्रादिकको काल नहिं साध सके तो एसो वेदविरोध सहि लेनों. जब अवकाश होय तब सन्ध्याग्निहोत्रादि कर्म करनें. ताको वर्णन करें हें 'शङ्ख चक्रादिकम्' इति.

रामानुज-माध्वादिकन्के मार्गसों या मार्गमें बाहिरके प्रकार विषयमें विलक्षणता दिखावें हें. ''वह्निनैव तु संयुक्तम्'' () या श्लोकको अर्थ ''अग्नि सहित चक्रकुं लेकें वैष्णव धारण करे, सब वर्णन्कों भगवान्के सालोक्यकी कामनाके अर्थ'' या श्लोकमें तप्तमुद्राधारण काम्य बतायो हे. ''शङ्ख चक्रं मृदा'' या श्लोकको अर्थः ''शङ्ख-चक्रन्कुं मृत्तिकासों अथवा ताते लोहसों जो करे हे वो शूद्रके तुल्य सम्पूर्ण द्विजकर्मसों बाहिर निकासिवे योग्य हे.'' या स्मृतिको विरोध हु हे. ''शङ्खादिचिह्नरहितः'' या वाक्यको अर्थः ''शङ्ख-चक्रादिकन्सों रहित जो पूजा करें हें वाको पूजन निष्फल हे. भगवान् हु तुष्ट नहीं होय हें''. प्रथम श्लोकमें काम्यत्व तथा द्वितीय श्लोकमें निषिद्धत्व लिख्यो हे. तिनसुं तृतीय श्लोकसों प्राप्त नित्यत्वको बाध

नच पाषण्डत्वसम्भवः. ‘‘किं पुनर् ब्राह्मणाः पुण्याः’’ (भग.गीता.९।३३) इति वाक्यात् प्रमाण-प्रमेययोः प्रमेयं बलिष्ठम् इति च वेदनिषिद्धदेवतापरत्वएव पाषण्डत्वम् इति स्थितिः. धर्मविरोधो न अत्र बाधकः.

नहिं होय हे. तासों पूजाके अङ्ग समुझिकें मृत्तिकासों शङ्ख चक्रादिकन्को धारण अवश्य करनों. निषेध हे सो तो पूजा विना केवल शङ्ख-चक्रादिधारणको हे. पूजाङ्ग समुझिकें धारण करिवेवारेन्कुं पाषण्डित्व सम्पादक नहिं हे. मृत्तिकादिकके निषेधको उपक्रमकरकें तप्त लोहसों चक्रादि धारण करिवेमें पर्यवसानवचन हे. तासों तप्तमुद्रा धारणमें ही निषेधकी प्राप्ति हे, सेवाङ्ग समुझिके मृत्तिकासों चक्रादि धारणको निषेध नहिं हे.

किञ्च, द्वितीय श्लोकसों ब्राह्मणकुं शङ्ख ादि धारण निषिद्ध हे. ‘‘शङ्ख ादिचिह्नरहितः’’ या तृतीय श्लोकसों वैष्णवकुं शङ्ख ादि धारणको विधान हे. तहां ब्राह्मण यदि वैष्णव होय तो वाकुं ‘‘पूर्वसों पर बलवान् हे अन्यथा परविधान व्यर्थ होयगो’’ या न्यायके अनुकूल वैष्णवधर्मके अनुसार वर्ताव करनो योग्य हे. निषेधक स्मृति तो वैष्णवधर्म रहित केवल संस्कार मात्र वारे ब्राह्मणमें चरितार्थ हे.

शङ्काः ब्राह्मणकों वैष्णवधर्माचरण करिवेमें पाषण्डित्वको सम्भव होयगो?

उत्तरः ‘‘किं पुनर् ब्राह्मणाः पुण्याः’’ (भग.गीता९।३३) या गीतावाक्यमें ब्राह्मणको वैष्णवधर्मसों निःसन्देह उद्धार होनों लिख्यो हे. प्रमाण तथा प्रमेय इनमें प्रमेय बलवान् हे. पाखण्डिपणो तो वेदनिषिद्ध अर्हत्-बुद्ध आदि देवतान्की उपासनासों होय हे. तासों कितनेक वैदिकधर्म तथा वैष्णवधर्मन्को परस्पर विरोध बाधक नहिं हे. जेसे दत्तात्रेय, दुर्वासा आदिकन्कुं पाषण्डि नहिं मानें हें किन्तु वैदिक धर्मन्सों योगके धर्मन्कुं विलक्षण मानिकें समाधान करें हें तेसें भक्तन्में हु पाखण्डिताकी सम्भावना ततः उक्तं शङ्ख चक्रादिकं मृदा पूजाङ्गत्वेन धार्यम् इति. तथा

तुलसीकाष्ठजा मालापि धार्या. तस्या यद्यपि न नित्यत्वं तथापि वैष्णवत्वख्यापिका परम्परासिद्धा. तदुल्लङ्घने पारम्पर्यं बाध्येतेति नित्यतुल्या माला.

किञ्च, "धारयन्ति न ये मालां हैतुकाः पापबुद्धयः, नरकान् न निवर्तन्ते दग्धाः क्रोधाग्निना हरेः" () इति वचनान् नित्यत्वमपि.

तिलकं च, "दण्डाकारं ललाटे स्यात् पद्माकारं तु वक्षसि, वेणुपत्रनिभं बाह्वोरन्यद्दीपाकृतिर् भवेद्" इति तिलकं माला च यज्ञोपवीतवद् वैष्णवत्वबोधकम्।।२४४।।

नहिं करनी. वैदिकधर्मन्सों भगवद्धर्मन्कुं विलक्षण मानिके समाधान करनो. अतः मृत्तिकासों सेवाङ्ग समुझिकें शङ्ख –चक्रादिक मुद्रा धारण करनों. तथा तुलसीकाष्ठकी माला हु सर्वदा धारण करनी. यद्यपि कितनेक वचनसों नित्यता नहिं हे तथापि वैष्णवताकी जतायवेवारी हे ओर "साधूनां समयश्चापि प्रमाणं वेदवद्भवेत्" ( ) या ब्रह्माण्ड पुराणके वचनसों महात्माको आचरण हु वेद जेसो ही प्रमाण हे. तुलसीकाष्ठकी मालाकों सर्वदा धारण करनों परम्परासों हु सिद्ध हे. वाके उल्लङ्घन करिवेमें परम्पराको बाध होय. तासें माला हु नित्यकर्मके तुल्य हे.

किञ्च, "धारयन्ति न ये मालां हेतुकाः पापबुद्धयः, नरकान्न निवर्तन्ते दग्धाः क्रोधाग्निनाहरेः" ( ) अर्थः मालाकुं जे नास्तिक पापबुद्धिवारे नहिं धारण करें हें वे मनुष्य भगवान्के क्रोधाग्निसों जले भये नरकसों पाछें नहिं आवें हेंह्नया वचन्सों माला धारण नित्य हे.

तिलक हु दण्डके आकारको ललाटपें करनों. कमलके आकारको वक्षस्थलपें करनों. वंशके पत्रके आकारको दोनों बाहुनपें करनों. अन्य तिलक दीपकी ज्योतिके आकारवारे करने. जेसे यज्ञोपवीत द्विजत्वको जतायवेवारो हे एसे तिलक–माला वैष्णवताके जतायवेवारें हें।।२४४।।

एकादश्युपवासादि कर्तव्यं वेधवर्जितम्।।
तथा कृष्णाष्टमी चापि सप्तमी वेधवर्जिता।।
अनन्यान्यपि तथा कुर्याद् उत्सवो यत्र वै हरेः।।२४५।।

एकादशीव्रतं च षट्पञ्चाशद्वेधरहितं कर्तव्यम्. पूर्वम् अन्यथाकरणेऽपि भगवन्मार्गप्रवेशानन्तरं पञ्चपञ्चाशद्घटिका दशमी चेत् तदा एकादशी त्याज्या. जन्माष्टमी तु सूर्योदयानन्तरं सप्तमी चेत् तदा त्याज्या ''उदयाद् उदयात् प्रोक्ता हरिवासरवर्जिता'' इति वाक्यात्.

अन्यान्यपि रामनवमीप्रभृतिव्रतानि भगवन्मार्गे कर्तव्यानि. नृसिंहजयन्तीव्रतम् उत्सवश्चेत् कर्तव्यम्. तथा वामनजयन्त्युत्सवकरणे एकादश्याम् उपोषणम् अकृत्वापि द्वादश्याम् उपोषणं कर्तव्यम्. किं बहुना उत्सवः प्रधानभूतः. भुक्त्वा च उत्सवो निषिद्धः, भगवदावेशाभावात्.

एकादशीको व्रत हु छप्पन घडीके दशमीको वेध रहित करनों योग्य हे. पूर्वमें अन्य प्रकारसों व्रतकरतो होय परन्तु भगवान्मार्गमें प्रवेश भये पाछें पचपन घडी दशमी होय तो वा एकादशीको त्याग करनों. दूसरे दिन व्रत करनों. सूर्यादय भये पीछे सप्तमी होय तो वा जन्माष्टमीको त्याग करनों. अर्थात् द्वितीय दिन व्रत करनों. तामें ''उदयादुदयात्प्रोप्रोक्ता हरिवासरवर्जिता'' ( ) इत्यादि वाक्य प्रमाण हें. भगवन्मार्गमें अन्य हु रामनवमी आदि व्रत करने. नृसिंहजयन्ती व्रत उत्सव होय तो करनो. तेसे ही वामनजयन्ती व्रत हु करनों. अर्थात् वामनद्वादशीके दिन क्रमानुसार वामनप्रादुर्भावोत्सव करनों. वा दिन उपवास करनों. वाके पूर्व एकादशीके दिन उपवासकी सामर्थ्य नहिं होय तो नहिं करनों. बहुत विस्तारपूर्वक कथन्सों कहा प्रयोजन हे उत्सव मुख्य हे. भोजन करके उत्सव करनों निषेध कियो हे. भोजन किये पाछें भगवान्को आवेश नहिं होवे हे. तात्पर्य ये हे: जन्माष्टमीको उपवास तो आवश्यक हे. अन्य तीनों जयन्तीके उपवास तो देहसों तथा द्रव्यसों वा दिन सेव्यस्वरूपको उत्सव करिवेकी सामर्थ्य होय तो उत्सवके अङ्ग समुझिकें करनें. क्योंके भोजन करे पीछे भगवदावेश नहिं होय हे. तथा जिनकुं पुराणवाक्यन्सों राम, वामन एवं पूजामार्गे उत्सवयात्रा सहिता पूजा कर्तव्या इति निरूपितम्।।२४५।।

उपसंहरति. एतत्सर्वम् इति.

एतत् सर्वं प्रयत्नेन गृहस्थस्य प्रकीर्तितम्।।
अन्येषां सम्भवेत्तु स्यात् यतेः पर्यटनं वरम्।।२४६।।

गृहस्थस्य एतन् मुख्यम्. एवं कुर्वन् सकुटुम्बो भगवत्सायुज्यम् अश्नुते. ब्रह्मचारिप्रभृतीनामपि सेवकसाधनसम्पत्तौ एतत् कर्तव्यम्. अन्यथा अन्यएव उपायः कर्तव्यः. तम् अग्रे वक्ष्यति. सन्न्यासिनस्तु पूर्वापेक्षयाऽपि अग्रिमएव

नृसिंहादिकन्में पूर्णपुरुषोत्तमकी स्फूर्ति होय उनकुं तो उनकी जयन्ती अवश्य करनी.

एसें दिवाली आदि पर्व, रथयात्रा-स्नानयात्रा आदि यात्रा तथा जन्माष्टमी आदि महोत्सवनकुं एकाकी तथा द्रव्य-देहसों करिवेकी सामर्थ्य होय तो एकाकी करने. अपनी एककी सामर्थ्य नहिं होय तो अन्य कुटुम्बीन्के साथ होयकें महाराजाधिराजकी जा प्रकार परिचर्या होय हे वा प्रकार श्रीकृष्णकी सेवा करते भये पर्व-यात्रा-महोत्सवनकुं करनो।।२४५।।

साङ्ख्यच, योग, ज्ञान, कर्म आदिकनकों उपदेश देके अन्तमें उद्धवजीके प्रति श्रीकृष्णनें "पृथक् सत्रेण वा मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवान्" (भाग.पुरा.११।२९।११) या श्लोकमें ये ही उपदेश दियो हे. एसो पूजामार्ग अर्थात् पूजाप्रधान सेवामार्गमें उत्सव-यात्रा-पर्वसहित सेवा करनों निरूपण कियो. ताको उपसंहार करे हें. गृहस्थकुं ये सेवा मुख्य हे. जेसें "सगृहः सपशुः सुवर्गं लोकमेति" ( ) इत्यादि श्रूतिन्में वैदिक कर्म करिवेवारे यजमानको स्त्री-पुत्र-पशुसहित स्वर्गमें प्राप्त होनों लिख्यो हे तेसें पूर्वाक्तरीतिसों सेवा करिवेवारो भक्त हु कुटुम्बसहित भगवान्के सायुज्यकुं प्राप्त होवे हे.

ब्रह्मचारी, विधवा, वीतरागादिकन्कुं हु साधनसम्पत्ति होय तहां तांई तो सेवाही करनी चहिये. सेवाके साधन नहिं बन सकें तब तो उत्तम एवम् इति आह यतेः पर्यटनम् इति।।२४६।।

गृहस्थानामपि पूजायां पश्चदोषसम्भवे पर्यटनमेव श्रेष्ठम् इति आह **विक्षेपाद्** इति.

विक्षेपाद् अथवा शक्त्या प्रतिबन्धादपि क्वचित्।।
अत्याग्रहप्रवेशे वा परपीडादिसम्भवे।।
तीर्थपर्यटनं श्रेष्ठं सर्वेषां वर्णिनां तथा।।२४७।।

१.स्वतःप्रवृत्तिरहितानि इन्द्रियाणि बलाद् भगवति योज्यमानानि विक्षेपं जनयन्ति विग्रहकर्शितानि. २.जरया व्याधिभिर् वा यदा शक्त्यभावः. ३.लोको वा प्रतिबन्धं कुर्वन्ति. ४.स्वस्य वा परम आग्रहः उत्पद्यते येन तमसि प्रविष्टो भगवन्तं न स्मरति.

५.लोकानां वा पीडां कुर्यात्तत्रतत्र पूजा त्यक्तव्या. तदा अन्यत्रापि तथात्वे परदेशे शून्यदेवालये पूजा विधेया. तत्रापि दोषसम्भवे तीर्थपर्यटनं कर्तव्यम्, पापानां प्रतिबन्धकरूपाणां नाशाय.

अन्य उपाय करने. वा उपायकुं आगें कहेंगे. सन्न्यासीकुं तो आगेंको उपाय करनों ही उत्तम हे. "यतेः पर्यटनम्" इति. सन्न्यासीकुं तो पर्यटन करनों श्रेष्ठ हे।।२४६।।

गृहस्थन्कुं हु सेवामें पांच दोष हें. वे आय जावें तब तीर्थाटन करनों श्रेष्ठ हे. उन दोषन्कुं बतावें हें. स्वतः सेवामें प्रवृत्त नहिं होयवेवारी इन्द्रियन्कों बलात्कारसों सेवामें लगायी जांय हे तब चित्तमें विक्षेपकुं उपन्न करें हें, ये प्रथम दोष हे. वृद्धावस्थासों अथवा रोगसों सेवा करिवेकी सामर्थ्य नहिं रहनो ये द्वितीय दोष हे. कुटुम्बके अथवा अन्य लोग सेवाकुं नहीं करवे दें ये तृतीय दोष हे. अपने हृदयमें परम खोटो आग्रह उत्पन्न होय जाय जासों अज्ञानरूप अन्धकारमें धंस्यो भयो मनुष्य भगवान्को स्मरण नहिं कर सके हे ये चतुर्थ दोष हे. सेवा करिवेवारो अन्य जीवन्कुं पीडा देवे लग जाय ये पांचमो दोष हे. ये पांच दोष होय तहां सेवाको त्याग करनों. यदि जहां सेवा करे तहां ही दोष आय जावें तो परदेशमें शून्यदेवमन्दिरमें पूजा करनी. तदा यत्रैव गत्वा सेवा सम्पत्स्यते तत्रैव सेवा कर्तव्या.

स्वतन्त्रतया तीर्थाटनप्रकारम् आह **सर्वेषाम्** इति. विष्णुभक्तिप्रकारत्वात् सर्वाधिकारः।।२४७।।

वर्णाश्रमयुक्तानामपि वर्णाश्रमधर्मैः तीर्थानि विकल्प्यन्त इति आह **यज्ञाः** इति.

यज्ञास्तीर्थानि च पुनः समानि हरिणा कृताः।।
अतस्तेष्वप्रतिग्राही तद्दिनान् नाधिकस्य हि।।२४८।।
हतत्रपः पठन् नित्यं नामानि च कृतानि च।।

भारते हि यज्ञानां तीर्थानां च तुल्यता निरूपिता. तत्र अटनप्रकारम् आह **अतस्तेष्वप्रतिग्राहि** इति. तीर्थप्रवेशादिवसेतु उपवासः. अग्रिमदिवसे यदि अन्नमात्रमपि नास्ति तदा तावन्मात्रं ग्राह्यं, नतु ततः अधिकम्. अटनस्य नित्यत्वात् न चिरकालं स्थितिः. उच्चैः नामसङ्कीर्तनं तत्र अङ्गम्.

वहां हु दोषको सम्भव होय तो सेवाप्रतिबन्धक पापनकुं दूर करिवेके अर्थ तीर्थपर्यटन करनों. जहां गयेसों सेवा बन सकें वहां ही सेवा करनी. तीर्थाटनकी गौणता दूर करिवेके अर्थ स्वतन्त्रता करकें तीर्थाटनको प्रकार दिखावे हें. जेसे विष्णुभक्तिमें सर्व जीव अधिकारी हे तेसे ही तीर्थाटन हु विष्णुभक्तिको प्रकार हे. तासों यामें सबनकुं अधिकार हे।।२४७।।

वर्णाश्रमधर्मवारे मनुष्यनके अर्थ हु वर्णाश्रमधर्मनकें सङ्ग तीर्थनको विकल्प कियो हे. महाभारतमें तीर्थ तथा यज्ञ कों समन लिखें हें. भगवानने हु तीर्थ करें हें.

तीर्थयात्राको प्रकार दिखावे हें. तीर्थस्थलमें जा दिन प्रवेश करे ता दिन उपवास करनों. दूसरे दिन अन्नमात्र नहिं होय तो जितनेमें उदर भर जाय उतने ही अन्नकी याचना करनों. तीर्थमें दान नहिं लेनो. नित्य विचरते रहेनों. बहुतकाल एक स्थानमें नहिं रहेनों।।२४८।।

ऊंचे स्वरसों सङ्कोच छांडिकें भगवानके नामनको कीर्तन करते

एकाकी निस्पृहः शान्तः पर्यटेत् कृष्णतत्परः।।२४९।।

देहपातनपर्यन्तम् अव्यग्रात्मा सदा गतिः।।

उत्तमोत्तममेतद्धि पूर्वम् उत्तममीरितम्।।२५०।।

अन्तर् भगवत्स्मरणञ्च. एकाकी पर्यटेत्. न अत्र "नैकः प्रपद्यताध्वानम्" इति स्मृतिदोषः. पथि भोगाद्यर्थं स्पृहा न कर्तव्या. शान्तश्च चित्ते भवेत्.

एवम् अधिकाराभावे भिन्नम् उपायं वक्ष्यतिः कृष्णएव तात्पर्यं नतु तीर्थादौ. देहपातनपर्यन्तं च पर्यटनम् "देहान्ते कृतार्थो भविष्यामि" इति. सदा शुद्धश्च भवेत्. सन्ध्यावन्दनवत् प्रत्यहं तस्य गमनम्. अस्मिन् पक्षे अन्तः कृष्णः सर्वदा स्फुरतीति उत्तमोत्तम्।।२४८-२५०।।

अत्र सम्मत्यर्थं भगवदुक्तश्लोकद्वयम् आह"गृहं...', "धनम्..."इति.

रहनों तीर्थाटनको अङ्ग हे. भीतर भगवानको सर्वदा स्मरण राखनों. एकाकी रहनों. मार्गमें इन्द्रियनके विषयभोगनके अर्थ स्पृहा नहिं करनी. चित्तकुं शान्त राखनो.

जो मनुष्य एसो अधिकारी नहिं हे ताके अर्थ अन्य उपाय आगे आज्ञा करेंगें. श्रीकृष्णकी प्राप्तिमें तात्पर्य हे. तीर्थादिकन्में तात्पर्य नहिं हे. तासों ''श्रीकृष्ण मोकुं कब दर्शन देंगें'' एसी उत्कण्ठा सदा तीर्थाटन करते बनी राखनी।।२४९।।

देहपात नहिं होय तहां तांई विचरतो रहे. ''देहपात भये पीछे में अवश्य कृतार्थ होऊंगो'' एसो निश्चय राखनों. सदा शुद्ध रहनों. सन्ध्या-वन्दन जेसे नित्य कियो जावे हे तेसे नित्य ही तीर्थाटन करते रहनो. या पक्षमें अन्तःकरणमें सर्वदा श्रीकृष्ण स्फुरण होवे हे. तासों ये पक्ष उत्तमोत्तम हे।।२५०।।

या विषयमें सम्मतिके अर्थ भगवान्के आज्ञा किये भये दो श्लोकन्कुं कहे हें.

गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्यक्तुं न शक्यते।।
कृष्णार्थं तत् प्रयुञ्जीत कृष्णः संसारमोचकः।।२५१।।
धनं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्यक्तुं न शक्यते।।
कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्णोऽनर्थस्य वारकः।।२५२।।

पूर्वाधिकारद्वयाभावे तृतीयं पक्षम् आह अथवा इति.

अथवा सर्वदा शास्त्रं श्रीभागवतमादरात्।।
पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितम्।।२५३।।
वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि।।
तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहमाचरेत्।।
त्रयाणां येन केनापि भजन् कृष्णमवाप्नुयात्।।२५४।।

''बाह्याभ्यन्तरभेदेन रूपे भेदद्वयं मतम्,
नाम्नि चैकं ततस् त्रेधा भक्तिमार्गो निरूपितः''।।२५३-५४।।

गृहको हु सर्वात्मना त्याग करनों. यदि घर नहिं छोड्यो जाय तो कृष्णके अर्थ घरको विनियोग करनों. कृष्ण संसारसों छुडायवेवारेहें.

सर्वात्माना धनको त्याग करनों. यदि वो धन नहिं त्याग कियो जाय तो श्रीकृष्णके अर्थ वाको विनियोग करनों. कृष्ण अनर्थके दूर करिवेवारे हें।।२५१-५२।।

पूर्वोक्त कहे दोउ अधिकार जिनमें नहिं हें उनके अर्थ तृतीय पक्ष कहे हें 'अथवा' इति. सब कामना छांडिके तथा आदरपूर्वक प्रयत्न करकें सदा श्रीभागवतको पाठ करनों. श्रीभागवतद्वारा अपनी वृत्ति प्राण कण्ठमें चले जावें तथापि नहिं करनी. वृत्तिके अभावमें जेसे निर्वाह बन सके तेसे निर्वाह करनो. परन्तु श्रीभागवतकों वृत्तिके अर्थ विनियोग नहिं करनों. ''स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः'' (मुण्ड.उप.२।१।२) इत्यादि श्रुत्यनुसार भगवान्को एक बाह्य रूप हे. वो सब पदार्थन्के बाहिर रहे हे. दूसरो आन्तररूप हे वो सब पदार्थन्के भीतर रहे हे. तीसरो आपको रूप शब्दन्में रहे हे तासों तीन प्रकारसों भक्तिमार्गको वर्णन कियो हे।।२५३-५४।।

प्रपत्तिमार्गम् आह **जगन्नाथे विट्ठले च** इति.

जगन्नाथे विट्ठले च श्रीरङ्गे वेङ्कटे तथा।।
यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेत तत्परः।।२५५।।

विकल्पएव एषां स्थानानाम्. प्रपत्तौ ब्रह्मास्त्रन्यायस्य बाधकत्वात्. पूजाप्रवाहो भगवत्सान्निध्यप्रबोधकः।।२५५।।

प्रपत्तिमार्ग अर्थात् शरणमार्गको वर्णन करें हे 'जगन्नाथे' इति. ''सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'' (भग.गीता१८।६६) या गीताके श्लोकमें सर्वधर्मन्कुं छोडके एक भगवान्के ही शरण जानो लिख्यो हे. वाहीके अनुसार गुरुके द्वारा भगवान्के शरण जानो, फेरी अन्याश्रय छांडिके श्रीभगवान्को ही दृढ विश्वास राखनों. जेसें हनुमानजीकुं ब्रह्मास्त्रसों राक्षसन्नें बांध दीनें पाछें सन्देह भयो ''वानर बहुत प्रबल हे. ब्रह्मास्त्रकुं तोड डारेगो. तासों अन्य अस्त्रन्सों हु बांधनों'' एसें विचारिकें जब ब्रह्मास्त्रको विश्वास छोडिके अन्य अस्त्रन्सों बांधवे लगे तब हनुमानजी ब्रह्मास्त्रसों छूटि गये. एसें ही भगवान्के आश्रयमें सन्देह करकें जब अन्य देवको आश्रय कियो जाय हे तब वो भक्त शरणमार्गसों पतित हो जाय हे. याहीसों ''मामेकं शरणम् व्रज'' (तत्रैव) या वाक्यमें 'एकम्' एसो पद कह्यो हे. अर्थात् एक मेरे ही शरण आव, दूसरेको आश्रय मत कर. भगवान् देहादि सङ्घातकों सेवाके अनुकूल करें अथवा अत्यन्त आसुर सङ्घात होंय तो सङ्घातसों छुडाय दे तब जाननो शरणागति सिद्ध भई. ता पाछें सेवामें जाकी रुचि होय, भगवान्के स्वरूप जानिवेकी इच्छा होय तथा भगवच्छास्त्रन्में परायण रहे तब जाननों याको ये अन्तिम जन्म हे. अर्थात् याको पुनः जन्म नहिं होयगो. शरणधर्म सिद्ध हायवेके

अर्थ ही कृष्णाश्रयस्तोत्र श्रीआचार्यचरणन्नें प्रकट कियो हे. शरणागत मनुष्यकुं श्रीजगन्नाथजी, श्रीपुण्डरीक, श्रीविट्ठलनाथजी, श्रीरङ्गनाथजी, श्रीवेंकटेशजी इत्यादि स्वरूपन्के समीप रहनों चहिये. अन्यहु कोई भगवद्धाम होंय जहां सदा पूजाको प्रवाह होय तो वहां रहनों चहिये. पूजाप्रवाह हे सो भगवान्के सन्निधानकों जतायवेवारो हे.

एवं वैदिको भक्तिमार्गश्च निरूपित इति आह **एतन्मार्गद्वयं प्रोक्तम्** इति.

एतन्मार्गद्वयं प्रोक्तं गति-साधनसंयुतम्।।

या श्लोकके आवरणभङ्गमें श्रीपुरुषोत्तमजी महाराजनें एसो क्रम लिख्यो हे. प्रथम तो भगवान्की कृपाके अङ्कुरको स्वतः अथवा वैष्णवके सङ्गसों उद्बोध होय तब या मार्गमें रुचि होय. ता पाछें या मार्गमें प्रवेशकी इच्छा होय. तत्पश्चात्त कृपाको अङ्कुर दृढ होय तब ये मार्ग सब मार्गसों उत्तम दीखे. ता पाछें द्वारभूत गुरुके द्वारा भगवान्के शरण आवे. पाछें सत्सङ्ग करकें श्रीआचार्यचरणन्में "ये भगवान् हें" एसी अभेदबुद्धि होय, तदनन्तर सर्वोत्तमस्तोत्रादिकन्कें पठनसों गुरुकी सेवा करतो रहे. ता पाछें भगवदीयन्को सङ्ग करके पूर्वरीतिके अनुसार भगवान्की सेवा करतो रहे. स्वमार्गीय ग्रन्थन्कुं सुनिवे-देखिवेसों प्रतिबन्धक निवृत्ति होंय तब दोष निवृत्ति तथा सेवाके उपयोगी गुणनकी प्राप्ति होय. ता पाछें वारं-वार भगवत्सेवाकी आवृत्ति करतो रहे तो सकुटुम्बकुं भगवत्प्राप्ति होय. उन कुटुम्बवारेन्में हु जो सेवामें उदासीन रहे अथवा सेवाको विरोधी होय वाकुं भगवत्प्राप्ति न होय. पूर्वमें कहे भये पञ्चदोषन्की यदि सम्भावना होय तो तीर्थाटन करकें दोष निवृत्ति करनों. दोषनिवृत्ति भयेसों सेवा करी जाय तो भगवत्प्राप्ति होय. सेवाको अनधिकार होय तो श्रीभागवताश्रय करनों. वामें हु अधिकार नहिं होय तो पुरुषोत्तमसहस्रनाम-त्रिविधनामावलीको आश्रय करनों. उत्तमाधिकारमें तो तीर्थपर्यटन श्रेष्ठ हे. वामें हु अनधिकार होय तो शरणागत होयके सहस्रनामादिकन्को पाठ करतो भयो जहां पूजाप्रवाह होय तहां समीप अथवा दूर स्थित रहनों. कहे भये प्रकारन्के अनुसार बर्ताव करिवेसों साधक भक्त फलोन्मुख होवे हे तथा फलकी प्राप्ति होवे हे. प्रपत्तिमार्ग अर्थात् शरणमार्ग भक्तिमार्गको अनुकल्प हे. तासों भक्तिमार्गमें ही याको प्रवेश हे.

यहां तांई फल-साधन सहित वैदिकमार्ग तथा भक्तिमार्ग को निरूपण कियो है.

कर्ममार्गं प्रवक्ष्यामि भ्रान्तानां बहुशः फलम्।।२५६।।

सर्वत्रैव जगति फलं वर्ततइति सर्वत्र फलं साधनं च आह कर्ममार्गम् इति।।२५६।।

अयथाज्ञानतः कर्म कुर्वाणास्त्रिविधा मताः।।

सात्विकादिविभेदेन कर्म चाऽपि त्रिविधा भवेत्।।२५७।।

कर्मणो नानामार्गत्वं स्वभाव-गुणभेदात्. तामसः कदापि न सात्विकं कर्म करोति. कुर्वन् वा तामसप्रकारेण करोति. अतो नव भेदा गीतायां निरूपिताः. ''कर्ता सात्विक उच्यते'' (भग.गीता१८।२६) ''यत् तत् सात्विकमुच्यते'' (भग.गीता१८।२३) इत्यादिना ''उर्ध्वं गछन्ति सत्वस्था'' (भग.गीता१४।१८)इति वाक्यात् कर्मणः त्रैविध्ये सात्विकएव ऊर्ध्वादिषु गच्छति.

सर्वत्र हि जगत्में सर्वलोकन्में सुखरूप फल हे. तहां ''एकस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'' (बृहदा.उप.४।३।३२) या श्रुतिसों जहां अल्प भी सुख होय वाकुं भगवद्धर्मानन्दांशरूप समुझनों. उन सुखन्के अर्थ साधन हु कहे हें. 'कर्ममार्ग' इति. स्वभाव-गुणभेद करके नानाप्रकारके जो कर्म हें वेही नाना लोकमें जायवेके उपाय हें।।२५६।।

तात्पर्य ये हे ''गुणा जीवस्य नैव मे. चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निबध्यते'' (भाग.पुरा.११।२५।१२) इत्यादि वचनन्सों अन्तःकरणमें त्रिविध गुण रहे हें. उन चित्तस्वभावभूत गुणन्के भेदन्सों त्रिविध कर्म करिवेवारे त्रिविध जीव हें. मायिक गुणन्सों व्याप्त उनके अतःकरण हें. तासों ब्रह्मको यथार्थज्ञान उनकुं नहिं होय हे. तासों अयथार्थज्ञानसों ही वे कर्म करे हें. तामस जीव कभी सात्विक कर्म नहिं करेगो. यदि सात्विक कर्म करेगो तो वाकुं तामस प्रकारसों ही करेगो. याहीसों नव भेद गीताजीमें लिखे हें. सात्विक कर्ता सात्विक कर्म करके ''उर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्थाः'' (भग.गीता१४।१८) गीतावाक्यनुसार उत्तरमार्गद्वारा स्वर्गलोकमें जाय हे. स्त्रीजनन्सों आवृत्त रहे हे. पुण्यको तिरोधान भयेसों अधोमुख होयके गिरि पडे हे. शेष पुण्यकुं लेयकें वो जीव सत्कुलमें उत्पन्न होवेहे।।२५९।।

सात्विकः सात्विकं कर्म यथाश्रुतिपरः कृती।।
स्वर्गलोकस्तस्य सिध्येद् विमानस्त्रीभिरावृतः।।२५८।।
पुण्यस्य तु तिरोधाने पतत्यर्वाक्शिरास्ततः।।
पुण्यशेषं समादाय समीचीनेषु जायते।।२५९।।
राजसं कर्म कुर्वाणो मेर्वादिसुखभाग् भवेत्।।
तामसं कर्म कुर्वाणः पाताले सुखभाग् यथा।।२६०।।
राजसः सात्विकं कुर्वन् दैत्यस्वर्गेषु जायते।।
राजसं कर्म कुर्वाणश्चन्द्रलोके सुखी भवेत्।।२६१।।
वृष्टिद्वारान्नरूपः सन् रेतोयोनिषु जायते।।
तामसं कर्म कुर्वाणो यक्षलोके सुखी भवेत्।।२६२।।
तामसः सात्विकं कुर्वन् पितृलोके महीयते।।
राजसं कर्म कुर्वाणो भूतादिसुखमाप्नुयात्।।
तामसं कर्म कुर्वाणः सर्पादिसुखभाग् भवेत्।।२६३।।

तथा राजसोऽपि दक्षिणमार्गे गच्छन् दैत्यस्वर्गेषु चन्द्रलोके यक्षलोके च सुखम् अनुभवति. सर्वेषां सङ्ग्रहार्थं सत्त्वादितारतम्येन फलकल्पना.

सात्विककर्ता राजस कर्म करके दक्षिण मार्गसों मेर्वादिकन्के सुखको अनुभव करे हे. सात्विक कर्ता तामस कर्म करके पातालमें सुख भोगेहे।।२६०।।

राजस कर्ता सात्विक कर्म करके दैत्यस्वर्गमें जन्म लेवे हे. राजस कर्ता राजस कर्म करकें चन्द्रलोकमें सुखको अनुभव करे हे।।२६१।।

पुण्यको तिरोधान भयेसों शेष पुण्य लेके, वृष्टिद्वारा अन्नरूप होयके, फिर जीवके शरीरमें जायकें, वीर्यरूप होयकें नानयोनीन्में उत्पन्न होवे हे. राजस कर्ता तामस कर्म करकें यक्षलोकमें सुखी होय हे।।२६२।।

तामस जीव सात्विक कर्म करकें पितृलोकमें जावें हे. तामस जीव राजस कर्म करके पितृलोकमें जो भूतलोक हे वाके सुखकुं प्राप्त होवे हें. तामस जीव तामस कर्म करके सर्पादिक सुखको भोगी होवेहे।।२६३।।

सर्वेषां पुनरावृत्तिस् तथा कर्म पुनर्भवः।।
एवं त्रयीधर्मपरा गतागतमवाप्नुयुः।।२६४।।

पितृलोको भूतलोकः सर्पलोकश्च इति तामसानां फलम्. नवविधं निरूप्य भगवद्वाक्येन उपसंहरति **एवं त्रयीधर्मपरा** इति.

प्रकीर्णकानां फलं वक्तुं नानादेवोपासकानां फलम् आह **तत्तद्देवोपासकानाम्** इति.

तत्-तद्देवोपासकानाम् आजन्मोपासने फलम्।।
तत्-तत्सायुज्यरूपादिवेदोक्तानाम् अकधा।।
पौराणिकनां च तथा निषिद्धेतरभावतः।।२६५।।

वेदोक्तानाम् अग्न्यादीनां देवोपासनाबुद्ध्या अग्निहोत्रादिकरणे भेदबुद्धेः विद्यमानत्वात् तत्-तद्देवतासायुज्यं पौराणिकाः दुर्गा-गणपतिप्रभृतयः।।२६५।।

विष्णुं परित्यज्य तद्भजनं न कोऽपि करिष्यति इति आशङ्क्य

या प्रकार नवविध फलको निरूपण कियो हे. इन सब कर्म वारेन्की कर्मानुसार पुनरावृत्ति तथा पुनर्जन्म होवे हे. ये ही भगवान् गीतामें आज्ञा करे हें "एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना" (भग.गीता९।२१) अर्थः ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद इन तीनों वेदन्के धर्ममें परायण मनुष्य गतागतकुं अर्थात् जायवे-आयवेकुं प्राप्त होवे हें।।२६४।।

प्रकीर्ण फलको वर्णन करिवेके अर्थ देवतान्के उपासकन्के फलको वर्णन करें हें "तत्तद्देवोपासकानाम्" इति. जैमिनि प्रणीत सङ्कर्षण काण्डानुसार वेदोक्त अग्नि आदि देवतान्की देवोपासनाबुद्धिसों अग्निहोत्रादि करिवेमें भेदबुद्धि विद्यमान हे. तासों जा देवताकी जन्मभर उपासना करी जाय वाके सायुज्यकुं प्राप्त होवे हे. एसें ही पौराणिक दुर्गा, गणपति प्रभृति देवतान्की शुद्धभावसों उपासना करिवेवारे हु अपने-अपने उपास्य देवताके सायुज्यकुं प्राप्त होवे हें।।२६५।।

बहुत पुराणन्में तथा वेद-स्मृतिन्में हु विष्णुकी ही महिमा अधिक भगवद्वाक्यम् आह **यजन्ते सात्विका देवान्** इति.

यजन्ते सात्विका देवान् यक्ष-रक्षांसि राजसाः।।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।।२६६।।
विहितानेककर्तृणां देहान्ते यदुपासनम्।।
तत्सायुज्यादिसिद्धिःस्यात् तत्पोषोऽन्यस्य वैफलम्।।२६७।।

एकदा बहुदेवोपासनायां कर्मप्राधान्यात् कर्ममार्गीयमेव फलम् न उपासनाफलम्. क्रमेण भक्त्या तत्-तद्देवोपासनायां फलम् आह विहितानेक इति. अन्तिमस्य शीघ्रप्रसादे पूर्वेषाम् अभ्यनुज्ञाहेतुः।।२६६-६७।।

एवम् उपासनायाः नियतं फलम् उपपाद्य कर्ममार्गे फलस्य अनियतत्वम् आह **कर्मणाम्** इति.

हे. तासों विष्णुकुं छांडिकें अन्य देवताकी उपासना कोन करेगो? एसी शङ्का तो नहिं करनी.

क्योंके तीन प्रकृतिके मनुष्य होवे हें. सात्विक मनुष्य सात्विक देवताकी उपासना करे हें. राजस प्रकृतिवारे यक्ष-राक्षसन्की उपासना करें हे. तामस प्रकृतिवारे मनुष्य प्रेत-भूतगणन्की उपासना करें हें. तामें ''यजन्ते सात्विका देवान्'' (भग.गीता१७।४) इत्यादि गीताके भगवद्वाक्य प्रमाण हें. एकसाथ अनेक देवतान्की उपासना करिवेसों तो कर्ममार्गीय ही फल होवे हे. क्योंके वा उपासनामें कर्म ही प्रधान हे. तासों उपासनाको फल नहिं होय हे. भक्ति सहित क्रमसों विधान पूर्वक अनेक देवतान्की उपासना करिवेवारेकुं जा देवताकी देहत्याग समयमें उपासना होय वा देवताके सायुज्यकुं प्राप्त होवे हे. अन्य देवतान्की करी भई उपासना तो अन्तिम देवताके जल्दी प्रसन्न होयवेमें कारण हे।।२६६-६७।।

एसें उपासनाके नियत फलको वर्णन करकें कर्ममार्गमें फलकी अनियतताको वर्णन करे हें 'कर्मणाम्' इति.

कर्मणां गहना रीतिर् ब्रह्मणापि न बुद्ध्यते।।
ईश्वरत्वात् तदिच्छायाः प्रधानत्वाद् अनेकधा।।
तदुद्रेकोऽवसाने स्यात् कृपाक्रोधविभेदतः।।२६८।।

कर्माणि विध्यंशे निषिद्धानि सहस्रं पतन्ति, तथा निषिद्धे विहितानि. तेन कस्य फलं भेवेद्? इति सर्वेषामेव शङ्का. तत्र हेतुम् आह **ईश्वरत्वाद्** इति. कर्मस्वरूपी भगवान् ईश्वरः स्वेच्छया किं रूपः अभिव्यक्तो भवेद् इति न ज्ञायते. अतो विधिः व्यर्थइति न फलं नियतम्. यतः अनेकधा तदुद्रेकः. तत्रापि देहावसाने यत् कर्म तदेव फलदायकम्. तत्र ईश्वरेच्छया किं रूपः अभिव्यक्तो भवेद् इति न ज्ञायते. यदि जीवे कृपा तदा शुभरूपेण, क्रोधेतु अशुभरूपेण इति निर्णयः।।२६८।।

तदेव उपपादयति **कृपया** इति.

कृपयाऽधमतां प्राप्य भक्तं वै मोचयेत् क्वचित्।।
अनियुक्ततपस्यानां पीडया क्रोधतः क्वचित्।।

एक विहितकर्ममें हजारन् निषिद्धकर्म आन पडे हें. एसें ही एक निषिद्धकर्ममें बहुत विहित शुभकर्म हु बनजावें हे. उन कर्मन्में कोनको फल होयगो ये सबन्के ही हृदयमें सन्देह होवे हे. क्योंके कर्मस्वरूपी भगवान् ईश्वर हें, स्वतन्त्र हें, अपनी इच्छासों दुष्कर्मरूपसों प्रकट होयकें दुःखरूप फलकुं देंगें अथवा सुकर्मरूपसों प्रकट होयकें सुखरूप फलको देंगें ये बात जानी नहिं जावे हे. अतः कर्मफल नियत नहिं हे. अनेक प्रकारसों कर्मकी वृद्धि होवे हे. तहां हु देहके अन्तसमयमें जो कर्म होय वो ही फलदायक हे. तहां ईश्वरेच्छासों केसे रूपसों कर्म प्रकट होयगो ये नहिं जान सकें हें. यदि जीवपें कृपा होय तो शुभ-पुण्य रूपसों प्रकट होंय तथा यदि क्रोध होय तो अशुभ-पाप रूपसों प्रकट होंय, ये निर्णय हे।।२६८।।

वाको उपपादन करे हें 'कृपया' इति. कर्म हे सो अक्षरब्रह्मको ही रूप हे ये पूर्व कह आये हें. वो कर्मरूपी भगवान् निषिद्ध

हीनभावं नयत्येष दुष्टं वा मोचयेत् क्वचित्।।२६९।।

अधमतां प्राप्य स्थितं भक्तं कृपया क्वचिन् मोचयेत् इति निषिद्धस्य अन्ते सद्रूपेण आविर्भावः. विहितस्य अन्ते निषिद्धरूपेण आविर्भावम् आह **अनियुक्ततपस्यानाम्** इति. आज्ञाव्यतिरेकेण ये तपः कुर्वन्ति तेषाम् अन्ते भगवतः

पीडया क्रोधो भवति. ''मां चैवान्तःशरीरस्थम्'' (भग.गीता१७।६) इति वाक्यात्. तदा हीनभावं नयति, नरकं, श्वादियोनिं वा. भगवदिच्छया तुष्टः चेत् तमपि क्वचिन् मोचयेत्. अतः ईश्वरचर्या दुर्विभाव्या।।२६९।।

अतएव भगवान् स्वाभिप्रायं कर्ममार्गे निरूपयति इति आह **कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यम्** इति.

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यञ्च विकर्मणः।।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।२७०।।

विहितेऽपि विचारः कर्तव्यः. किं भगवदिच्छा अस्ति? तथा सति कर्तव्यं नोचेन् न कर्तव्यम् इति. तथा विकर्मणः तूष्णीम्भावादपि.

कर्मसों अधमताकुं प्राप्त भये भक्तकुं हु कृपाकरके संसारसों छुडाय दे हें. या प्रकार निषिद्धके अन्तमें हु शुभरूपसों प्रकट होवे हें. एसें ही विहित शुभकर्मके अन्तमें निषिद्ध पापरूपसों हु प्रकट हो जावे हें. जेसें, भगवान्की आज्ञा विना जे तप करे हें उनके हृदयस्थित भगवान्कुं पीडाकरकें क्रोध होवे हे. तब ''माञ्चैवान्तःशरीरस्थम्'' (भग.गीता१७।६) इत्यादि वाक्यानुसार ईश्वर उनकुं हीन भावकुं प्राप्त करे हे. अथवा नरककुं ग्रामसिंहादि योनिकुं प्राप्त करें हें. कभी भगवान् इच्छाकरकें दुष्ट होंय वाकुं हु मुक्त कर देवें हे. तासों ईश्वरके चरित्र विचारमें नहिं आय सके हें. याहीसों भगवान्नें अपनों अभिप्राय कर्ममार्गमें निरूपण कियो हे।।२६९।।

''कर्मणो ह्यपि'' इति. विहित शुभकर्म करिवेमें हु विचार करनों. भगवान्की इच्छा होय तो करनों, नहिं इच्छा होय तो नहिं करनों. एसे ही विकर्महूजो कर्मसों निवृत्त हे वाको भी विचार करनों. जेसें कलौ अग्निहोत्रादिकं न कर्तव्यम् इति. अत्रापि विचारः कर्तव्यः. किम् ईश्वरेच्छाकरणे अकरणे वा? इति. तथा निषिद्धेऽपि विचारः कर्तव्यः. किं ब्राह्मणो हन्तव्यो न वा? इति. भगवदिच्छायां हननमेव हितकारी, यथा द्रोणादीनाम्. अतएव कर्मणो गतिः गहना, फलं दुर्निरूपम् इतिअर्थः।।२७०।।

उपसंहरति अतश्च सुतरामेव इति.

अतश्च सुतरामेव कर्ममार्गो दुरत्ययः।।
अतोऽपि भजनं कार्यं भजनेन हि तादृशम्।।२७१।।

तर्हि किं कर्तव्यम्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **अतोऽपि भजनं कार्यम्** इति. ननु भजनेऽपि एवं चेत् को विशेषः स्याद्? अत आह **भजनेन हि तादृशम्** इति. भगवदिच्छाभावेऽपि भजने भजनमेव परं न निर्वहेत्, नतु अनिष्टं किञ्चित्।।२७१।।

कलियुगमें अग्निहोत्रादि करनें नहिं एसे लिख्यो हे. ताको हु विचार करनों. कहा ईश्वरेच्छा अग्निहोत्रादि करिवेमें हे अथवा नहिं करिवे हे. तेसें ही निषिद्ध कर्ममें हु विचार करनों. ब्राह्मणकुं मारनों चहिये अथवा नहिं मारनों चहिये. भगवान्की वेसी ही इच्छा होय तो ब्राह्मणकों मारनों ही हितकारी हे. जेसें महाभारतमें गुरु द्रोणाचार्यजीको मारनों भगवान्की इच्छाके अनुसार हतो तासों हितकारी ही भयो. ताहीसों कर्मकी गहन गति हे. कर्मको फल निरूपण करिवेमें कठिनसों आवे हे. तासों सुतराम् कर्ममार्ग दुरत्यय हे।।२७०।।

तब कहा करनों चहिये? एसी आकाङ्क्षा भई तहां आज्ञा करे हें 'अतोपि' इति. यासों हु भगवान्की भक्ति ही करनी. कर्ममार्गके समान भक्तिमें हु ईश्वरेच्छाको ज्ञान होनो असम्भव हे. फिर कर्मसों भक्तिमें कहा अधिकता हे? 'भजनेन'. कर्ममार्गमें भगवान्की इच्छा विना कर्म कियो जाय तो वाको अनिष्ट फल होय. भक्तिमार्गमें भगवान्की इच्छा विना भक्ति करी जाय तो भक्तिमें ही एसो बाधक आय जावे के जासों भक्तिको निर्वाह नहिं होय सके. परन्तु भक्तिमार्गमें अनिष्ट किञ्चित् भी नहिं होय।।२७१।।

न केवलम् ईश्वरेच्छैव कर्मफले प्रतिबन्धिका किन्तु अन्यदपि अस्ति इति आह **अन्योन्यनाशकत्वम्** इति.

अन्योन्यनाशकत्वञ्च कर्मणां भवति क्वचित्।।
कर्ममार्गे फलं तस्मान् न निरूप्यं हि सर्वथा।।२७२।।

"अनवसरे नमस्काराद् अर्धं पुण्यं विनश्यति"( ) "अजारजः खररजो हन्ति पुण्यं पुराकृतम्"( ) इति. बहुनाशकं कर्मफलं स्यात्. तथा वेधोपवासे गान्धार्याः पुत्रशतं नष्टम्. "अतिथिर् विमुखो यातः पुण्यमादाय गच्छति" ( ). उपसंहरति **कर्ममार्गे फलं तस्माद्** इति।।२७२।।

इदानीम् उपासनामार्गस्य फलम् आह **जायस्व** इति.

जायस्वेति म्रियस्वेति तृतीयो यदुदाहृतः।।
प्रकीर्णकानां सर्वेषां तत्फलां परिकीर्तितम्।।२७३।।

वेदएव तृतीयो मार्गो निरूपितः. कर्ममार्गेऽपि देवताप्राधान्ये इदमेव फलम्।।२७३।।

कर्ममार्गमें कर्मके फल मिलवेमें ईश्वरेच्छा तो प्रतिबन्धक हे ही परन्तु अन्य हु प्रतिबन्धक हें. जेसे, गुरु, पिता आदिकनकुं समय देखे विना नमस्कार करिवेसों आधे पुण्यको नाश होवे हे. तथा अजा, खर आदिकनकों रज पूर्वजन्मके पुण्यको नाश करे हे. तेसें कर्मफलके नाश करिवेवारे बहुत कर्म हें. जेसे विद्धा एकादशीके उपवास करिवेसों गान्धारीके १०० पुत्र नष्ट होय गये तथा अभ्यागत विमुख होयकें पाछो जावे हे तो गृहस्थके पुण्यकुं ले जावे हे इत्यादि अनेक कर्म परस्पर नाश करिवेवारे हें. तासों कर्ममार्गमें सर्वथा फलको निरूपण नहिं कर सकें हे.

अब उपासनामार्गको फल कहे हें 'जायस्वेति' इति. छान्दोग्यमें अर्चिरादि मार्ग ज्ञानीको हे. धूमादिमार्ग कर्ममार्गीको हे. इनसों अन्य जीवनको तृतीय मार्ग हे जामें वारं-वार फिरनों पडे हे तथा जन्ममरणकुं पावे हे. वेदमें ही तृतीय मार्गको निरूपण हे. कर्ममार्गमें हु देवताकी प्रधानतामें ये ही फल हे।।२७३।।

प्रसङ्गाद् योग-साङ्खचयोः फलम् आह **ईश्वरालम्बनम्** इति.

ईश्वरालम्बनं योगो जनयित्वा तु तादृशम्।।
बहुजन्म विपाकेन भक्तिं जनयति ध्रुवम्।।२७४।।
साङ्खचेऽपि भगवच्चिते फलमेतन् नचान्यथा।।
समर्पणात् कर्मणां च भक्तिर्भवति नैष्ठिकी।।२७५।।

योग-साङ्खचकर्माणि भगवदिच्छया कृतानि भक्तिं जनयन्ति इति अर्थः. एतन् नियतं फलम्।।२७४-७५।।

इदानीं निषिद्धयोगमार्गादेः स्वरूपं फलं च आह **योगेनतु** इति.

योगेनतु निषिद्धेन यदि देहः प्रसिद्धयति।।
तदा कल्पान्तपर्यन्तं भावनातस्तु सत्फलम्।।
अन्यथा नरके पातो दृढभूमौतु संस्थितिः।।२७६।।

निषिद्धो योगः कापालिको महादेवेन ऊर्ध्वमुखेन उक्तः. तदुक्तप्रकारेण

प्रसङ्गसों योगसाङ्खच्यको फल लिखे हें 'ईश्वरालम्बनम्' इति. भगवान्की इच्छाके अनुसार किये साङ्खच्य-योग तथा कर्मार्पण भक्तिकुं उत्पन्न करे हें. क्योंके गीताजीमें "नैवं पापमवाप्स्यसि" (भग.गीता२।३८) "कर्मबन्धं प्रहास्यसि" (तत्रैव२।३९) "मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः" (तत्रैव९।२८) इत्यादि वाक्यन्में साङ्खच्य-योग-कर्मार्पणको पापनाश ही फल लिख्यो हे. भगवत्प्राप्ति फल नहिं लिख्यो हे. "नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते" ( ) अर्थः पापको नाश भयेसों कृष्णमें भक्ति होय हे. तासों ईश्वरको आलम्बन जामें हे एसो योग तथा भगवान्में चित्तकी एकाग्रता जामें हे एसो साङ्खच्य ये दोउ बहुत जन्मन् करकें पके भये भक्तिके योग्य देहकुं प्रकट करकें भक्तिकुं प्रकट करें हें. ये फल नियत हे. या प्रकार भगवान्के अर्थ कर्मन्के अर्पण करिवेसों हु निश्चय करके नैष्ठिकी भक्ति होवे हे।।२७४-७५।।

अब निषिद्ध योगमार्गादिकको फल कहे हें. कापालिकादिक जो योग हे वो निषिद्ध योग हे. महादेवजीने कह्यो हे वा योगकी रीतिसों यदि देहः सिद्धः तदा कल्पान्तपर्यन्तं भगवद्ध्यानात् सदेव फलम्. आदौ अल्पं निषिद्धं ध्याने हन्यते. देहनाशेतु नरके पातः. दृढभूमौ योगारम्भे सिद्धे जन्मान्तरे पुनः पूर्ववासनया योगाभ्यासान् मुच्यते. अतः पाक्षिकापायो मार्गः।।२७६।।

शाक्तमार्गस्तु सर्वथैव निषिद्धः इति अभिप्रायेण आह **छलयोगस्तथा साङ्खच्यम्** इति.

छलयोगस्तथा साङ्खच्यं शाक्तो मार्गोऽभिधीयते।।
सिद्धान्ताश्च तथा कौला लोकातीतविभेदतः।।२७७।।
साङ्खच्ये भेदद्वयं तत्र द्वितीयेऽनुग्रहादिकम्।।
आद्ये लोकस्य सन्मानम् अन्त्ये तुल्यं तमस्तयोः।।२७८।।
लोके व्यामोहकं शास्त्रं सप्तानां बोधकः शिवः।।

साङ्खच्य-योगौ मिलितौ धर्ममार्गविरोधेन अमेध्यभक्षण-सुरापानादिपोषितौ शाक्तो मार्गः, तत्र सप्त भेदाः १.वैदिकाः २.वैष्णवाः ३.शैवाः ४.शाक्ताः ५.वामाः ६.सिद्धान्ताः ७.कौलाः. अतः परं नइति तेषां ग्रन्थः.तत्रस्वरूपं

यदि देह सिद्ध होय जाय फिर कल्पान्त पर्यन्त भगवान्को ध्यान कियो जाय तो श्रेष्ठ ही फल होय. या योग करिवेमें जो आदिमें अल्प निषिद्धता हे वाको ध्यानसों नाश होय जावे हे. यदि भगवान्के ध्यान बिना ही देहको नाश होय जाय तो या योगके भस्मास्थिधारणादि निषिद्धाचरणसों नरकपात होय. दृढ हृदयमें योगारम्भ सिद्ध भयेसों देहको त्याग होय जाय तो अन्य जन्मन्में पूर्वजन्मकी वासनासों योगाभ्यास करिवेसों मुक्त होय. तासों योगमार्ग एक पक्षमें नाशवारो हे।।२७६।।

शाक्तमार्ग तो सर्वथा ही निषिद्ध हे. धर्ममार्गको विरोधकरकें, अपवित्र मांसादि भक्षण, सुरापानादि निषिद्ध आचरणसों पुष्ट भये, मिले भये साङ्ख्यच-योगन्सों 'शाक्तमार्ग' कहे हें. वा शाक्तमार्गके सात भेद हें. १.वैदिक २.वैष्णव ३.शैव ४.शाक्त ५.वाम ६.सिद्धान्त तथा ७.कौल. इनसों आगें फेर नहिं हे. ये उनको सङ्ग्रह हे. तहां सिद्धान्त फलं च अन्तिमयोः आह सिद्धान्ताश्च तथा कौला इति. सिद्धान्तः आसुरं सर्वं मिथ्या इति. कर्म सर्वथा त्यक्तव्यं बाधकम् इति. तथा भक्तिरपि. केवलं वाचःपेशैः मोहयन्ति ये ते साङ्ख्याः. तेषां लोकसङ्ग्रहोनियामकः.

कलौ जनिष्यमाणानाम् असुराणां क्षयाय हि।।२७९।।
वामाः शाक्ताश्च योगे तु प्रकटाप्रकटेभिदा।।
प्रकृतिस्तत्र संराध्या साध्यो योगश्च तुष्टये।।२८०।।

कौलानान्तु न लोकापेक्षा इति भेदः. "पत्नीत्वदीक्षया रण्डा-श्चण्डाअपि भजन्ति हि" "दिगम्बराश्चर्मचिह्नाः सुरामांसपरायणाः, पापरूपा दुराचाराः स्त कौलाः परिकीर्तिताः" तेषाम् अनुग्रह-निग्रहादि दृष्टैकफलं भवति. तन्मार्गसेवितया दुष्टतामसशक्त्या सिद्धान्तस्य लोके सन्माननं फलम्. ततो व्यामोहो लोकस्य भवति. सप्तानां मूलम् आह **बोधकः शिवः** इति. प्रयोजनम् आह **कलौ** इति. असुराणामेव अत्र रुचिः. तेन तेषामेव क्षयइति न काऽपि अनुपपत्तिः.

तथा कौल इन दोउन्को फल कहे हें. सिद्धान्त आसुर हे. सब मिथ्या हे. कर्म सर्वथा त्याग करनो. तथा भक्ति सर्वथा त्याग करनी. केवल वाणीकी चतुराईसों मनुष्यन्कुं मोह करावे हे. जे साङ्ख्यचवारे हें उनके मतमें लोकसङ्ग्रह नियामक हे. कौलन्कों तो लोककी अपेक्षा नहिं हे. ये भेद हे. प्रचण्ड रण्डा स्त्री भी दीक्षा

करकें पत्नी बन जावे हें. चर्मके चिन्हवारे दिगम्बर सुरामांसादि भक्षणमें परायण रहे आवे पापरूपी दुराचारी 'कौल' कहावे हें. उन कौलन्कुं अनुग्रह-निग्रह शाप-वरदानादिरूप लौकिक दृढ फल होवे हे. उनके मार्गमें दुष्ट तामसी शक्तिकी सेवा करकें फलसिद्धि हे. सिद्धान्तको तो लोकमें सन्मान होनों फल होत हे. इन दोउन्को अन्तमें नरक फल हे. इन मतन्सों लोगन्कुं व्यामोह होवे हे. इन सात मतन्के मूल बोधक शिव हें. कलियुगमें उत्पन्न होयवेवारे आसुर जीवन्को क्षय करिवेके अर्थ इन मतन्कुं बनाये हें. तासों आसुरन्की यामें रुचि होय. तासों उनको ही क्षय होय. यासों कोई अनुपपत्ति नहिंहे।।२७९।।

चतुर्थ-पञ्चमौ आह **वामाः शाक्ताः** इति. तयोरपि पूर्ववत् प्रकटाप्रकटे भिदा. तत्र त्रिपुरसुन्दर्यादिशक्तयः सेव्याः. योगश्च साध्यः इति बुद्धिः।।२८०।।

शैवश्च वैष्णवश्चैव उपास्ये भेदकद्वयम्।।
कर्मासक्तास्तु ये तत्र वैदिकाः समुदाहृताः।।२८१।।
सन्नापि सर्वथा त्याज्या भगवान्मार्गवर्तिभिः।।
बौद्धाश्चतुर्विधाः पूर्वम् अन्तरानन्तमार्गिणः।।२८२।।

तत्र अनधिकारे शैव-वैष्णवौ. तस्याः शक्तेः पादत्वेन पञ्चप्रेत्यमध्ये निरूपितौ. न शब्दमात्रेण किञ्चिद् दुष्यति, पदार्थस्तु अन्यएव. अतो भूतादेरेव विष्णु-शिवादिनाम धृत्वा तथा उपासते इति निर्णयः.

तत्र वैदिकानां लक्षणम् आह **कर्मासक्ताः** इति. लोकसङ्ग्रहार्थं पूर्वोक्तानां सन्माननार्थं च तत्सेवकाः तथा भवन्ति।।२८१।।

शाक्त तथा वाम को वर्णन करें हें. इनमेंसु एक प्रकट हे तथा एक अप्रकट हे. ये भेद हे. तहां प्रकृति अर्थात् त्रिपुरसुन्दरी आदि शक्तिकी सेवा करनी पडे हे. योग हे सो साध्य हे ये बुद्धि उनके मतमें हे।।२८०।।

इनमें अधिकार नहिं होय तो शैव-वैष्णव मतमें प्रवेश करनों योग्य हे. उनके मतमें १.शिव २.विष्णु ३.रुद्र ४.ईश्वर तथा ५.ब्रह्मा ये पांच प्रेतशक्तिके पाद-मूलमें स्थित हें. उनके मध्यमें शिव-विष्णु नामके प्रेत हें. उनके सम्बन्धी मत शैव-वैष्णव कहावे हें. उन प्रेतन्के तथा इन शिव-विष्णु गुणावतारन्के एक नाम

मिलवेसों कछु हु दोष नहिं प्राप्त होवे हे. क्योंके पदार्थ न्यारे-न्यारे हें. तासां भूतादिकन्की ही विष्णु, शिव आदि नाम धरके वा प्रकारसों उपासना करे हें. ये निर्णय हे.

लोकसङ्ग्रहके अर्थ तथा पूर्वोक्तन्के सन्मानके अर्थ कर्ममें आसक्ति राखवेवारे 'वैदिक' कहावें हे. इनके सेवक वेसे ही होवे हें।।२८१।।

एतन् निरूपणस्य प्रयोजनम् आह **सप्तापि सर्वथा त्याज्या** इति. महापातकिसंसर्गेऽपि महापातकित्वश्रवणात्. एवं निषिद्धान् शाक्तान् निरूप्य बौद्धान् निरूपयति **बौद्धाश्चतुर्विधाः** इति. माध्यमिकाः, सौत्रान्तिकाः, विज्ञानवादिनः, चार्वाकाश्च इति. तेषाम् अवान्तरभेदाः कोटिशः सन्ति।।२८२।।

तेषां मूलभूतान् आह **तेषां बृहस्पतिमुखाः कर्तारः** इति.

तेषां बृहस्पतिमुखाः कर्तारो हरिरद्य तु।।
कृष्णसङ्गोपनार्थाय स्वयमेव जगाद ह।।२८३।।
वेदमार्गविरोधेन येषां करणमण्वपि।।
ते हि पाषण्डिनो ज्ञेयाः शास्त्रार्थत्वेन वेषिणः।।२८४।।

लोकायतं शास्त्रं बृहस्पतिना प्रणीतम्. तथा अन्येऽपि शुक्रमायाविमोहिताः. साम्प्रतं हरिरेव बुद्धरूपेण अवतीर्णो वेदनिन्दालक्षणं शास्त्रं कृतवान्. अतः सामान्येन पाषण्डमतम् आह वेदमार्गविरोधेन इति. अलौकिकवेषान् सम्पाद्य लोकव्यामोहनार्थं तिष्ठन्ति इति अर्थः.

इनके निरूपणको प्रयोजन कहे हें 'सप्तापि' इति. भगवन्मार्गवर्ती जीवन्कुं इन सात शाक्त मतके भेदन्को सर्वथा त्याग करनों. महापातकीके संसर्गसों हु महापातक होयवेको वर्णन कियो हे. निषिद्ध शाक्तन्कों निरूपण करकें बौद्धन्कों निरूपण करे हें. बौद्ध चार प्रकारके हें १.माध्यमिक २.सौत्रान्तिक ३.विज्ञानवादी तथा ४.चार्वाक. इन चारन्के हजारन्भेदहें।।२८२।।

उनके मूलभूत भेद कहे हें. उनके बृहस्पति आदि बनायवेवारे हें. लोकायत शास्त्र बृहस्पति प्रणीत हे. तेसें अन्य देवता हु शुक्रकी मायासों मोहित भये मोहक शास्त्रन्कुं बनावते भये. वर्तमानमें तो या कलिमें श्रीकृष्णको स्वरूप गुप्त राखिवेके अर्थ हरि भगवान् ही बुद्धरूप धारण करकें अवतीर्ण होयके वेदनिन्दक मोहक शास्त्र करते भये।।२८३।।

अब सामान्य रीतिसों पाषण्ड मतको लक्षण कहे हें. वेदमार्गको विरोधकरकें जिनकी अणु मात्रहु क्रिया होय उनकुं पाखण्डी कहनों. वे मनुष्य अलौकिकवेष धारण करके लोकन्कुं मोह करायवेकेअर्थस्थितरहेहें।।२८४।।

सर्वेषां नरके वासः तमोऽर्वाक् प्रतिपादके।।
नरकात् पुनरावृतौ नानायोनिषु सम्भवः।।२८५।।

तेषां फलम् आह **सर्वेषां नरके वासः** इति. तत्रापि शास्त्रार्थत्वेन निरूप्य मार्गप्रवृत्तिकर्तृणां तमएव. नरके गतानां पुनरावृत्तिः. तमसि प्रविष्टानां न. पुनरावृत्तौ च शूकरादियोनिषु सम्भवः।।२८५।।

एवं निषिद्धानां दुःखं फलत्वेन निरूप्य, किं दुःखम्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **आनन्दस्य तिरोभावः** इति.

आनन्दस्य तिरोभावः सर्वथा दुःखमुच्यते।।
तस्य स्थानं तु सर्वत्र यमलोको विशेषतः।।२८६।।

ईषत् तिरोभावे पदार्थान्तरत्वम्. तद् अग्रे वक्ष्यते. सर्वथा तिराभावो दुःखम्, अनिर्वृतिरूपत्वात्. अन्यथा सच्चिदानन्दरूपातिरिक्तपदार्थाभावात् किं दुःखं स्यात्. आत्मनः प्रतिकूलं भगवद्वैमुख्यमेव भवति. ईषत् तिरोभावो दुःखाभावःह्नसर्वथा उद्भवः सुखम् इति विवेकः.

उन मतवारे सब मनुष्यन्कों नरकमें वास होवे हे. ओर उन मतन्की प्रवृत्ति करिवेवारेन्कुं तम प्राप्त होवे हे. नरकमें गये भये पाछे आवें हें फिर वे सूकरादिकन्की योनिमें प्राप्त होवे हें. जिनने तममें प्रवेश कियो हे उनकी तो आवृत्ति नहिं होय हे।।२८५।।

एसें निषिद्ध मतन्कों दुःखरूप फल बतायके, दुःख कायसों कहनों? एसी आकाङ्क्षा भई तहां कहे हें 'आनन्दस्य' इति. आनन्दको 'ईषत् तिरोभाव अर्थात् कछुक छिपो भयो स्वरूपात्मक आनन्द दुःखाभावरूप पदार्थान्तर हे. तथा सर्वथा छिपे भये आनन्दकुं 'दुःख' कहे हें, अनिर्वृतिरूप हे तासों. अन्यथा सच्चिदानन्दरूपसों अतिरिक्त पदार्थ तो हे ही नहिं. फेरि दुःखको वर्णन नहिं कर सकेंगें. आत्माकुं प्रतिकूल ज्ञान जामें होय ये दुःखको लक्षण हु सर्वथा आनन्दके तिरोभावमें ही घटे हे. क्योंके भगवान्सों विमुखता ही आत्माके प्रतिकूल हे. सर्वथा आनन्दके आविर्भावकुं 'सुख' कहे हें. वा दुःखकी स्थिति तो सर्वत्र ही हे

एवं दुःख-सुखे निरूप्य तयोः देशविशेषे नियतत्वम् आह **तस्य स्थानम्** इति. जगति भगवान् ईषत् तिरोहितः तिष्ठति. अतः सर्वत्र दुःखम्. यमलोके सर्वथा तिरोहितः, प्राणिनाम् उपद्रवस्थानत्वात्. अतः सर्वात्मा परमदयालुः तत्र सुतरां तिरोहितो भवति.॥२८६॥

शुद्धं तमो दुःखरूपं सहजासुरसंश्रयम्॥
सर्वत्र नरकश्चैव तमश्चेति त्रिधा तु तत्॥२८७॥

शुद्धे तमसितु दैत्यानां वासात् सर्वथा तिरोभावः. एवं त्रैविध्यम् उपपाद्य अनुवदति सर्वत्र इति. **सर्वत्र** यद् दुःखं नरकश्च तमश्च इति दुःखत्रयम्॥२८७॥

सर्वत्र स्वर्गलोकश्च वासुदेवस्त्रिधा सुखम्॥
सुखधर्मस्ततथेच्छा स्यात् किञ्चिदुद्गम एव सः॥२८८॥

सर्वत्र यत् सुखं, स्वर्गलोकश्च, ब्रह्मानन्दश्च इति सुखत्रयम्. तथा सुखेऽपि उपपादानम्.

परन्तु यमराजके लोकमें वाको विशेष करके निवास हे. जगत्में भगवान् तिरोहित रहे हें तासों सर्वत्र दुःख रहे हे. यमलोक प्राणीके उपद्रवको स्थान हे तासों वो सर्वात्मा परमदयालु भगवान् सर्वथा छिपे भये रहे हें॥२८६॥

शुद्ध तममें हु दैत्यन्कों निवास हे. तासों वहां हु सर्वथा छिपे भये रहे हें. तासों ये विशेष दुःखके स्थान हें. या प्रकार दुःख तीन प्रकारको हे १.सर्व जगत्को दुःख, २.नरकात्मक दुःख तथा ३.तमोरूप दुःख. ये दुःखके तीन भेद हें॥२८७॥

१.सर्व जगत्को सुख, २.स्वर्गको सुख तथा ३.ब्रह्मानन्दरूप सुख ये सुखके तीन भेद हें. सच्चिदानन्द भगवान्सों सृष्टिको क्रम 'आवरणभङ्ग'में दिखायो हे. जेसें तेज दो प्रकारको हे १.स्वरूपात्मक दीपरूप तेज तथा २.धर्मात्मकह्नवाको प्रकाशरूप तेज, एसें सत्-चित्-आनन्द

इच्छादीनां स्वरूपम् आह **सुखधर्म** इति.

सर्वथा ह्युद्गमः कामो धर्मिणस्तु सुखं स्मृतम्।।

द्वेषक्रोधस् तथा दुखं पूर्ववद् दुःखधर्मतः।।२८९।।

धर्मः आकारः तावन्मात्रप्रकटने इच्छात्वम्. तत्रापि किञ्चित्प्राकट्ये इच्छात्वं, बहुप्राकट्ये कामत्वम् इति. एवमेव द्वेषादयोऽपि तत्-तद् दुःखस्य।।२८९।।

दो प्रकारके हें १.स्वरूपात्मक सत्-चित्-आनन्द तथा २.धर्मात्मक सत्-चित्-आनन्द. तहां दोउ प्रकारके सत्-चित्-आनन्द अध्यात्म, आधिभौतिक तथा आधिदैविक इन भेदन्सों एक-एक तीन प्रकारके हें. तहां स्वरूपात्मक आधिदैविक सच्चिदानन्दरूप भगवान् पुरुषोत्तम हें. आध्यात्मिक-स्वरूपात्मक सच्चिदानन्दरूप द्वितीय पुरुष अक्षरब्रह्म हे. आधिभौतिक-स्वरूपात्मक सच्चिदानन्दरूप प्रथम पुरुष क्षर ब्रह्म हे. धर्मात्मक आधिदैविक सच्चिदानन्दरूप गोलोकको परिकर हे. धर्मात्मक आध्यात्मिक सच्चिदानन्दरूप वैकुण्ठादि परिकर हे. धर्मात्मक सदंशरूप अष्टाविंशतितत्व हें. धर्मात्मक चिदंशरूप अट्ठाईस २८ तत्वमें स्थित रहिवे वारो ज्ञान हे. धर्मात्मक आनन्दरूप तत्वन्में स्थित रहिवेवारो सुख हे. एसें ही यथाक्रमसों इनको तिरोभाव समुझ लेनों. स्वरूपात्मक आधिदैविक-आध्यात्मिक आनन्दके ईषत् तिरोभावकों दुःखाभावा कहे हें. वाहीकुं सब लोग मोक्ष कहे हें. वेदोक्त यज्ञादि साधनको वो ही फल हे. स्वरूपात्मक आनन्दको सर्वथा आविर्भाव 'सुख' कहावे हे. धर्मात्मक तत्वनिष्ठ आधिभौतिक आनन्दको कछुक तिरोभाव "लौकिक-दुःखाभाव" कहावे हे. धर्मात्मक तत्वनिष्ठ आधिभौतिक आनन्दको सर्वथा आविर्भाव 'लौकिक-सुख' कहावेहे.

इच्छा-कामादिकन्के स्वरूप वर्णन करें हें 'सुखधर्म' इति. विषयकी आशंसारूपसों कछुक प्रकट भये सुखके आकारकुं 'इच्छा' कहे हें. वासों अधिक प्रकट भये सुखके आकारकुं काम कहे हें. आशास्य विषयके अनुभव करते समयमें अनुकूलतासों प्रकट भयो मानस-आनन्द

लोभोऽति किञ्चिदुद्भेदो धर्मयोः सुख-दुःखयोः।।
मोहस्तु द्विविधः प्रोक्तो धर्मवत् सुख-दुःखयोः।।२९०।।
मदे सुखसमुद्भेदो मात्सर्येऽन्यस्य केवलः।।
अन्येषां सर्वधर्माणां तद्धर्मोद्गम एव च।।२९१।।

लोभस्तु सुख-दुःखधर्मयोः उभयोरपि किञ्चिद् उद्भेदः. मोहस्तु द्विपत्रवद् एकमूलो द्विरूपो धर्मयुक्तः सुख-दुःखयोः किञ्चिद् उद्भेदरूपः. मद-मात्सर्ययोः स्पष्टम्.

'सुख' कहावे हे. विषयकी आनाशंसारूपसों कछुक प्रकट भये दुःखके आकारकों 'द्वेष' कहे हे. वासों अधिक प्रकट भये दुःखके आकारसों 'क्रोध' कहे हें. अनाशास्य विषय अर्थात् जाके अनुभव करिवेकी सर्वथा इच्छा नहिं होय वा पदार्थके अनुभव करते समय प्रतिकूलता करके प्रकट भये मानसआनन्दके तिरोभावकुं 'दुःख' कहे हें।।२८९।।

पदार्थकी अत्यन्त अभिलाषासों प्रकट भये सुखके आकारकी तथा अन्य जीवके अर्थ अनाशंसासों अर्थात् "अन्यकुं ये पदार्थ प्राप्त नहीं होय" एसी इच्छासों प्रकट भये दुःखके आकारकी एकताको नाम 'लोभ' हे. जेसें कोई वृक्षमें एक लतासों दो पत्र उत्पन्न होंय तथा वे न्यारे-न्यारे घाटके होंय एसें एक राग=प्रीतिसों उत्पन्न भयो मोह दो रूपवारो हे. धर्मयुक्त सुखको कछुक उद्भेदरूप मोह पुत्रके वात्सल्यमें होवे हे. धर्मरूप दुःखको किञ्चित् उद्भेदरूप मोह पुत्रादिकन्में क्लेश होय तब होवे हे. चित्तकी प्रसन्नतासों 'हर्ष' कहे हें. हर्षके अधिक होयवेसों 'मद' कहे हें. दूसरेके उत्कर्षकुं नहिं सहन करिवेसों 'मात्सर्य' कहे हें. या प्रकार राग, भय, लज्जा आदिकन्कों स्वरूप हु सुख-दुःखन्को यथासम्भव उद्गम ही हे. सूक्ष्म जो सुखकी पूर्वावस्था तासों 'राग' कहे हें. दुःखकी सूक्ष्म पूर्वावस्था 'भय' कहावे हे. एसें ओरनके स्वरूप हु 'आवरणभङ्ग'द्वारा समुझ लेनो योग्य हे. जेसें धर्म करिवेसों सुख होय तथा अधर्म करिवेसों दुःख होय एसें आभासमात्र अर्थात्

अधर्माभासे धर्माभासे च तानि फलानि इति एतदर्थं निरूपितानि।।२९०-९१।।

कदा भवन्ति? इति आकाङ्क्षायाम् **आह विपाकःकर्मणाम्** इति.

विपाकः कर्मणां येषां प्राग्देहविनिपाततः।।

प्राप्तस्तानीह भुज्यन्ते ततोऽन्यानि भवान्तरे।।२९२।।

अल्पफलानि बहुकाले पक्कानि भवन्ति. उपचितावयवत्वमेव पाकः, ऊष्माधिक्यात्. एवं कर्मणामपि विपाको ज्ञेयः. इदानीम् अविपक्कानि कालान्तरे पक्कानि भवन्ति. स्वरूपनाशस्तु प्रायश्चित्तादिनापि भवित. कर्मक्षयस्तु भोगेनैव।।२९२।।

अत्र भोक्तारं निरूपयति **एते सर्वे** इति.

पूर्णधर्म नहिं करिवेसों इच्छा, काम आदिक होय हें. आभास मात्र अधर्म करिवेसों क्रोध, द्वेषादिक उत्पन्न होय हें. याहीके अर्थ इनको निरूपण कियो हे।।२९०-९१।।

ये फल धर्म-अधर्म करे पीछें कब होय हे? एसी आकाङ्क्षा भई तहां कहे हें ''विपाकः कर्मणाम्'' इति. अल्प फलवारे सुकर्म-कुकर्म बहुत कालमें पके हें. तासों प्रथम देहको पात भये पाछें उनको फल मिले हे. जेसे गरमीके अधिक होयवेसों वृक्षके फलन्के अवयव उपचित=फूल जावें तब वे फल पके फल कहावे हें एसें ही कर्मन्को हु परिपाक जान लेनों. अत्यन्त उग्र पुण्य-पाप तो या ही देहमें फल देवे हें. जे पुण्य-पाप अत्यन्त उग्र नहीं हें वे अभी विना पके हें. कालान्तरमें पकेंगें तब ही उनको फल मिलेगो. कर्मको स्वरूपनाश अर्थात् फल होयवेके अनुकूल आकारको नाश प्रायशः चान्द्रायणादिक प्रायश्चित्तन्सों भी होय हे. सर्वथा कर्मन्को तिरोभाव तो भोगवेसों होय. तथा ''ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन''(भग.गीता४।३७) ''केचित् केवलया भक्त्या''(भाग.पुरा.६।१।१५) इत्यादि वाक्यन्के प्रमाणसों भक्ति अथवा ज्ञानसों होय हे।।२९२।।

सुख-दुःखादिकन्के भोक्ताको निरूपण करे हें ''एते सर्वे'' इति.

एते सर्वे विशेषेण जीवसन्निधिमात्रतः।।

स्फुरन्त्यन्यस्याभिमानाज्जीवो दुःखी निगद्यते।।२९३।।

अग्र-पश्चाद्भावतश्च कर्मणा स्फुरितो हरिः।।

अग्रोद्गमानुद्गमनैः सुख-दुःखे तनोति हि।।२९४।।

अन्तःकरणधर्माएव एते जीवसान्निध्यात् स्फुरिताः स्वाश्रयाविवेकिनम्. अन्तःकरणाविवेकेन प्रवर्तमानं मिलिताः. स्वव्यपदेशं प्राप्नुवन्ति इति अर्थः. तदा ''जीवः सुखीह्नदुःखी'' इति वा लोके व्यवहारो भवति.

ननु एते आत्मधर्माः कुतो न भवन्ति? अन्तःकरणधर्मत्वे वा किं प्रमाणम्? तत्र आह **अग्रपश्चाद्भावतः** इति. कर्मस्वरूपो भगवान् अन्तःकरणएव प्रकटो भवति, न आत्मनि. अतः सुख-दुःखादयः अन्तःकरणस्यैव धर्माः इति उच्यते.

सुख-दुःखादि पदार्थ अन्तःकरणके धर्म हें. जीवके सन्निधानसों उनको स्फुरण होय हे. अर्थात् जीवके समीप रहेसों स्फुरे भये सुख-दुःखादिक अन्तःकरणके अविवेकवारे जीवकुं प्राप्त होयकें जीवधर्म कहावे हें. तब अन्तःकरण हे सो ''में ही हुं'' एसें मानिवेवारो जीव अन्तःकरणके सुख-दुःखादि धर्मन्सों ''ये सुखी हे''ह्न''ये दुःखी हे'' या प्रकार लोकमें व्यवहार गोचर होय हे।।२९३।।

तहां सुख-दुःखादिक आत्माके धर्म क्यों नहीं होय सकें हे? तथा ये अन्तःकरणके ही धर्म हे यामें कहा प्रमाण हे?

एसी शङ्का तो नहिं करनी. क्योंके अग्र-पश्चाद् भावसों कर्मस्वरूपी भगवान् अन्तःकरणमें ही प्रकट होवे हें. आत्मामें नहिं प्रकट होवे हें. यदि सुख-दुःखादिक आत्माके धर्म होंय तो शरीर रहित आत्माको हु सुख-दुःख स्पर्श करेंगे. तब तो ''अशरीरंवाव सन्तं प्रिया प्रिये न स्पृशतः'' (छान्दो.उप.८।१२।१) या श्रुतिमें प्रिय=सुख अप्रिय=दुःख शरीर रहित आत्माको स्पर्श नहिं करे हे ये लिखी हे तासों विरोध आवेगो.

स च कर्मात्मा विधि-निषेधप्रकारेण स्फुरितः पूर्वोक्तन्यायेन सुख-दुःखे तनोति।।२९३-९४।।

याहीसों कर्मफल भोगिवेमें मनोमात्र लिङ्गदेहकी अपेक्षा हे. तासों सुख-दुःखादिक अन्तःकरणके ही धर्म कहे जावें हें. कर्मस्वरूपी भगवान् विधि-निषेध प्रकारसों स्फुरित होयके पूर्वोक्त न्यायके अनुसार सुख-दुःखको विस्तार करे हें।।२९४।।

इति फलप्रकारणम्।।

एवं फलं निरूप्य साधनं निरूपयितुं भगवत्प्राप्तौ किं साधनम्? इति आकाङ्क्षायां, ज्ञानं साधनम् इति लोकप्रसिद्ध्या प्राप्तं ज्ञानं वेदविचारेण "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" (श्वेता.उप.३।८) इति दुःखातिक्रममेव फलत्वेन मन्यते. परमानन्दानुभवस्तु भक्त्यैव इति अग्रे वक्ष्यते. एतदेव साधनद्वयं तारतम्येन यथा फलं निरूपयति तथा उच्यते. तत्र ज्ञानं दुःखं दूरीकरोति निश्चितम्. तदा आपाततएव दूरीकरोति, मूलतस्तु भक्तिरेव एतदपि करोति. "अनर्थोपशमं साक्षाद्" (भाग.पुरा.१।७।६) इति वाक्यात्. अतो ज्ञाने परम्परया दुःखदूरीकरणं वक्तव्यम्. तद् यया प्रनाड्या भवति ताम् आह **ज्ञाने यर्हि** इति.

ज्ञाने यर्हि मनोराज्यं शोकस् तेनापि नो भवेत्।।
त्रिविधं दुःखमेतद्वि भवत्येव न संशयः।।२९५।।

या प्रकार फलको निरूपण करकें साधनकों निरूपण करिवेके अर्थ भगवान्‌की प्राप्तिमें कहा साधन हे? एसी आकाङ्क्षा भई तहां लोकप्रसिद्धिसों ज्ञान ही भगवत्प्राप्तिको साधन प्राप्त भयो. वेदके अनुसार विचार करिवेसों तो "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" (श्वेता.उप.३।८) या श्रुतिसों दुःख दूर होनों ही ज्ञानको फल मान्यो जाय हे. परमानन्दको अनुभव तो भक्ति करके ही होय हे ये आगे कहेंगे. इन दोउ साधनन्‌को तर-तमभाव करके जेसे यें फलके देवेवारे हें वेसे निरूपण करे हें. ज्ञान दुःखकुं दूर करे हे ये तो निश्चय हे. परन्तु ज्ञान हु आपाततः ही दुःख दूर करे हे, मूलसों दुःख दूर तो भक्तिसों ही होय हे. तामें "अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगमधोक्षज" (भाग.पुरा.१।७।६) इत्यादि भागवतवचन प्रमाण हें. तासों ज्ञान परम्परासों दुःखकु दूर करे हे एसे कहनो योग्य हे.

अब जा प्रनाडीसों ज्ञान दुःखकुं दूर करे हे वा प्रनाडीकुं कहेहें.

जेसें अत्यन्त दरिद्र हु अपनें मनमें चक्रवर्ती राजापनेंकी भावना ज्ञानस्वरूपं शब्दात् श्रुतं मनसा मनोराज्यवद् यदा भावयति तदापि शोको निर्वर्तते. अतो यादृशेनापि तादृशेन ज्ञानेन लोके जायमाना अन्तःकरणक्लेशा निवर्तन्ते. व्याध्यादिक्लेशस्तु न निवर्तते. तथा नरकदुःखम्. सहजासुराणां तमोदुःखं च. तद् आह **त्रिविधम्** इति।।२९५।।

तस्यापि निवृत्त्युपायम् आह **सर्वाध्यासनिवृत्तौ हि** इति.

सर्वाध्यासनिवृत्तौ हि सर्वथा न भवेद् व्यथा।।

साच विद्योदये साच न शब्दात् सुविचारितात्।।२९६।।

व्यथा पीडा. सर्वाध्यासनिवर्तकन्तु ज्ञानं न इदानीन्तनानां, न इदानीन्तनशास्त्रानुसारेण इति निरूपयति सा च इति.

करे हे तब वा समय वाकी दरिद्रपनेकी चिन्ता मिट जावे हे या ही प्रकार वेद पुराणादिकन्के शब्दन्सों सुने भयेह्नसंसार अनित्य हे, दुःख अदृष्ट तथा प्रारब्ध कर्मके आधीन हे, जो अवश्य भावी होय वो होवे ही हेह्नइत्यादि ज्ञानकी जब भावना मनुष्य करे हे तब हु वाको शोक निवृत्त होय जावे हे. तासों जेसे शास्त्रोक्त ज्ञान हे तेसे हु अनाहार्य ज्ञानसों लोकमें उत्पन्न भये अन्तःकरणके क्लेश निवृत्त होय जावें हें. परन्तु रोगादिकन्के क्लेशसों निवृत्ति नहिं होय हे. तथा नरकको दुःख हु नहिं छूटे हे. सहज आसुर जीवन्को तमोदुःख हु नहिं दूर होवे हे. सो ही कहे हें:शास्त्रमें लिखे ज्ञानकी भावना करिवेवारेकुं हु त्रिविध दुःख तो होवे ही हे।।२९५।।

त्रिविध दुःखकी निवृत्तिको उपाय कहे हें 'सर्वाध्यास' इति. जब ब्रह्मज्ञानसों सब अध्यायकी निवृत्ति होय जाय हे, अर्थात्, "देह इन्द्रिय अन्तःकरण प्राण हे सो में ही हुं" एसो अध्यास जब छूट जाय हे तब भौतिकदेहकुं भये रोगादिकसों हु आत्माकुं व्यथा नहिं होय हे. तथा यातना देहकुं भये जे नरकादिक उन करके हु पीडा आत्माकुं नहिं होय हे. परन्तु अभीके शास्त्रन्के अनुसार अभीके जीवन्कुं सब अध्यासके निवृत्त करिवेवारो ज्ञान नहिं होय हे या बातको निरूपण करें हें'साच' इति.

अविद्यानिवृत्तिः विद्योदये, विद्या च शब्दात् न जायते. सङ्घातस्थितो हि आत्मा सदा अनुभूयते. श्रुतिः पुनः सङ्घातव्यतिरिक्ततां बोधयन्ती अननुभूतब्रह्मात्मभावं वा बोधयन्ती पूर्वज्ञानेन बाधिता दुर्बला भवति. अतो वैराग्यादिसाधनैः सहिता मनन-निदिध्यासनाभ्यां युक्ता अभ्यासेन बलिष्ठा मनसि "ब्रह्म अहम् अस्मि" इति वृत्तिम् उत्पादयति. तदा अनुभवपरम्परया पूर्वानुभवो बाध्यते. तत्र शब्दस्य सहकारित्वं, मनसः तादृशस्य करणत्वम्.

ये तु पुनः शब्दस्य करणत्वम् आहुः ते भ्रान्ताएव. न हि आत्मविषयकेषु ज्ञानेषु मनोऽतिरिक्तं करणं भवति. बहिरिन्द्रियाणां ग्राहकाणां बहिर्विषयएव

देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण तथा प्राण इनके अध्यास तथा स्वरूपविस्मृति ये अविद्याके पाश्च पर्व हें. या पश्चपर्वारूपा अविद्याकी विद्या=ज्ञानको उदय होय तब निवृत्ति होय हे. ज्ञान हे सो शब्दसों नहिं होय हे. लोकमें सब मनुष्यनकुं देहादि सङ्घातमें स्थित आत्माको सदा अनुभव होय हे. वेद हे सो देहादिकन्सों आत्मा न्यारो हे या बातकुं जतावें हे. तथा जाको अनुभव नहिं कियो एसे ब्रह्मात्मभावकुं अर्थात् ब्रह्म ही सबन्को आत्मा हे या बातकों जतावें हे. परन्तु सदा अनुभवमें आये भये लौकिकज्ञानसों बाधित करीभई श्रुति दुर्बल होय जावे हे. तासों वैराग्यादि साधन सहित, मनन-निदिध्यासन सहित अभ्याससों बलवारी भई श्रुति "ब्रह्म अहम् अस्मि"ह्न"ब्रह्म में हुं" एसी वृत्तिकों उत्पन्न करे हे. तब अनुभव-परम्परासों सङ्घात सहित आत्मज्ञानको बाध होय हे. वा ब्रह्मात्मज्ञानमें वेदादिक शब्द सहकारी हें. तथा वैराग्य, मनन तथा निदिध्यासन सहित मन-इन्द्रिय करण हें.

कितनेक विद्यारण्यस्वामी आदि आत्माके साक्षात्कार करिवेमें शब्दकुं शब्दकरण बतावें हें. व्यापारवारे असाधारण कारणकुं 'करण' कहे हें. जेसे नेत्र-रूपादि पदार्थ देखिवेमें करण हें. पदार्थको तथा नेत्रको संयोगरूप व्यापार सहकारी हे. एसें आत्माके ज्ञान होयवेमें शब्दकुं करण कहे हें. उनकुं भ्रमवारे समुझनें. क्योंके आत्माके स्वरूपज्ञानमें मनकुं छांडिके सामर्थ्यात्. अतः आत्मनो धर्मो ब्रह्मत्वलक्षणो न बाह्यः, दशमत्वादिवत्. सच देहधर्मः देहेष्वेव अपेक्षाबुद्ध्या जन्यते. अतो "दशमः अहम्" इति देहरूपम् आत्मानं शब्दाद् जानतोऽपि न ब्रह्मरूपानुभवः तद् इति सिद्धान्तः. किञ्च "दशमः अहम्" इति चाक्षुषज्ञानं शब्दे 'युष्मत्'शब्दप्रयोगात्. नहि शब्दः पदस्मारितपदार्थोल्लङ्घनेन वाक्यार्थं जनयति. अतो

अन्य इन्द्रिय करण नहिं होय सकें हे. बाहिरकी नेत्र, कर्ण आदि इन्द्रियन्की बाहिरके रूप, शब्द आदि ग्रहण करिवेमें ही सामर्थ्य हे. आत्माको ब्रह्मत्वरूप जो धर्म हे सो बाहिरको नहिं हे. जेसें दशमत्वादिक बाहिरके धर्म हें.

तहां ये शङ्खा होवे हे के कोई पुरुषने अन्य नो पुरुषनको गिनके कोई पुरुषसों कही ‘‘तू दशम हे’’ तब वो शब्द सुनकें ‘‘में दशम हुं’’ एसो वाकुं ज्ञान भयो. या वाक्यमें जेसे शब्दसों ‘‘में दशम हुं’’ एसो ज्ञान होय हे एसे ‘‘तत्त्वमसि’’ह्न‘‘तुं ब्रह्म हे’’ या शब्दसों हु ‘‘में ब्रह्म हुं’’ ये ज्ञान होय जायगो.

उत्तर:दशमत्व देहधर्म हे. अपेक्षाबुद्धिसों देहमें उत्पन्न होय हे. देहमें अध्यास राखिवेवारो पुरुष अपने आत्माकुं देहरूप मानके जेसे ‘‘में दुबलो हुं’’–‘‘में मोटो हुं’’ एसें कहे हे तेसें ‘‘तु दशम हे’’ या शब्दसों देहरूप आत्माको ही ‘‘में दशम हुं’’ एसें जानतो भयो हु ब्रह्माकार वृत्तिके अनुभव करिवेवारो नहिं होय हे. यहां ये सिद्धान्त हे. क्योंके ब्रह्मत्व भीतरको धर्म हे. तासों ब्रह्मरूप आत्माको साक्षात् अनुभव मन विना पास रहिवेवारी अन्य इन्द्रियन्सों हु नहिं होय हे. तब बाहिरकी इन्द्रियन्सों ग्रहण कियो जाय एसे शब्दसों ब्रह्मात्मानुभव होनों केसें घट सके हे? किञ्च, ‘‘दशम: अहम्’’ ये जो चाक्षुष ज्ञान हे सो ‘युष्मत्’शब्दके प्रयोगसों भयो हे. ये बात हु नहिं बन सके हे. क्योंके शब्द हे सो तो पदस्मारित पदार्थको उल्लङ्घन करके ‘युष्मत्’शब्देन ‘अस्मत्’शब्दज्ञानं जनयिष्यति. तथा जायमानं चक्षुषा मनसा वा जायते इति अङ्गीकर्तव्यम् इति आह **न शब्दात् सुविचारिताद्** इति।।२९६।।

दूषणान्तराणि आह **मर्यादाभङ्गएव स्याद्** इति.

मर्यादाभङ्गएव स्यात् प्रमाणानां तथा सति।।
गजानुमानं नैव स्यात् साङ्कर्य वा तथा भवेत्।।२९७।।

ज्ञानन्तु प्रमाणाधीनं, न प्रमेयाधीनम्. ‘‘मानाधीना मेयसिद्धि:’’ इति. अन्यथा लोके मर्यादाभङ्गः स्यात्. ‘‘तं घटम् आनय’’ इति अत्र वाक्यार्थज्ञानं प्रत्यक्षं स्यात्. चीत्कारेण गजानुमानं च न स्यात्. प्रत्यक्षत्वं जातिः, परोक्षत्वं च ज्ञानम्, तयोरपि अनुभवात्. अतः साङ्कर्यं च भेवत्।।२९७।।

वाक्यार्थकुं नहिं उत्पन्न कर सके हे. तासों ‘युष्मत्’शब्दसों ‘अस्मत्’शब्दके स्मारित अर्थको ज्ञान नहिं होय सके हे. ‘‘दशम: अहम्’’ इत्यादि वाक्यन्में जो ‘युष्मत्’शब्दसों ‘‘में दशम हुं’’ इत्यादि ‘अस्मत्’शब्दार्थज्ञान हे सो नेत्रसों अथवा मनसों होय हे ये ही अङ्गीकार करनों चहिये. तासों अच्छी प्रकार विचार्यो भयो शब्द हु अपरोक्षज्ञान्कुं नहिं करे हे।।२९६।।

शब्दसों साक्षात् ज्ञान होय हे एसे मानिवेमें पुनः दूषण आज्ञा करे हें 'मर्यदाभङ्ग' इति. प्रमाणके आधीन प्रमेयकी सिद्धि हे. लोकमें एसी मर्यादा हे. शब्दसों शब्दज्ञान होय हे, चक्षु आदिकन्सों प्रत्यक्षज्ञान होय हे. यदि शब्दसों हु प्रत्यक्षज्ञान मानोगे तो वो मर्यादाभङ्ग होयगो. यदि आग्रहकरकें शब्दसों हु प्रत्यक्षज्ञान मानों हो तो ''वा घटकुं लाव'' इन शब्दन्सों या वाक्यार्थको प्रत्यक्षज्ञान होनों चहिये. तथा हाथीके विनादेखे चीत्कार सुनिवेसों हाथीको अनुमान हु नहिं होयगो. किञ्च, प्रत्यक्षत्व तथा परोक्षत्व ये दोउ जाती हें. इनको ज्ञान मानोंगे तो ''दशमः त्वम् असि'' या वाक्यमें प्रत्यक्षत्व-परोक्षत्व इन दोउ जातिकी सङ्करता होयगी।।२९७।।

दशमवाक्यम् अन्यथासिद्धम् इति. भ्रान्तानां मतेन दृष्टान्त इति आह **दशमस्त्वमसि** इति.

दशमस्त्वमसीत्यादौ देहादिविषयत्वतः।।
शब्दस्य साहचर्येण चक्षुषैव भवेन् मतिः।।
स्मारकत्वम् अतो वाक्ये सङ्ख्याज्ञानं पुरा यतः।।।।२९८।।

''दशमः अहम्'' इति देहभिन्नज्ञानम्।।२९८।।

प्रकृते तदभावम् आह **अध्यासस्य** इति.

अध्यासस्यानिवृत्तत्वान् न विविक्तात्मदर्शनम्।।
मनसा शक्यते कर्तुं नान्यथा सर्वदा भवेत्।।२९९।।

प्रतिबन्धनिवृत्त्यनन्तरमेव हि कार्योदयः. अतः अध्यासस्य प्रतिबन्धकत्वात् न शब्दात् ज्ञानमपि उदेति इति भावः. अतएव महता साधनेन तज्जन्यते. अतः शब्दसाहचर्येण मनसापि तज्जनयितुं शक्यं न इति अर्थः. विपरीते बाधकम् आह **अन्यथा** इति. शब्दश्रवणमात्रेणैव तज्ज्ञाने जाते सर्वं साधनवैयर्थ्यम् इति।।२९९।।

तासों शब्दसों आत्माको साक्षात ज्ञान होय हे ये बात सिद्ध करिवेके अर्थ ''दशमः त्वम् असि'' ये भ्रान्तन्के मतन्सों दृष्टान्त हे. क्योंके ''दशम तु हे'' या शब्दसों यदि श्रोताकुं ''दशम में हुं'' ये ज्ञान होय हे सो शाब्दके साहचर्यकरकें नेत्रन्सों देहसों अभिन्न आत्माको ज्ञान होय हे.

प्रकृतमें तो वेदके शब्दसों देहादिकन्सों भिन्न आत्माको ज्ञान होय हे ये मानो हो सो नहिं बन सके हे. क्योंके प्रतिबन्धककी निवृत्ति होयवेसों ही कार्यको उदय होय हे. आत्माकुं देहाभिन्न ब्रह्मरूप जानिवेमें "देह, प्राणादिरूप में हुं" ये अध्यास प्रतिबन्धक हे. तासों "तत् त्वम् असि"ह्न"तु ब्रह्म हे" इत्यादि वेदशब्दसों "में ब्रह्म हुं" एसे ज्ञानको उदय नहिं होय हे. केवल दम्भसों ही "अहं ब्रह्मास्मि"ह्न"में ब्रह्म हुं" एसें मानके सब साधन छोड देवे हें।।२९८-९९।।

मुख्यज्ञानेनाऽपि अध्यासनिवृत्तिः नास्ति इति आह **प्रत्यक्षेणापि** इति.

प्रत्यक्षेणापि विज्ञानं मायया ज्ञानकाशया।।
स्वप्नप्रबोधरीत्या हि किमु शाब्दं निवारयेत्।।
सर्वज्ञत्वं सर्वभावज्ञानं चापाततः फलम्ः।।३००।।

स्वप्नप्रबोधो यथा न निद्राव्यावर्तकः तथा जीवप्रलय(प्रयत्न?)साध्यो न कदापि अविद्यानिवर्तकः, मायाधीनत्वात् तेषाम्. यथा सा नानाऽवस्थाः सम्पादयति तथा ज्ञानावस्थामपि सम्पादयतीति यैव मायानिवर्त्तिका सैव अध्यासं निवर्तयति, न अन्ये इति अर्थः.

ब्रह्मज्ञान तो बडे साधनसों होवे हे. वैराग्य, मनन तथा निदिध्यासन नहिं किये जांय तो शाब्दसहचारी मनसों हु ब्रह्मात्मज्ञान नहिं होय सके हे. यदि "तत्वमसि"-"तु ब्रह्म हे" इत्यादि गुरुमुखसों शब्द सुनिवेसों ही ब्रह्मज्ञान होय जातो होय तो वेद-पुराणदिकन्के लिखे साधन व्यर्थ ही होयेंगे.

वस्तुतस्तु पक्षपात छोडिकें विचार कियो जाय तो वैराग्यादि साधन संयुक्त तथा श्रुति सहकृत मनसों प्रकट भयो मुख्य ज्ञान हु अध्यासकी सर्वथा निवृत्ति नहिं करे हे. जेसें, जागृदवस्था निद्राकी सर्वथा निवृत्ति नहिं करे हे किन्तु निद्राकुं दबाय दे हे. क्योंके जागृत् तथा निद्रा दोउ बुद्धिकी वृत्ति हे. सत्वगुणकी वृद्धि होय तब पुरुष जाग जावे हे. तमोगुणकी वृद्धि होय तब निद्रा आ जावे हे. जागृद् वृत्ति दब जावे हे. एसे ही सत्वके उदय होयवेसों विद्यासों अविद्या दब जावे हे. तमो गुण उदय होय तब अविद्यासुं विद्या दब जाय हे, सर्वथा निवृत्त नहिं होवे हे. क्योके

ये दोउ मायाकी शक्ति हें. तथा जीवप्रयत्नसाध्य ज्ञानरूप मनको व्यापार कबहु अविद्या नहिं होय या प्रकार अविद्याकुं निवृत्त नहिं कर सके हे. क्योंके जीव मायाके आधीन हे. जेसें माया नानाप्रकारकी अध्रुव अवस्था करे हे तेसें अध्रुव ज्ञानावस्थाकुं हु करे हे. तासों जो सामग्री मायाकों निवृत्त करे हे वो ही अविद्याकुं ''ज्ञानिनामपि चेतांसि'' ( ) इत्यादिवाक्यानि च बाधकानि. किञ्च, जीवस्य आत्मनो ब्रह्मत्वेन ज्ञानं ब्रह्मस्वरूपज्ञानानन्तरमेव. अन्यथा रजतज्ञानरहितस्यापि शुक्तिकायां रजतभ्रमो भवेत्. अतः पूर्वं ब्रह्मज्ञानम् अपेक्षितम्. तेनैव कार्यसिद्धौ आत्मज्ञानं व्यर्थम्. अपरोक्षत्वाय तथात्वेऽपि एकदेशएव तथाभानम् अनर्थमेव निवारयेत्, न फलं साधयेद् इति. ब्रह्मज्ञानं पूर्वं जातं निष्फलं भवेत्. सर्वज्ञत्वं च तस्य लक्षणम्।।३००।।

सर्वथा निवृत्त करे हे. ''ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा, बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति'' ( ) या वाक्यमें ज्ञानीनूके हु चित्तको माया मोह करादे हे ये लिखी हे. तासों जहां तांई माया निवृत्त नहिं होय तहां तांई अविद्याकी हु निवृत्ति नहीं होय. वो माया भगवानूके अधीन हे. तासों भगवानूके शरण गयेसुं ही माया निवृत्त होय. किञ्च, ब्रह्मके स्वरूपको ज्ञान भये पीछे ही आत्माकों ब्रह्मत्व करके जान सके हे. जेसे चांदीके जानवेवारेकों ही छीपमें चांदीको भ्रम होवे हे. तासों आत्माको ब्रह्मत्वरूपसों जानिवेमें प्रथम ब्रह्मज्ञानकी अपेक्षा हे.

ब्रह्म हे सो सर्वात्मक हे, अरु एक हे. सब जीव वाके स्वरूपमें हे. वाके ज्ञानसों सर्व कार्य सिद्ध हो जावे हें फिर आत्मज्ञान व्यर्थ हे. जो आत्माको ज्ञान होयवेके अर्थ ब्रह्मज्ञानकों सहकारी मानो तो ब्रह्मके एकदेश शरीर जीवको ही साक्षात्कार होय. वासों अनर्थकी ही निवृत्ति होय. ''तरति शोकमात्मवित्'' (छान्दो.उप.७।१।३) इत्यादि श्रुतिके अनुसार शोकमात्र दूरहोय ''ब्रह्मविदाप्नोति परम्'' (तैत्ति.उप.२।१।१) या श्रुतिको लिख्यो भयो परब्रह्म पुरुषोत्तमकी प्राप्तिरूप मुख्यफल नहिं होय. तासों प्रथम भयो ब्रह्मज्ञान निष्फल ही होय. सर्वज्ञ होय जानो वा ब्रह्मज्ञानको आवन्तर फल हे. अतः सर्वज्ञता ब्रह्मज्ञानको लक्षण हे. यामें ''यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितं भवति'' (शाण्डि.उप.२।२) इत्यादि श्रुति प्रमाण हे. अभी जीवनकुं तो भक्त्यादि साधन रहित केवल

तत्रापि केचिन् मन्दमतयः आत्मज्ञानमेव सर्वज्ञानम् इति वदन्ति तं निराकरोति **सर्वो न ब्रह्म** इति.

सर्वो न ब्रह्म सर्वं तु वामदेवस् तथा जगौ।।
अवयुत्या गर्भवासी सूर्याद्यनुवदन् मुहुः।।३०१।।
ज्ञानदुर्बलवाक्यत्वात् पाषण्डवचनं मतम्।।
सत्ये युगेऽतिमहतां भवत्येतन् न चान्यथा।।३०२।।

तु पुनः सर्वमेव 'सर्व'शब्देन उच्यते. यतो वामदेवः अगर्भस्थितः "अहं मनुरभवं सूर्यश्च" (बृहदा.१।४।१०) इति 'सर्व'शब्दार्थरूपान् मन्वादीन् अनुवदति. अतः तथावक्तारो ज्ञानदुर्बलवादिनः इति मन्तव्याः. ज्ञानस्य दुर्लभत्वम् आह **सत्ये युगे** इति।।३०१-०२।।

अभीके "तत्वमसि" आदि उपदेशसों सर्वज्ञतारूप अवान्तर फल हु नहीं सिद्ध होय तो परब्रह्म पुरुषोत्तमकी प्राप्तिरूप मुख्य फलकी कहा आशा ये भाव हे।।३००।।

कितने मन्दबुद्धिवारे आत्मज्ञानकुं ही सर्वज्ञान कहे हें. वाको निराकरण करे हें "सर्वो न ब्रह्म" इति. सब पदार्थ ब्रह्मरूप नहिं होय हें किन्तु ब्रह्म सब पदार्थरूप होवे हे. याहीसों "सर्वमभवत्" (बृहदा.उप.१।४।१०) "ये सर्वरूप हो तो भयो" या श्रुतिमें 'सर्व'शब्दसों जगत्को ग्रहण होय हे, केवल शरीर-आत्माको ग्रहण नहिं होय हे. तथा अगर्भस्थित वामदेव हु "अहं मनुरभवम्" (पूर्ववत्) इत्यादि श्रुतिमें मनु, सूर्य आदि जगत्के पदार्थन्के ज्ञानसों ही सर्वज्ञान कहावे हें. तासों आत्मज्ञानको नाम सर्वज्ञान नहिं हे. किन्तु प्रपञ्च=जगत्के सब पदार्थन्के ज्ञानको नाम 'सर्वज्ञान' हे. तासों जीवात्माके ज्ञान मात्रसों सर्वज्ञान कहवेवारे ज्ञानदुर्बलवादी समुझने. अभी के मनुष्यन्कुं ब्रह्मज्ञान नहिं होय ये सन्देहको निराकरण करिवेके अर्थ ज्ञानकी दुर्लभता बतावे हें "सत्ये युगेऽति". सत्ययुगमें हु श्रेष्ठपुरुषन्कुं ब्रह्मज्ञान होवे हे. वेसो ज्ञानभयेसों हु बिलकुल अज्ञानको लय नहिं होय हे.

भक्त्युत्कर्षार्थम् आह स्वप्नः इति.

स्वप्नो जागरणं चैव यथा ह्यन्योन्यवैरिणौ।।
विद्याविद्ये तथा स्यातां नतु सर्वात्मना लयः।।३०३।।

प्रमाणम् आह इदमेव इति.

इदमेव विनिश्चित्य कृष्णो ह्यर्जुनमब्रवीत्।।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।३०४।।
एवकारेण सर्वेषाम् अनुपायत्वमाह हि।।

"ज्ञानी त्वात्मैव मे मत" (भग.गीता७।१८) इति ज्ञानप्रशंसावाक्यं भक्तेः उत्कर्षार्थमेव. "तपस्विभ्योऽधिको योगि" (भग.गीता६।४६) इति अत्र तथानिरूपणात्. "न तथा मे प्रियतम" (भाग.पुरा.११।१४।१५) इत्यत्र

अर्थात् कोई कालमें फिर अज्ञान होय जाय हे. जेसें स्वप्न-जागरण परस्पर वेरी हें. एककुं एक दबायदे हे परन्तु सर्वथा लय नहिं करे हे. तासों पुनः हेतु पायकें कालान्तरमें प्रगट होय जावें हें. एसें ही ज्ञान-अज्ञान ये दोउ मायाके बनाये हें. परस्पर वेरी ही हें. एककुं एक दबाय देवे हे परन्तु बिलकुल लय नहिं कर सके हे।।३०३।।

ये ही निश्चय करके श्रीकृष्णनें अर्जुनसों आज्ञा करी हे "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" (भग.गीता७।१४) अर्थःमेरे ही शरण आवे हें वे मनुष्य या मायाकुं तरें हें "ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्" (भग.गीता७।१०) अर्थःज्ञानी तो मेरी आत्मा ही हे इत्यादि ज्ञानकी प्रशंसाको वाक्य तो ज्ञानकी अपेक्षा हु भक्तिकी उत्तमता जतायवेके अर्थ हे. याहीसों गीताके षष्ठाध्यायमें "तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽऽपि मतोऽधिकः" (तत्रैव६।४६) इत्यादि श्लोकन्में तपस्वी तथा ज्ञानी सों अधिक योगीकुं बतायके, योगीसों हु अधिक भक्तकुं बतायो हे. तथा गीताविस्ताररूप श्रीभागवतमें "न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः" (भाग.पुरा.११।१४।१५) या श्लोकमें भगवान्नें अपने आत्माकी अपेक्षा हु भक्तकुं अधिक प्रिय बतायो हे. यदि ज्ञानसों भक्ति उत्तम नहिं होती तो गीतामें ज्ञानको स्पष्टमेव आत्मनोऽपि माहात्म्यं भक्तस्य. अन्यथा गुह्यत्वेन ज्ञानानन्तरं भक्तिं न वदेत्. तद् आह **एवकारेण सर्वेषाम्** इति.

फलितम् आह **ज्ञानादीनाम्** इति.

ज्ञानादीनां हि सर्वेषां तदधीनत्वतः सदा।।
विश्वासं सर्वतस् त्यक्त्वा कृष्णमेव भजेद् बुधः।।३०५।।

ननु भक्तस्याऽपि अन्ते ज्ञानं पश्चान् मोक्षः इति कुतो न कल्प्यते? न हि आत्मनः अन्यः आत्मीयः प्रियो भवितुम् अर्हति इति आशङ्क्य आह न दृष्टः इति.

उपदेश देके पीछें अठारहवें अध्यायमें "सबन्सों अत्यन्त गुप्त उपदेश सुन" एसें कहिकें "मन्मना भव मद्भक्तो" (भग.गीता१८।६५) "मामेकं शरणं व्रज" (तत्रैव१८।६६)इत्यादि श्लोकन्सों भक्तिको उपदेश नहिंकरते.

"मामेव ये प्रपद्यन्ते" (भग.गीता७।१४) या श्लोकमें एवकारसों "मेरे शरण आयवेकुं छोडके अन्य कोई उपाय नहिं हे" ये जतायके फलित कहे हें 'ज्ञानादीनाम्' इति.

अर्थात् वैराग्य, साङ्ख्य, योग, तप तथा भक्ति ये पांच ज्ञानके पर्व हें. इनमेंसों चार पर्व सिद्ध भये पीछें अभेदकरकें भगवान्में प्रियताकी स्फूर्ति होय, तब भक्तिरूप ज्ञानकी चरमवृत्तिकरके साक्षात्कार होय, तब भगवान् मुक्तिकुं देवे हें इत्यादि क्रममें जितनें साधन हें वे सब भगवान्के आधीन हें. तासों बुद्धिवान पुरुष सब तरफसों विश्वास छांडिके श्रीकृष्णभगवान्को ही सेवन करे. तहां आत्माको सम्बन्धि हु आत्मासों अधिक प्यारो नहिं होय हे. अतः भक्तकुं हु अन्तमें ज्ञान होय हे।।३०४-०५।।

ज्ञानसों मोक्ष होय हे तासों ज्ञानके अर्थ ही यत्न करनों एसी शङ्का भई तहां आज्ञा करें हें "न दृष्ट" इति.

न दृष्टः श्रुतपूर्वो वा भजन् कृष्णमनामयम्।।

न मुक्तः सर्वथा यस्मात् गोप्यो गावस्तथाऽभवन्।।३०६।।

श्रुतपूर्वोऽपि नास्ति. दृष्टोऽपि नास्ति. अनामयं तमसः परं, भूयश्च अन्ते विश्वमायानिवृत्तिः इति तादृशी मुक्तिः 'सर्वथा'पदेन उच्यते. तत्र दृष्टान्तम् आह **गोप्यो गावस्तथाभवन्** इति. "मत्स्वरूपाविदोबलाः" "ब्रह्म मां परमं प्रापुः" (भाग.पुरा.११।१२।१३) इति वाक्यात्।।३०६।।

ननु एवं सति "तमेव विदित्वा" (श्वेता.उप.३।८) इति तं विदित्वैव इति अर्थस्य विवक्षितत्वात् जीवपक्षनिराकरणस्य अनङ्गीकारात् च कथम् एवम् उच्यते? इति आशङ्क्य आह **आपाततः** इति.

आपाततस्तु सर्वेषाम् उपायत्वं मयोदितम्।।
विष्णुः कृपाविशिष्टानां तत्फलं नान्यथा भवेत्।।३०७।।

ये अस्माभिः ज्ञानादयः उपायत्वेन उक्ताः ते लोकानं प्ररोचनार्थं निरूपिताः. तथापि न बाधितार्थत्वम्, भगवत्कृपायुक्तत्वेन तेषामपि फलसाधकत्वात्. वचनन्तु प्ररोचनार्थम्. वस्तुतस्तु कृपैव साधनम्.

कोई एसो जीव सुन्यो हु नहिं हे, देख्यो हु नहिं हे जो गुणातीत श्रीकृष्णचन्द्रकी सेवा करतो भयो सर्वथा मुक्त नहिं भयो होय. क्योंके "ब्रह्म मां परमं प्रापुः" (भाग.पुरा.११।१२।१३) इत्यादि भागवत वचन्में "गोपी गौ पक्षी आदिकहु परब्रह्मरूप मोकुं प्राप्त भये" एसें श्रीकृष्ण आज्ञाकरेहें।।३०६।।

"तमेव विदित्वा" (श्वेता.उप.३।८) इत्यादि श्रुतिमें ज्ञानसों ही मुक्ति लिखी हे. फिर आप केवल भक्तिसों मुक्ति केसें बतावो हो? एसी शङ्का प्राप्त भई तहां श्रीवल्लभाचार्यजी आज्ञा करे हें: हमने ज्ञानादिक मुक्तिके जे उपाय बताये हें वे आपाततः लोकन्के प्ररोचनार्थ बताये हें. तथापि वे उपाय सर्वथा झूठे नहिं हें. भगवान्की कृपावारे जीवन्कुं ज्ञानादिक हु फल देवेवारे हें. स्वतः ज्ञानादिकन्की प्रशंसा तो प्ररोचनार्थ हे. अर्थात् मनुष्यन्की प्रवृत्ति होयवेके अर्थ कीनी हे. यथार्थ बात "तमेव विदित्वा" (पूर्ववत्) इति एवकारो न अन्यथा व्याख्येयः. अतो न आत्मज्ञानं मुख्यफलसाधनम्. "आत्मलाभान् नपरं विद्यते" ( ) "तरति शोकमात्मवित्" (छान्दो.उप.७।१।३) "अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते"(बृहदा.उप.१।४।१०) इत्यादिवाक्येषु 'आत्म'शब्दो भगवद्वाचको, न जीववाचकः. अभेदापासना च स्तूयते, न हि निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते इतिन्यायात्. "नाऽसोमयाजी सन्नयेद्" ( ) इतिवत्. "एकत्वेन पृथकत्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्" (भग.गीता९।१५) इति भगवद्वाक्यात्. अतो मूलज्ञानं साधनं

तो ये ही हे के भगवान्की प्राप्ति होयवेमें भगवान्की कृपा ही साधन हे. ''तमेव विदित्वा'' (पूर्वत्) या श्रुतिके 'एव'कारकी जीवके ऊपर घटायके विपरीत व्याख्या नहिं करनी. अर्थात्, भगवत्कृपासों भगवान्के स्वरूपकुं जानिके मोक्षकुं प्राप्त होय हेह्नएसो ही अर्थ करनों. तासों शरीरस्थित जीवात्माको ज्ञान मुख्य साधन नहिं हे. ''आत्मलाभान् न परं विद्यते''(पूर्वत्) ''तरति शोकमात्मवित्'' (पूर्ववत्) इत्यादिश्रुतिमें 'आत्मा'नाम भगवान्को ही समुझनों, जीवको ग्रहण नहिं करनों. क्योंके जीवप्रकरणमें ये श्रुति नहिं हे, ब्रह्मप्रकरणमें ही ये श्रुति लिखी हे. ''योऽन्यां देवतामुपासते'' (बृहदा.उप.१।४।१०) इत्यादि श्रुतिन्में अभेदोपासनाकी स्तुति कीनी हे. उन श्रुतिन्की भेदोपासनाको निन्दामें तात्पर्य नहिं हे. जेसें ''नासोमयाजी सन्नयेत्'' इत्यादि श्रुतिन्में नित्यानुवाद नहिं हे किन्तु विकल्प हे. एसें भेदनिन्दा हु विकल्पपर्यवसायिनी हे. अर्थात् अभेदकरकें अथवा भेदकरकें उपासना करनी योग्य हे. या विषयमें ''एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्'' (पूर्वत्) ये गीतावाक्य प्रमाण हे. अर्थ:एकत्व मानकें अथवा बहुत्व=पृथक्त्व करकें अर्थात् भेदकरकें अथवा अभेदकरकें बहुत प्रकारकें सब तरफ मुखवारो मे हुं वाकी उपासना करे इत्यादि वाक्य प्रमाण हें. तासों मूल ज्ञान हे सो अभेदज्ञानरूप होयकें मोक्षको साधन नहिं हे किन्तु साक्षात्काररूप होयकें मोक्षको साधन हे. साक्षात्कार होनों तो ''यमेवैषवृणुते'' (कठ.उप.२।२२) इत्यादि श्रुतिमें वरण=अङ्गीकारके आधीन लिख्यो हे. अङ्गीकार करनों भगवान्के आधीन हे. भगवान् प्रेमके आधीन हें.

भवदपि, तावता न भवति इति प्रादुर्भावकरणात् प्रेमैव साधनम् इति निश्चीयते।।३०७।।

अन्येषाम् असाधनत्वे प्रमाणम् आह **यन्नयोगेन** इति.

यन्नयोगेन साङ्ख्येन दानवृततपोध्वरै:।।
व्याख्यास्वाध्यायसन्न्यासै: प्राप्नुयाद् यद्यत्नवानपि।।३०८।।
तस्मात् त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।।
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च श्रोतव्यं श्रुतमेव च।।३०९।।
मामेकमेव शरणम् आत्मानं सर्वदेहिनाम्।।
याहि सर्वात्मभावेन यास्यते ह्यकुतोभयम्।।३१०।।
इत्येकादशसर्वस्वं भगवान् स्वयमुक्तवान्।।

तासों भगवान्के प्रकट होयवेमें प्रेम ही साधन हे ये निश्चय भयो।।३०७।।

प्रेमविना अन्य कोई भगवान्की प्राप्तिमें साधन नहिं होय सके हे या विषयमें श्रीकृष्णके प्रमाणभूत वाक्यन्को वर्णन करे हें "यन्न योगेन" इति. "योगकरके, साङ्खचकरके, ज्ञानकरकें, दान-वृत्त-तप-यज्ञ इन करकें तथा व्याख्या, वेदाध्ययन, सन्न्यास इन साधनन् करकें जाकी प्राप्ति नहिं हे वा मुख्यफलकी प्रेमभक्तिसों प्राप्ति होय हे।।३०८।।

तासों हे उद्धव सब प्रश्नन्कुं छोडके तथा जितने सुनिवेयोग्य पदार्थ हें, जितनें सुनेभये पदार्थ हें उनकों छांडिकें सर्वात्मभावसों मेरे ही शरण आव. अकुतोभयकुं=मोक्षकुं प्राप्त होवेगो"(भाग.पुरा.११।१२।९-११) या प्रकार भगवान्नें उद्धवजीसों सर्वस्व मुख्यतत्व आज्ञा कियो हे.

सब जीव भगवान्की प्राप्ति ही चाहे हें. तासों भगवान् ही फल हें. वे भगवान् ही अपनें मुखसों "योग, दान, याज्ञादिक मेरी प्राप्तिके उपाय नहिं हें" या प्रकार निषेध करे हें तब यज्ञादिक भगवान्की प्राप्तिके उपाय हें या प्रकार अन्य पुरुषको वचन वृथा समुझनों.

आत्मानं हि स्वयं वेद तस्माद् अन्यवचो मृषा।।३११।।

वाक्यत्रयम्. साङ्खचं ज्ञानशास्त्रम्. ननु विहित-विनिषिद्धत्वाद् विकल्पो भवतु, नतु असाधकता इति आशङ्क्य आह **इत्येकादशसर्वस्वम्** इति. भगवानेव फलम् इति. स चेत् स्वोपायं, तत् न भवतीति निषेधति तदा अन्यवाक्यं मुधा. तुल्यबलत्वे हि विकल्पः. भगवतश्च फलत्वं भगवद्वाक्यादेव अवसीयते. "मत्तःपरतरं नान्यद्" (भग.गीता७।७) इत्यादिभिः. तस्माद् ज्ञानादीनां न साधकत्वम्।।३११।।

ननु वेदाअपि भगवद्वाक्यमेवेति श्रुति-स्मृतिविरोधे श्रुतिः बलिष्ठेति कथं ज्ञानस्य न साधकत्वम्? तत्र आह **कर्मयोगादयः** इति.

कर्मयोगादयः सर्वे कृष्णोद्गमनहेतवः।।
उदासीनतयोद्भेदान् नहि सर्वात्मना फलम्।।३१२।।

तात्पर्य ये हे: योगादिक सब साधन भक्तिके हे. भक्ति भगवत्प्राप्तिको साधन हे. तहां योग, ज्ञान, भक्ति आदिकन्मेंसो कोई साधन कियो जाय तो मोक्ष होय या प्रकारको विकल्प तो नहिं बन सके हे. क्योंके दोउ वाक्य समान बलवारे होंय तहां विकल्प होय हे. यहां तो ये भगवान्को वाक्य सबसों प्रबल हे "मत्तः परतरं नान्यत्" अर्थ:मोसों पर अधिक श्रेष्ठ कोई नहिं हे इत्यादिक श्रीमुखके वाक्यन्सों भगवान् ही फल हें ये निश्चय होय हे. तासों ज्ञानादिक मोक्षके साधक नहिं हें।।३११।।

शङ्का:वेद हु भगवान्को वाक्य हे. श्रुति-स्मृतिन्में परस्पर विरोध होय तहां श्रुति बलवान होय हे. तब श्रुतिको बतायो ज्ञान मोक्षको साधन क्यों नहिं होय सके?

उत्तर: भगवान् अपनों वेदवाक्य सत्य करिवेके अर्थ कर्म, ज्ञान, योग आदि साधनन्सों हु प्रकट होवे हें. परन्तु निर्बद्ध करकें प्रकट होवे हें. जेसें लोकमें कोई पुरुष चक्रवर्तीराजाकुं अपने गृहमें राजनीतिके

भगवान् स्ववाक्यसत्यत्वाय कर्मयोगादिष्वपि प्रकटो भवति, परं निर्बन्धेन. यथा महान् लौकिकः. अतः उदासीनतयोद्भेदात् सर्वथा मुख्यं फलं न प्रयच्छति।।३१२।।

भक्तौ विशेषम् आह **भक्तौ** इति.

भक्तावत्यादरेणैव प्रकटो जायते हरिः।।
आत्मानं च ततो दद्यात् सुखे का परिदेवना।।३१३।।

सुखे स्वरूपानन्दे दृष्टान्तेन तारतम्यं बोधयति **सहनम्** इति.

अनुसार पधरानों चाहे तब तो वा ही रीतिसों यथायोग्य साङ्गोपाङ्ग सब साहित्य कर्यो जाय तब चक्रवर्तीराजा हु अपनें करेभये राजीनीतिके क्रमके अनुसार ही वा पुरुषके गृह पधारे हे. ओर जितनें समय वहां रहिवेको नियम होय वितनें समय ही वाके गृहमें बिराजे हे. ओर राजक्रमके अनुसार जितनों फल नियत हे उतनों ही फल वाकुं दे हे. वासों अधिक फल नहिं देवे हे. याही प्रकार यज्ञ-ज्ञानादिकसों भगवान्

प्रकट होवे हें. तब उनके अनुसार ही फल देवे हें. वासों अधिक मुख्यफल नहिं देवे हें. क्योंके इच्छा होय-न-होय उदासीन होयके वेदमर्यादाकी रक्षा करिवेके अर्थ पधारिकें वितनोंसो फल देवे हें. या कथनसों प्रमाणबलको विचारके ज्ञान साधक हे तोहु प्रमेयबल विचारकें साधक नहिं होय सके हे ये बात जातई.

भक्तिमार्गमें विशेषताको वर्णन करें हें. जेसें चक्रवर्तीराजा अधिक प्रेम देखिकें कोई पुरुषके गृह पधारें हें तब तो अपनी इच्छा अनुसार जितनो फल देनो चाहें वितनों दे हें. स्नेहके वश होयकें राज्य हु दे दे हें. एसे ही भक्ति=मानसिक प्रेमप्रवाहसों तो बडे आदरसों भगवान् प्रकट होवे हे. ''स्मरतः पादयुगलम् आत्मानमपि यच्छति'' (भग.पुरा.१०।८०।११) इत्यादि वाक्यानुसार अपने वियोगके कारण जो भक्तकुं दुःख होय वाकु नहिं सहते भये करुणासों अपने आत्माकुं हु भक्तके अर्थ दे दे हें. तब स्वरूपानन्द देवेमें कहा परिवेदना हे

सहनं खननं गङ्गातीरस्थितिवदेव तत्।।

साङ्ख्यो योगस्ततथा भक्तिः तत्र प्रेमातिसौख्यदम्।।३१४।।

ज्ञानमार्गे दुःखे समागते तन्निवृत्तिः सहनप्राया. यथा तृषायां सहनं उपायः. योगस्तु खननप्रायः. भक्तिस्तु गङ्गातीरस्थितिरूपा, दुःखनिवर्तकस्य प्रकटत्वात्. तत्रापि प्रेमसम्भवे गङ्गा स्वयम् उद्यम्य पाययति. तथा भगवान्।।३१२-१४।।

ननु हीनभावं फलात्मा महान् कथं गच्छेत्? तत्र आह **पिता चरेद्** इति.

दृष्टान्तकरके हु ज्ञान, योग, भक्ति इनसों तारतम्य दिखावें हें. जेसें जलकी तृषा बाधा करती होय तब वाकुं सहके वाकी निवृत्ति करी जाय एसें ज्ञानमार्गमें ज्ञानीकुं दुःख प्राप्त होय तब दुःख देहादिकन्कुं होवे हे, आत्मा तो निर्विकार हे, वाकुं दुःख नहिं हे इत्यादि ज्ञानकरके दुःख सह लेनो ही ज्ञान मार्गमें दुःख दूर होवेको उपाय हे.

जेसे जब तृषा लगे तब कुवा खोदनों प्रारम्भ कियो जाय एसें योगमार्गमें जब दुःख होय तब योगी योगके साधन करनों प्रारम्भ करे हे. जब साधन सम्पूर्ण होंय तब भगवान् प्रकट होयकें दुःखनिवृत्तिकरेहें.

जेसे जो पुरुष श्रीगङ्गाजीके तीरपें जलके समीप ही बेठो हे वाकी तृषाकी निवृत्ति जलपान करकें शीघ्र ही होय जाय हे या प्रकार भक्तिमार्गमें तो दुःख दूर करिवेवारे भगवान् सदा प्रकट ही रहे हें. दुःख होते ही दूर करदें हें. जेसें अत्यन्त प्रेम होय तो श्रीगङ्गाजी स्वयं देवी रूप धारकें जल पीवावें हें तेसें भगवान् हु प्रेमवारे भक्तके दुःख दूर करके सुख दे हें।।३१४।।

तहां भगवान् फलरूप हें, सबन्सुं बडे हें, भक्तकुं सुख देवेके अर्थ हीन भावकुं क्यों प्राप्त होवे हें, जेसें अर्जुनके दुःख दूरी करिवेके

पिता चरेद् यथा बाले सुखं भक्ते तथा हरिः।।

प्रेम्णैव सेवितोऽत्यर्थं गोपीनां कामदो यतः।।३१५।।

स्नेहमार्गे हीनभावो न दोषाय. लौकिकपरम् एतद् इति न मन्तव्यम्. यतो भगवान् प्रेम्णा गोपीभ्यः अदेयमपि कामं दत्तवान्. न च लौकिकन्यायःतत्र, पूर्णकामत्वात्. न हि स्वतः इच्छारहितः कोऽपि एवं प्रयच्छति।।३१५।।

ननु प्रेम दृष्टे भवति. सर्वथा अदृष्टे कथं प्रेम? इति आशङ्क्य दर्शनोपायम् आह अच्छिद्रसेवनात् इति.

अच्छिद्रसेवनात् चैव निष्कामत्वात् स्वयोग्यतः।।

द्रष्टुं शक्यो हरिः सर्वैर् नान्यथा तु कथञ्चन।।३१६।।

अर्थ सारथी भावकुं प्राप्त भये? एसी शङ्का तो नहीं करनी. क्योंके जेसे पिता जा प्रकार बालककों सुख होय वेसें ही आचरण करे हे. अपने हीन भावकुं नहीं विचारे हे. एसें भगवान् हु भक्तकुं सुख होय तेसें ही चरित्र करे हे. या प्रेमके मार्गमें हीनभाव दोषकारी नहिं हे. तासों सारथी होनों तथा दूतभावको ग्रहण करनों भगवान्के भक्तवत्सलता, करुणा आदि गुण जतायवेवारो हे. या हीनभावके आश्रयकुं लौकिकपर नहीं माननों. यासों भवगान् प्रेमसों गोपीनकुं अदेय अर्थात् नहीं देवेलायक एसे कामकुं देते भये लौकिक पुरुष जेसें कामके वश होयकें स्त्रीन्में प्रवृत्त होय हे वा प्रकार भगवान् नहिं प्रवृत्त भये हें. क्योंके आप तो पूर्णकाम हें. प्रेमकरके सेवित भगवान् गोपीन्कुं कामके देवेवारे हें. लौकिक पुरुषकी ये सामर्थ्य नहिं हे के स्वयं इच्छारहित होयकें कामकुं दे सकें।।३१५।।

तहां ये शङ्का होय हे. देखे भये पदार्थन्में प्रेम होय हे. भगवान् तो कभी देखे नहीं हें. उनमें प्रेम केसे होय? या शङ्काकुं दूर करिवेके अर्थ भगवान्के दर्शनको उपाय वर्णन करें हें.

सब कामना छोडके अपनी योग्यताके अनुसार निरन्तर सेवा

दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन-केन-चित्।।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः।।३१७।।

सेवनं स्वयोग्यानुसारेण. नतु अल्पं बहु वा प्रयोजकम्. तत्र बहिःसाधनम् आह **दयया** इति।।३१५-३१७।।

विशेषोपायम् आह **श्रृण्वन्ति** इति.

श्रृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।।
तएव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहो परमं पदाम्बुजम्।।३१८।।
अन्तर्बहिः साधनयोः स्वरूपं परिकीर्तितम्।।
प्रकारश्चाप्ययं प्रोक्तो दर्शने नान्यथा तु तत्।।३१९।।

श्लोकत्रयस्य अर्थम् आह **अन्तर्बहिः** इति।।३१८-१९।।

इतोऽपि उत्तमं दर्शनोपायम् आह **सर्वापेक्षा** इति.

सर्वापेक्षापरित्यागात् पौरुषस्य सभाजनम्।।

करिवेसों भगवद्दर्शन होवे हें. सेवाके विषयमें अल्पता तथा अधिकता प्रयोजक नहिं हे. बाहिरके साधनन्को वर्णन करें हें. सम्पूर्ण भूतन्में दया करिवेसों, धर्मके अनुसार जितनों प्राप्त होय वितनेंमें ही सन्तोष करलेवेसों तथा सब इन्द्रियन्की शान्ति करके जनार्दन भगवान् शीघ्र ही सन्तुष्ट होवे हें।।३१५-३१७।।

भगवान्के दर्शन होयवेको विशेष उपाय वर्णन करे हें. कुन्तीने भगवान्की स्तुति करी हे "जे मनुष्य आपके चरित्रकुं सुने हें, तथा गावे हें, परस्पर वर्णन करें हें, वारंवार स्मरण करे हें तथा चरित्रन्की प्रशंसा करते रहे हें वे भक्त शीघ्र ही संसारप्रवाहके मेटवेवारे चरणारविन्दके दर्शन करें हें. एसें बाहिर-भीतरके साधनन्को

स्वरूप दिखायो. ये प्रकार भगवान्के दर्शनको वर्णन कियो. या विना अन्य प्रकारसों भगवद्दर्शन नहिं होय हे।।३१८-१९।।

यासों हु दर्शनको उत्तम उपाय वर्णन करें हें. सब प्रकारकी

आसक्त्या भगवद्भक्तैः परं दर्शन साधनम्।।३२०।।

"येऽन्योऽन्यतो भागवतः प्रसज्य" (भाग.पुरा. ३।२५।३४) इति अत्र निरूपयिष्यते. ननु कपिलेन भगवदवतारेण निरूपितः कथं न उपायः? तत्र आह **कपिलादिः** इति.

कपिलादिर् महायोगी पूर्वं येनोपलब्धवान्।।
तं प्रकारमिहोवाच पाक्षिकं तद्धि साधनम्।।३२१।।

न ज्ञायते भगवान् तत्र केन हेतुनिमित्तेन देवहूत्यै मुक्तिं दत्तवान्? परं लोके तत् साधनं प्रकटितवान्. पुष्टिमार्गप्रकारेषु तस्याअपि प्रवेशः. परं पाक्षिकं साधनम्. कथं पुष्टिमार्गः? इति आकाङ्क्षायां तन् निरूपयति **राजवद्** इति.

राजवत् कुत्रचित् कृष्णः कस्यचित् केनचित् फलम्।।

अपेक्षा छोडकें भगवान्के चरित्रन्को सभाजन=प्रशंसापूर्वक गद्गदकण्ठ होयकें वर्णन करें हें वे भक्त प्रसन्नहाससहित नेत्रवारे मुखारविन्दके दर्शन करें हें. तथा भगवान्के साथ मनोहर वार्ता हु करें हें. ये उपाय तृतीय स्कन्धमें "येऽन्योऽन्यतो भागवताः प्रसज्य" (भाग.पुरा.३।२।३४) या श्लोकमें वर्णन कियो हे।।३२०।।

भगवान्के कपिलावतारनें जो साङ्ख्य निरूपण कियो हे वो उपाय क्यों नहिं हे? तहां कहें हें:कपिलादि महायोगी जा उपाय करकें भगवान्कुं प्राप्त होते भये वा प्रकारको यहां वर्णन कियो हे. परन्तु वो प्रकार हु पाक्षिक साधन हे, नित्य नहिं हे. क्योंके कपिलदेवजीनें आठ अध्यायन्सों आठ मतको वर्णन कियो. आगे देवहूतीकी मुक्तिको वर्णन कियो. अब यहां ये नहिं ज्ञात होय हे के इन आठ उपायन्मेंसों कोन निमित्त करके देवहूतीकों मुक्ति दीनी हे. पुष्टिमार्गके प्रकारन्सों देवहूतीकी मुक्तिको हु प्रवेश हे।।३२१।।

वहां केसे पुष्टिमार्ग हे? एसी आकाङ्क्षा भई तहां निरूपण करेहें

ददाति तावता नित्यं सर्वत्रेति न निश्चयः।।३२२।।

प्रेम्णा सेवा तु सर्वत्र सेव्यवश्यत्वसाधनम्।।

किञ्चिद्भक्तियुतश्चेत् स्यात् योगादिः साधनंक्वचित्।।३२३।।

राजा कदाचिद् भार्यामपि सेवकेन मारयति. न एतावता सा महतामपि धृष्या भवति. तथा प्रेमापि भविष्यति? इति आशङ्क्य आह **प्रेम्णा सेवा** इति. लोके वेदे च प्रेम्णा सेवायां क्रियमाणायां सेव्यो वश्यो भवति. किञ्च, योगादीनां साधकत्वं च प्रेमसम्बन्धात्.

सम्पूर्णेन वेदमार्गेणाऽपि एतत् न भवति इति वक्तुं काण्डद्वयार्थम् अनुवदति **सर्वं ब्रह्मात्मकम्** इति.

जेसें चक्रवर्ती राजा अपनी इच्छानुसार कोई पुरुषकों कोई साधनसों फल दे हे, कोई पुरुषकुं कोई साधनों फल दे हे एसें परम स्वतन्त्र श्रीकृष्ण जा साधनसों मुक्ति देवेकी इच्छा होय वा साधनसों ही मुक्ति दे हें. राजा सेवकसों हु कभी अपनी रानीकुं ताडना करवावे हे. तासों अन्य बडे पुरुष रानीकुं धर्षणा नहीं दे सकें हें. प्रेम तो(???) राजभार्याके तुल्य ओर साधनकरके पीडित नहिं होय सके हें. क्योंके लोकमें तथा वेदमें प्रेमकरके सेवा करिवेसों सेव्य-स्वामी अवश्य प्रसन्न होवे हे.

वेदमें माहात्म्यको पूर्वकाण्डमें निरूपण करकें ‘‘तत्त्वमसि’’ इसीत्यादि महावाक्यमें अभेदको प्रतिपादन करके निरुपाधिक प्रेममें ही अभिप्राय जतायो हे. ये बात ही ‘‘भगवान् ब्रह्मकात्स्र्क्येन’’ (भाग.पुरा.२।२।३४) यामें निरूपण करी हे. तासों अन्य साधन जेसें पाक्षिक हें अर्थात् भगवान् इच्छा होय जा साधनसों मुक्ति दें, इच्छा होय जासों नहिं दें एसें प्रेम पाक्षिक साधन नहिं हे. अर्थात् प्रेमसों तो अवश्य भगवान् प्राप्त होवे ही हें. यागादिक हु प्रेमसहित ही फल दे हें.

सम्पूर्ण वेदमार्गसों हु ये नहिं होय हे ये जातयवेके अर्थ दोउ

सर्वं ब्रह्मात्मकं जानन् कर्म चापि तथाऽऽचरन्।।

पञ्चकर्मविधानेन षोढाऽपि प्रकटः सदा।।

निर्बन्धेन फलत्येष नच भक्त्या यथा तथा।।३२४।।

तथापि निर्बन्धेनैव फलति, वाक्यानुरोधात्. लोकोऽत्र नियामकः।।३२०-२४।।

षट्पदार्थ-षोडशपदार्थज्ञानात् निःश्रेयसाधिगम इत्यादिऋषिवाक्यानां का गतिः? इति आह **कणादादिमुनिश्रेष्ठाः** इति.

कणादादिमुनिश्रेष्ठाः शुक्रमोहितबुद्धयः।।
वृथाशास्त्रकलापं हि जगुस्तेन न चान्यथा।।३२५।।

दैत्यानाम् अर्थे शुक्रेण ऋषयो विमोहिताः. मोहदशायां च शास्त्राणि कृतवन्तः. अतो वेदविरुद्धत्वाद् भ्रान्तकृतित्वात् च न तानि प्रमाणानि।।३२५।।

काण्डन्के अर्थको अनुवाद करें हें "सर्वं ब्रह्मात्मकम्" इति. जगत्कुं ब्रह्मात्मक जानकें वेदोक्त कर्मकुं मरण पर्यन्त करतो रहे तब पश्चकर्मके विधानसों अग्निहोत्रादि षट्प्रकारसों प्रकट भये भगवान् बडे हठ करकें फलदायक होवे हें. वेदवाक्यके अनुसारसों ये ही निश्चय होय हे. या वाक्यमें लोक नियामक हे।।२२४।।

न्यायशास्त्रमें षट्पदार्थके ज्ञानसों मोक्ष होय तथा षोडश पदार्थके ज्ञानसों मोक्ष होय इत्यादि ऋषिन्के वाक्यकी कहा गति हे? तहां उत्तर दे हें 'काणादादिमुनिश्रेष्ठा' इति.

दैत्यन्कुं सन्मार्गसों विमुख करिवेके अर्थ शुक्राचार्यजीने काणादादि ऋषिन्कुं मोह करायो. तब शुक्रमोहित ऋषिन्नें मोहदशामें न्यायशास्त्रादिक बनाये. तासों भ्रान्तन्के बनाये वेदविरुद्ध न्यायादिकशास्त्र प्रमाण नहिंहें।।३२५।।

एवं सर्वं निरूप्य प्रेमभक्तिमार्गम् उपसंहरति **प्रेम्णोऽन्यद्** इति.

प्रेम्णान्यत् साधनं लोके नास्ति मुख्यं परं महत्।।
श्रीभागवतमेवात्र परं तस्य हि साधनम्।।३२६।।

रुच्यादिना जातं प्रेम दोषदर्थनात् निर्वतर्ते. दोषश्च शास्त्राभावे लोकदृष्ट्या भवति. अतः श्रीभागतमेव सर्वशास्त्रार्थनिर्धारकं सर्वमाहात्म्यज्ञापकं प्रेमोत्पादकं भवति. "यस्यां वै श्रूयमाणायाम्" (भाग.पुरा.१।७।७) इति "लोकस्याजानतो" (भाग.पुरा.१।७।६) इति वाक्यात्।।३२६।।

तत्र लोके भागवतश्रोतृणां प्रेमाभावं दृष्ट्वा न श्रवणं साधनम् इति आशङ्क्य विशेषम् आह **अधिकारम्** इति.

अधिकारम् अभिप्रायं ज्ञात्वा भक्तमुखेन हि।।
सकृत् श्रवणमात्रेण कृष्णे प्रेम भवेद् ध्रुवम्।।३२७।।

या प्रकार सब पदार्थको निरूपण करकें भक्तिमार्गको उपसंहार करें हें 'प्रेम्णोन्यद्' इति. लोकमें प्रेमसों बडो मुख्य अन्य साधन नहिं हे. मनकी रुचिकरके भयो प्रेम दोष देखिवेसों निवृत्त हो जावे हे. भगवान्के विषयमें शास्त्र सुने-पढे विना लोकदृष्टिसों दोषन्की सम्भावना होवे हे तासों वा दोषदृष्टि मिटवेके अर्थ शास्त्रको श्रवण-पठन करनों. तहां सर्वशास्त्रन्को निर्द्धार करिवेवारो, भगवान्के सर्वमाहात्म्यको जतायवेवारो, प्रेमको प्रकटकरिवे वारो श्रीमद्भागवतशास्त्र हे. "यस्यां वै श्रूयमाणायाम्" (भाग.पुरा.१।७।७) "लोकस्याजानतो विद्वान्" (भाग.पुरा.१।७।६) इत्यादि वाक्यन्में भागवत श्रवणसों भक्ति उत्पन्न होनों स्पष्ट लिख्यो हे।।३२६।।

अभी लोकमें भागवत सुनवेवारेन्के हृदयमें प्रेम प्रकट होतो नहिं देखिके भागवतको श्रवण प्रेमको साधन नहिं हेह्नएसी शङ्का होय ताको उत्तर देते भये भागवत श्रवणकी विशेष रीति दिखावें हे 'अधिकारम्'इति.

भागवत सुनिवेके तीन अङ्ग हें. १.भागवतके तात्पर्यको आछी रीतिसों ज्ञान होनों चहिये २.भक्तमुखसों श्रवण होनों चहिये तथा

श्रवणस्य अङ्गत्रयं १.भागवतस्य सम्यक् तात्पर्यज्ञानं, २.भक्तमुखात् श्रवणं, ३.श्रोतुश्च वैराग्यम् इति. एतदभावे न फलति इति आर्थः.

इतोऽपि उत्तमाधिकारे भागवतैकदशेनापि भक्तिर् भवति इति कैमुतिकन्यायेन आह **विरक्तः** इति।।३२८।।

विरक्तो विपरीतादिभावनारहितः सुहृत्।।
लीलामात्रश्रुतौ तस्य भवेत् प्रेमाखिले किमु।।३२८।।

सर्वथा लोकेषु विरक्तो, भागवतोक्ते असम्भावना-विपरीतभावनारहितः, तीर्थादिना शुद्धान्तःकरणः विदुरतुल्यः, ततोऽपि अधिको वा उद्धवतुल्यः. तस्य लीलामात्रश्रुतावपि भक्तिः भवति. अतो मुख्याधिकारे सम्पन्ने भागवतश्रवणे भक्तौ न कोऽपि सन्देहः।।३२८।।

ननु एवं सति भवतः कोपयोगः? तत्र आह **श्रीभागवततत्त्वार्थम्** इति.

श्रीभागवततत्त्वार्थम् अतो वक्ष्ये सुनिश्चितम्।।
यज्ज्ञानात् परमा प्रीतिः कृष्णं शीघ्रं फलिष्यति।।३२९।।

३.सुनिवे वारेके हृदयमें वैराग्य होनो चहिये.

पूर्वोक्त अधिकारीसों हु उत्तम अधिकारीकुं तो भागवतके एक देशके सुनिवेसों ही भक्ति होय जाय हे. लोकन्में सर्वथा जो विरक्त होय, असम्भावना-विपरीतभावना करिके रहित होय, सर्व जगत्कों सुहृद् होय, तीर्थादिक सेवनसों शुद्ध जाको अन्तःकरण होय, जेसे विदुर तुल्य होय, अथवा वासों हु अधिक उद्धव तुल्य होय वेसे भक्तकुं लीला मात्रको श्रवण करके भक्ति उत्पन्न होयवेमें कोई सन्देह नहिंहे.

तहां आपको कहा उपयोग हे? या शङ्काको उत्तर देत हें.

तहां श्रीभागवतको अर्थ नहिं जानिवे सों अथवा विपरीत अर्थ जानिवेसों अधिकार होय तथापि श्रवणसों हु भक्ति नहीं होय. तासों श्रीभागवतके तत्वार्थको विवेचन तीसरे भागवतरूप प्रकरणमें कियो जायगो.

भागवतार्थे अज्ञाते अन्यथाज्ञाते च भक्तिः नभवति इति. अधिकारेऽपि जाते फलं न भविष्यतीति मया उपायः क्रियते. तत्वार्थो विविच्य उच्यते. यस्मिन् ज्ञाते सर्वथा भक्तिः भवत्येव. नापि जाता भक्तिः तूष्णीं तिष्ठति. तादृशी भविष्यति या लतावत् प्रत्यहं वृद्धिम् आयान्ती, शीघ्रं कृष्णाख्यं फलं फलिष्यति. अतो भक्तीच्छयां सर्वथा एतद् अनुसन्धेयम् इति ग्रन्थारम्भः समर्थितः।।३२९।।

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिते श्रीभागवतत्वदीपे
सर्वनिर्णयकथनं नाम द्वितीयं प्रकरणम्।।

जाके ज्ञानासों भक्ति उत्पन्न होय फिर उत्पन्न भई भक्ति वेसी ही स्थिर नहीं रहे किन्तु प्रतिदिन बढती भई शीघ्र ही श्रीकृष्णरूप फलकुं प्राप्त कराय दे हे. तासों भक्तिकी इच्छा होय तो सर्वथा श्रीभागवतरूप प्रकरणको सर्वदा अनुसन्धान करते रहनों योग्य हे. इतने कथन करके तृतीय प्रकरणको आरम्भ समर्थन कियो।।३२९।।

इति श्रीमद्गोस्वामिरणछोडात्मज–जीवनाचार्यविरचिते सतीपुरस्थ–
विप्र–वंशीधरात्मज–पण्डितगोकुलेशदासप्रकाशिते
सुलोचनाख्य–व्रजभाषाव्याख्याने सर्वनिर्णयाख्यं
द्वितीयं प्रकरणं सम्पूर्णम्